प्रगतिवाद की रूप-रेखा

लेखक

शिवचन्द्र

किताब महल

इलाहाबाद

मूल्य ५)

वक्तव्य

साम्यवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद और जीवन की अभिव्यक्ति ये प्रगतिवाद की पृष्ठभूमिका की विवेचित सामग्रियाँ हैं। अतः इन पर भी विचार किया गया है। यद्यपि इनका साहित्य की अपेक्षा राजनीतिक वातावरण में अधिक महत्त्व है, फिर भी प्रगतिवाद की रूप-रेखा स्थि[illegible] करने में इनका विशेष हाथ है।

'प्रगतिवाद : शेष अध्ययन' नाम की दूसरी पुस्तक की मैं सामग्रियाँ एकत्रित कर रहा हूँ। उस पुस्तक में प्रगतिवाद का प्रारम्भ एवं उसके आन्दोलन तथा उसकी व्यापकता आदि गम्भीर विषयों पर प्रकाश डाला जायगा। गद्य-साहित्य में जो उसकी प्रगति (विकास) है, उसकी भी विवेचना होगी। उसमें चेष्टा की जायेगी, उन सम्पूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति हो जाय जो प्रगतिवाद के मुख्य अंग हैं।

पाटलिपुत्र, कार्त्तिक, २००३ — शिवचन्द्र

समर्पण

श्री डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री,
पी-एच० डी०, को, जिनकी
प्रेरणाओं ने मुझे अध्ययन
की ओर उन्मुख
किया।

शिवचन्द्र

विषय-सूची

साम्यवाद : विविध दृष्टिकोण

साम्यवाद का साधारणीकरण

समभावना के प्रचार की दृष्टि से साम्यवाद की आवश्यकता समझी गई। समवेतर प्रकृति-चित्रों के निर्माण में सहयोग देने वाले व्यक्तियों को साम्यवाद का प्रचार अपने मार्ग का रोड़ा प्रतीत हुआ। वर्गीकरण को प्रश्रय देने के पक्ष में वे थे, परन्तु शोषित, दलित जनता को जब अपनी मूकता पर झिझक और क्षोभ उत्पन्न हुआ, तब वे परिणाम में अधिकार की माँग के लिए उद्यत हुए। एड़ी से चोटी तक पसीने बहाने की कीमत चुकाने के लिए संघर्ष का आश्रय ले; अग्रसर होने लगे। यही संघर्ष, उच्च शिष्ट पद पर आसीन सभ्यों को भयभीत करने लगा। पर इस संघर्ष के भय से वे बहुत अधिक नहीं विचले। इतना अवश्य हुआ कि निम्नों की तात्कालिक माँग की आंशिक पूर्त्ति हो गई। किन्तु इस अल्प पूर्त्ति पर उन्हें सन्तोष न हुआ। जाड़े में अभाव के कारण अपने शिशुओं, मातायें, बहनों, पत्नियों, मित्रों को अकारण बिना किसी अपराध के काल-कवलित होते देखते। सतत, अनवरत परिश्रम के परिणाम में अन्न का सभ्यों के यहाँ ही उपयोग-दुरुपयोग देखते, और स्वयं इसके अभाव में पंचत्व को प्राप्त होते। इन्हीं सब दृश्यों पर बहुत काल तक जब उनकी आँखें ठहरी रहीं तो उन्हें थोड़ी देर के लिए अपने आप पर सोचने का अवसर मिला। तदनन्तर निम्न, मध्य शब्दों का समूल अन्त करने का प्रयत्न किया, पर अधिक सफलता इसलिए नहीं मिली कि बड़ी शीघ्रता में कार्य आरम्भ हुये, सोच-विचार कर निष्कर्ष पर पहुँचे बिना, साधन की सीमा पर बिना दृष्टि डाले, उत्तेजना, क्षणिक आवेश के वशीभूत हो उचित से ज्यादा आगे बढ़ गये। अस्तु, इसी समय समभावना की उपज हुई। थोड़ी मस्तिष्क-शक्ति रखने वालों ने निम्न कोटि में रहने वाले बुद्धि-रहितों के हितार्थ रचनात्मक कार्य की प्रणाली बनाई। साम्य-भावना, सर्व-हितार्थ घोषित हुई। भारत में इस भावना के आविर्भाव ने संरक्षकों को सजग कर दिया। फलतः निम्नों को माँग के ज्ञान से वंचित रखा गया, पर साम्य का किसी भी तरह उन्हें अर्थ विदित हो गया। गर्दन ऊपर उठाने की हिम्मत न हुई, किन्तु आत्मिक-बल को वे मापने अवश्य लगे। बाहर विदेशीय प्रान्तों में जहाँ साम्राज्यवाद का प्रभाव था, ऐसी ही दशा थी। किन्तु सदियों से चली आती हुई पीड़ा सहने की परम्परा से ऊब कर रूस के निम्नों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध साम्यवाद का

बिगुल फूँका, और आहुतियों के आधार पर साम्यवाद की नींव डाली। साधारण जनता में साम्यवाद का यही अर्थ है कि बराबर की भावना, वर्ग का अन्त, बड़ों-छोटों को एक में गूँथने का सबल-स्तम्भ। हम-तुम के अर्थ का अन्त। परन्तु राजनीति की चादर में आच्छादित रहने के कारण इसकी वास्तविकता अधिक न सिद्ध हो सकी। वर्त्तमान परिस्थितियों ने साम्यवाद को राजनीति का विशेष अंग बना दिया, परन्तु जहाँ तक इसका साहित्य के साथ सम्बन्ध है, राजनीति की सतरंज वाली चाल की यहाँ जरूरत न थी। साम्यवाद के साधारण शब्दिक अथ से ही जनता को परिचय कराया जाता तो अच्छा होता। रूस के सिद्धान्त में यह भी एक विशेष रूप से ग्राह्य है कि जनता को राजनीति के भी सब अधिकार प्राप्त करने होंगे। परन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता न मिल सकी। व्यावहारिक कार्मों में राजनीति का विशेष चातुर्य अनुचित है। मजदूर या इस श्रेणी के निम्न-व्यक्ति के अभाव शायद यह किसी भी दशा में कहने को वाध्य नहीं होते कि हम सर्व विषयक कार्य पूर्त्ति के लिए राजनीति को सम्बल मानकर आगे बढ़ें! हाँ, इसका ज्ञान, अपच नहीं कर सकता। किन्तु इसकी अव्यावहारिक नींव पड़ी तो शत्रुओं के युद्ध में पराजय स्वीकार करनी होगी।

साम्यवाद में रोटी के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिये। इन्हें-उन्हें ही नहीं, हमें भी रोटी मिलनी चाहिये। इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। साम्यवाद का यहाँ समाजवादी यह सिद्धान्त सर्वथा उचित हो सकता है, पर उसके प्रयोग के कई प्रकार में अन्तर होना चाहिये। बराबर की भावना में रोटीवाली समस्या बड़ी गम्भीर, किन्तु संयम को लेकर ही पृथक महत्वपूर्ण हो अपने स्थान पर खड़ी है। साम्य-सिद्धान्त में वह बाहुबल लेकर खड़ी रहती है। यदि इसका विकट, किन्तु गम्भीर समस्या न रहती तो शायद साम्य की स्थिति पूर्व से ही सुधरी होती, उसके लिए इस समय कुछ नहीं करना होता। कुर्सी पर बैठने और विजली-पंखा की हवा से शान्ति प्राप्त करने वालों के विरुद्ध बेचारे निम्नों को अपनी आवाज बुलन्द नहीं करनी होती। द्वैध-भावना की समाविष्टि भी कदाचित ही होती। क्रान्ति करने वाले निम्नों को जब तक अपने सीमित ज्ञान के अधिकार प्राप्त थे, तब तक अपने आपके लिए उन्हें कुछ करने को न सूझा। निम्न से थोड़ा ऊपर उठा हुआ पढ़ा-लिखा वर्ग जो अभी बहुत अपूर्ण है, निम्न को अपने अधिकार का ज्ञान कराने के अनेक व्यर्थ प्रयत्न कर रहा है। साहित्यिक-वर्ग अपनी विशिष्ट रचनाओं द्वारा भी उन्हें ज्ञात-परिज्ञात कराने का असफल प्रयास कर रहा है। साहित्य ही एकमात्र इसका साधन

नहीं। हाँ, आँगिक साधन भले ही सिद्ध हो सकता हो। परन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि गोर्की, टाल्सटाय आदि के अतिरिक्त लेनिन, मार्क्स, एन्जिल्स, स्तालिन की भी आवश्यकता या व्यापकता है। नेतृत्व करने की शक्ति की पूर्ण योग्यता रहनी चाहिये। यह तो अभी दूर ही है कि रूस का साम्यवाद भारत के लिए हितकर या अहितकर है। जो भारतीय हिन्दी-साहित्यिक, वर्गिक-साहित्य-सर्जना में निमग्न हैं, उन्हें अपने साहित्य के आकार-प्रकार पर भी सोचना चाहिये। सिर्फ रोटी को सीमा में बाँध कर, साहित्य को उसी की पूर्णता में रखने का यह अभिप्राय हुआ कि उसके स्वाभाविक विस्तार को अवरुद्ध कर दिया गया। साहित्य सिर्फ एक के लिए नहीं है, वह सामूहिक चेतना की जागृति का ही अपना प्रयास करेगा। अन्यथा की ओर वह अग्रसर होगा, तो अपनी लक्ष्य-सिद्धि को प्राप्त न कर सकेगा। उसकी स्वाभाविक क्रिया की गति में बल नहीं रहेगा। चेतना, जीवन का प्रतिष्ठान कदाचित ही कर पाये। निम्नों, मध्यों, उच्च, शिष्टों की चेतना या जीवन को एक में गूँथने का यदि उसे प्रयास करना है तो सर्व-वर्ग-विषयक समस्याओं को हल करने के लिए उसकी रचना होनी चाहिये, ठीक उसके अनुकूल। साहित्यकारों की सृष्टि 'सर्व' के लिए होनी चाहिये। आंगिक पुष्टि होगी तो, दूसरा निर्बल हो जायगा। यह सत्य है कि जिस वर्ग में अधिक अज्ञानता, विवशता, निर्बलता है, उसके लिए अधिक साहित्यिक क्रियायें करनी होंगी, किन्तु सम्पूर्ण प्रयास एक के लिए ही नहीं होना चाहिये। जीवन-कष्टमय अभावों के जीवन पर इसलिए बल देना पड़ेगा कि वह अपने आप में पूर्ण हो। पर प्रत्यक्ष, वर्त्तमान वातावरण की भी अवहेलना न करनी होगी। साथ ही अनुकृति की प्रवृत्ति हेय है। अन्ध-प्रज्ञा का आश्रय ले, दूसरी विदेशीय-संस्कृति-सभ्यता की अनुकृति आत्मघातक सिद्ध हो सकती है। रूस की अनुकृति को आदर्श मान कर अग्रसर होने की चेष्टा-प्रचेष्टा के परिणाम भी सोच लेने चाहिये। वहाँ का साम्यवाद भारतीयता को लेकर नहीं है। वहाँ के निम्न वर्ग के अभाव, यहाँ के निम्न वर्ग के अभाव की समता में महान् अन्तर है। वहाँ की वास्तविकता यथार्थता भी विदेशीपन को लेकर है, जो स्वाभाविक है। यही स्वाभाविकता, भारतीयता को लेकर होती तो शायद भारतीय साहित्य उधर झुकता। प्रत्यक्ष सत्य वातावरण को लख कर ही साहित्य अपनी महत्ता सिद्ध कर सकता है। कृत्रिम-भावनाओं के प्राङ्गण में विचरने का परिणाम अच्छा नहीं हो सकता। यही भयङ्कर दोष साहित्यिकों में है।

साम्यवाद को अपनाने की क्रिया को वे प्रगतिशील की संज्ञा देते हैं।

और अपने को स्वयं प्रगतिशील घोषित कर उसी सीमित के अनुरूप साहित्य की सृष्टि करते हैं। परन्तु उनका साहित्य व्यावहारिक ज्ञान दिलाने में अक्षम रहता है। इसलिए कि साधारण स्तर पर टिकने वालों की परिस्थिति से वे अपरिचित हैं, उनका करुणा-कोना सिक्त नहीं। पर कारुणिक वातावरण उपस्थित करने के लिए अपनी वाणियाँ अवश्य गूँथते हैं। यथार्थता के प्रचार पर जोर देते हैं, किन्तु स्वयं इतनी 'कृत्रिमता' में विचरते हैं कि यथार्थता का ज्ञान नहीं रखते। स्पष्ट है कि शब्दों के जाल पर ही साम्यवाद की व्याख्या नहीं हो सकती। काव्य में प्रभाव डालने की एक अपूर्व शक्ति है, अतः उसी एक शक्ति द्वारा निम्नों के अभावों की चर्चा हम कर सकते हैं। गद्य-पद्य दोनों आश्रयभूत अंग हैं, परन्तु एक की शक्ति का अधिक उपयोग होता है। साम्यवाद की समाजवादी प्रक्रिया के लिए आवश्यक है कि उसका हम समुचित अध्ययन करें। अध्ययन के बिना हमारी कोई भी, कैसी भी सार्थकता नहीं सिद्ध हो सकती। मध्यवर्ग की भी अपनी ऐसी अनेक आन्तरिक परिस्थितियाँ हैं, जो बाध्य करती हैं, क्रान्ति की जड़ उखाड़ने के लिए, एक जबर्दस्त आँधी बहाने के लिए। परन्तु यह सत्य है कि उनसे भी अधिक विवश अभावपूर्ण परिस्थिति निम्नों की है। और इन्हीं के लिए बहुत कुछ करना है। किन्तु साम्यवाद के सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त सर्व-वर्ग के अभाव की पूर्त्ति का प्रयत्न करना होगा। भारतवर्ष में निम्नों की संख्या अभाव-क्षेत्र में अधिक है। और उनकी क्रियायें भी इतनी निर्बल हैं और संकुचित हैं कि व्यापक प्रभाव पूर्ण-कार्य करने में असमर्थ है। गति-विधि परखने के लिए इनकी-उनकी आँखें मिली रहनी चाहिये। अन्यथा एक दूसरे के अभाव की पूर्त्ति का प्रकार भी ठीक नहीं होगा। निम्न, कर्म करते हैं, पर उस पर विश्वास करने को बाध्य नहीं होते। चूँकि विश्वास-बल उनमें है ही नहीं। अपने आप का ज्ञान उन्हें हो जाय तो, दूसरों पर ध्यान देने और सोचने भी उन्हें आ सकता है। परन्तु इसके लिए मध्य-वर्ग के पठित व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। एक ओर जन-बल के एकत्रीकरण के लिए ऐक्य पर अधिक जोर देना होगा, दूसरी ओर उनकी शक्ति के सदुपयोग के लिए इधर भी उनके कार्य प्रशंसनीय होंगे। फिर सुचारुरूप से कार्य संचालन होगा। परन्तु संचालक में पूर्ण योग्यता रहनी चाहिये, सब की। अन्यथा उसे सफलता शायद न मिल सके। जन-संघ के संचालन में मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ मजबूत रहनी चाहिये। मध्य, उच्च, शिष्ट अपने को इतना पूर्ण समझते हैं कि और अपने से निम्नों की अपूर्णता पर ध्यान देने की

उन्हें तनिक फुरसत ही नहीं मिलती। और जब तक उनमें यह भावना नहीं भर जायगी कि ये-वे एक हैं, दोनों के जीवन में प्राण-सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं, तब तक साम्यवाद के सिद्धान्त में बल नहीं आयगा। हाव-भाव के जीवन को ही हम जीवन नहीं कहेंगे। जिनके जीवन में सत्यता है, वास्तविकता है, उन्हीं के लिए शिष्टवर्ग कुछ नहीं करता, यह अनुचित है। निम्न इतने संकुचित हैं कि इसके विरोध में अपनी जीभ हिला ही नहीं सकते। एक का जीवन-दर्शन अत्यन्त संकुचित है तो दूसरे का विस्तृत। पर राष्ट्रीय ज्ञान जहाँ अंकुरित होंगे, वहाँ जीवन-दर्शन स्वतः ऊपर महत्व में उठ जायगा। प्रकृति के विश्लेषण में मनोविज्ञान समवेतर चित्रों की रीलें इकट्ठा करेगा तो जीवन की व्यापकता स्वतः बढ़ कर सिद्ध होगी। साम्यवाद ऐसी प्रकृति की पूर्णता को लक्ष्य कर अपनी क्रियाओं में सजगता भरेगा तो एक उचित निश्चित जन-संघ के लिए प्रशस्त मार्ग सम्मुख आयेगा जो कर्त्तव्य की सीधी लकीर पर सबको ले चलेगा। इसके साधारणीकरण में यह सर्वदा स्मरण रखना होगा कि साम्यवाद के उचित नियम में अगति का कोई परिवर्त्तन तो नहीं हो रहा है। व्यावहारिक क्रिया की शून्यता में विचरना, मानव-जीवन की गति को विशिष्ट नहीं बनाना है। साम्यवाद, पहले जनों को व्यावहारिक बनाये। इसका ज्ञान अधूरा, अपूर्ण होगा तो निश्चय ही उठा हुआ वर्ग अवसर प्राप्त होते ही पुनः निम्न-जनों को दबा डालेगा, दबोच डालेगा। चूँकि अधिकार खोना कोई भी नहीं चाहता, दूसरी बात यह कि आनन्द की जिन्दगी, सबको प्रिय है। विशेषकर उच्च, शिष्ट वर्ग इसका आरम्भ से ही आदी रहा है। उसके लिए यह अत्यन्त ही कठिन है कि आनन्द छोड़ कर उससे भी दूर हट कर पेट के लिए हाथ-पैर हिलाना पड़े। मस्तिष्क-सम्बन्धी जो कार्य उससे हो सकता है, वह वही थोड़ा बहुत कर सकता है। इसके आगे के लिए उसके पास न शक्ति है, न श्रम। जीवन-ज्योति जगाने के लिए एक आन्तरिक स्थिति की मूल-चेतना की अवश्यकता होती है। वही चेतना मस्तिष्क सम्बन्धी अनेक ऐसे प्रयत्न करती है, जो दूसरों को समझने में अधिक सहायता देते हैं। यह मूल-चेतना, अज्ञात-चेतना है। इस अज्ञात-चेतना को निम्न समझ जाय तो मध्य-वर्गीय प्रगतिशील-साहित्यकार उनमें वास्तविक भावना का अति शीघ्र संचार-प्रचार दोनों कर सकता है। समझा सकता है, तुम्हारी स्थिति किस आधार पर टिकी है। उच्च, तथाकथित शिष्टों के साथ तुम्हारा कैसा, किस प्रकार का व्यवहार अपेक्षित है। इस प्रकार दोनों के ज्ञान के अन्योन्य मिल और समझ जाने पर समता का अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

साम्यवाद की साधारण क्रिया, दोनों-तीनों वर्गों की एकता सिद्ध करती है। प्रजा की 'ज्ञ' शक्ति का जहाँ उपयोग होगा, वहाँ शासन-सूत्र का भी कार्य साम्य के अर्थ में उचित ही होगा। इस 'ज्ञ' के आरोप के लिए हमें अपनी संस्कृति के आधार पर ही शिक्षा देनी चाहिये। उस शिक्षा में जन-बल, ऐक्य का प्राबल्य रहना अनिवार्य है। व्यक्ति, व्यक्ति, (प्रजा का) अपनी शक्ति का सदुपयोग सीखे, इसकी भी शिक्षा देनी चाहिये। उसके मस्तिष्क की उपज, अच्छी होनी चाहिये। सम में सम्पूर्णता की ऐच्छिक क्रिया-शक्ति समाज के स्वरूप में परिवर्त्तन ला सकती है, ठीक अपने अनुरूप। जिसके फलस्वरूप साम्यवाद का, जहाँ थोड़ा समाजवाद के साथ सम्पर्क है, वहाँ उसे अपने सिद्धान्त में बल-पुष्टि होगी। चूँकि साम्यवाद के स्वाभाविक विकास में समाजवाद का बहुत कुछ हाथ है, यह मानना होगा; पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि साम्यवाद समाजवाद का प्रतिशब्द है, जो कहते हैं; दोनों को समझते नहीं। दोनों एक दूसरे के प्रतिशब्द नहीं हो सकते। कार्य संचालन कर विषमता को दूर करने में साम्यवाद सफल सिद्ध हो सकता है। परन्तु समाजवाद में जहाँ व्यक्ति ही समाज बना बैठा है, वहाँ विषमता बढ़ सकती है। इसी लिए समाजवाद में बल नहीं आ पाता और आगे चल कर अपने आप में वह एकदम संकुचित हो जाता है। समाजवाद में यथार्थ का पूर्ण प्रभाव वर्तमान रहे तो स्वाभाविक कार्य-गति में समता की भावना भी विराजमान रहेगी। मानव-मानव में अधिक बल का संचार होगा, और वह अपने श्रम का उचित मूल्य भी सहज ही में प्राप्त कर सकता है। साम्यवाद का समाजवादी कार्य इस ओर सबसे बड़ी सहायता कर सकता है। श्रम का उचित मूल्य आँकने के लिए शिष्टवर्ग प्रेरित करेगा। और यदि समाजवादी-साम्यवाद की स्थापना हुई तो, सर्वप्रथम अपना वह यह दृढ़ सिद्धान्त फैलायेगा कि श्रम सब को करना पड़ेगा। वर्ग के बँटवारे का जहाँ कोई प्रश्न न रहा, वहाँ श्रम की सीमा-रेखा क्यों? आवश्कता पड़ने पर ही उच्च वर्ग को श्रम करना पड़े, यह भी अनुचित होगा। स्वाभाविक क्रम के अनुसार समरूप से प्रत्येक वर्ग, एक हो अपनी-अपनी जगह पर श्रम करेगा, जिससे उसका पेट हमेशा भरा पड़ा रहेगा। और जब पेट भरा रहेगा, तब बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक अपने श्रम का राष्ट्र को भी उपयोग करने देगा। स्पष्ट है, राष्ट्र की भी शक्ति इस श्रम द्वारा बढ़ेगी। उसका पेट भर कर, उन्हें प्रसन्न रख कर, आने वाली विकट समस्याओं के हल में उसे विशेष कुछ नहीं करना होगा। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भी प्रयत्न करने की

आवश्यकता नहीं होगी। अपने आप प्रजा-शक्ति के सहयोग से उसका विस्तार होता जायगा, बाह्य आक्रमण जो होंगे, उन्हें भी आसानी से सह सकता है, चूँकि प्रजा की सैन्य-शक्ति राष्ट्र की होगी। और इस शक्ति के उपयोग के निमित्त प्रजा इसलिए कुछ नहीं कहेगी कि वह अनुभव कर चुकी होती है, अपने राष्ट्र के अधीन सुख को। भूख वाली समस्या के लिए तो उसे फिकर ही नहीं करनी होती है। महल-झोपड़ी के अन्तर-प्रकार पर सोचने का साम्यवाद अवसर नहीं देता। भारत में साम्यवाद का यह प्रकार हितकर हो सकता है—यदि रूस की अनुकृति का समूचा आधार न हो तब, अन्यथा इसें यहाँ सफलता न प्राप्त होगी। यहाँ के निमित्त साम्यवाद का स्वरूप-निश्चय भारतीयता को लेकर होना चाहिये। समाजवाद का सिद्धान्त भी यहीं का होना आवश्यक है। परन्तु सामन्तवादी के दृष्टिकोण में सबल मस्तिष्क रखने वाले नेता को जरा अधिक सतर्कता से काम लेना होगा। अन्यथा हिंसा, क्रूरता का आश्रय लेने पर भी उसकी नींव अदृढ़ ही रहेगी। उसके भी प्रथम जन-ऐक्य के लिए उसे अधिक जोर देना चाहिये। युद्ध करने के निमित्त नहीं, अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के खयाल से। जीवन को जीवन समझने के उद्देश्य से। बहुत वर्ष पूर्व लन्दन में जब 'गिल्डीज्म' का बीजारोपण हुआ तब साधारण जनता को यह सङ्केत दिया गया कि उसके अधिकार को समता में बाँटने का भी हमारा उद्देश्य है। कुछ दिनों तक इसमें बड़ी भ्रान्ति रही, पर स्वतः आगे चलकर यह गिल्डीज्म जोर के तूफ़ान में बह गया, इसलिए कि इसके सिद्धान्त में धोखा, प्रवञ्चना अधिक थी, सत्यता का नितान्त अभाव था, भ्रान्तियाँ इतनी अधिक थीं कि स्वयं ही वे अपने सिद्धान्त, दूसरों को समझाने के समय अजीब शब्दों और उदाहरणों को सामने रखते जिसकी वजह सभी उसे व्यर्थ का समझने लगे। वैसे ही साम्यवाद की विचित्र भावनाओं को साधारण जनता में फैलाने के लिए अनेक भ्रान्तिपूर्ण प्रयास किये जा रहे हैं, उनकी भी यही दशा होगी, जो गिल्डीज्म की हुई। साम्यवाद की इसी एक भावना को सब में फैलाना चाहिये कि मनुष्य अपने को एक दूसरे से हीन न समझे। उदर-पूर्त्ति का प्रश्न किसी के आगे समरूप से उठे। ऊँच की अन्तर-रेखा की आवश्यकता न हो। द्वन्द्व-जीवन-यापन का किसी को अवसर न प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त के लिए कोई भी प्रचार भारत में अस्थायी और व्यर्थ होगा। साम्यवाद इतना सस्ता नहीं कि अन्यपरक अर्थ लगाकर जनता में भ्रान्तिपूर्ण अनेक धारणायें बैठाई जायँ। किसी सिद्धान्त को आवरण में रखने वालों को सफलता नहीं प्राप्त

होती। बल्कि इसका परिणाम भयङ्कर होता है। जनता के हितार्थ आने वाला नेता कोई भी वास्तविक सत्य सिद्धान्त को सम्मुख रखने में सफल नहीं होता। जनता उस पर विश्वास नहीं करती। किसी भी प्रकार का सहयोग उसे नहीं प्राप्त होता। और जनता के लिए ही किये गये सैद्धान्तिक प्रयोग जब विफल हों तो नेता औरों के लिए क्या कुछ कर सकता है? उसकी सबल मान्यतायें अपने आप में ही मर कर रह जाती हैं।

एक ओर भयङ्कर कार्य इस क्षेत्र में किया जा रहा है। प्राचीनता को ध्वंस करने की प्रवृत्ति उसकी अत्यन्त निन्दनीय है। धीरे-धीरे इसके परिणाम में स्वयं वे एकदम विनष्ट हो जायँगे। नवीनता का स्वागत करने के लिए वे मना नहीं किये जाते हैं, परन्तु समझ-विचार का आश्रय लेने के लिए आग्रह अवश्य किया जाता है। मानव की व्यक्तिगत-चेतना, विचार-शक्ति की सदुपयोगिता सिखाती है, परन्तु अपने से इतर के सिद्धान्तों से जो प्रभावित रहते हैं, उनकी चेतना स्वाभाविक नहीं रहती, अतः वह सदुपयोग-दुरुपयोग पर प्रकाश नहीं डालती। यही चेतना अपने देश के अनुकूल, अनुरूप हो तो महान् से महान् कार्य साधने की क्षमता रख सकती है, पर साम्यवादी इस ओर ध्यान देना कर्त्तव्य नहीं समझते। उनका कहना है, चेतना और जीवन पर प्रकाश डालने की अभी फुर्सत नहीं, न वर्त्तमान काल में इसकी आवश्यकता है। वे जन-आन्दोलन पर ही अपनी शाब्दिक-शक्तियों का उपयोग कर रहे हैं।

साम्यवाद और समाजवाद

साम्यवाद के साधारणीकरण में समाजवाद का कहाँ प्रश्न उठता है, इसका संकेत यहाँ दिया जा रहा है। समाजवाद और साम्यवाद के अलग-अलग क्षेत्र हैं। दोनों को अपना-अपना कार्य करना है। समाजवाद अनेक को एक बना कर सामाजिक भित्ति सुदृढ़ करता है, और सबको एक साँचे में ढाल कर सब के लिए एक ही सुनिश्चित मार्ग निकालता है। साम्यवाद इसमें बहुत बड़ी सहायता करता है। वह सबमें समता भरता है, एक दूसरे को एक समझने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार दोनों मानव का कल्याण करते हैं। पर प्रकार में भिन्नता अधिक है। दिशाएँ दो हैं, जो दो ओर प्रवाहित करती हैं। इन दोनों का एक होना कठिन है और साथ ही व्यर्थ भी। एक में भाव है, दूसरे में अर्थ। जीवन की ग्रंथि दोनों की दो

हैं। कालांतर में सहजात किन्तु किसी विशेष भावना से प्रेरित होकर जीवन के प्रात और संध्या पर जब मनुष्य एकांत की शरण ले सोचने और विचारने लगता है तब अभाव-भाव पर उसे अधिक देर तक रुकना पड़ता है। वैसी दशा में उभ-चुभ की परिस्थिति उसे विवश करती है, बाहर की दुनिया को मापने के लिए। जीवन की गति रुक-सी जाती है। मापक को जब यहाँ असफलता प्राप्त होती है तब प्रत्येक क्षेत्र में वह देखता है, मानव अभाव का भांडार या केंद्र है। उसका जीवन एक गोलाकार शून्य है, जिसे परिधि कहते हैं। और इस गोलाकार परिधि में मानव को मड़राना है। उसका निरंतर का कार्य है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। शक्ति का ह्रास हो जाने पर स्वभावतः वह शांत, क्लांत हो जाता है, परिणाम में गति रुक जाती है, जिसे मरण कहते हैं। मानव इसी मरने तक के लिए संसार में है। और मरने तक वह हैरान भी है। इतने ही तक के लिए उसे अधिकार शक्ति का प्रयोग, कर्त्तव्य, आकांक्षा का अर्थ जानना होता है। मड़राने में स्वाभाविक रूप से जिसकी शक्ति का ह्रास होता है, गति रुकती है, उसका विशेष महत्त्व नहीं रहता, परंतु अस्वाभाविक ह्रास और अगति के लिए इन सब की आवश्यकता सिद्ध होती है।

तब निश्चय है, समाज के विधान में ही मानव को रहना होगा, किन्तु वह विधान व्यक्ति के लिए न होकर, मानव का हो, अन्यथा उसके विधान सबके लिए मान्य न होंगे। लोक-हित का सब प्रकार से उसे ध्यान रखना होगा, समाजवाद की सार्थकता भी इसी में सिद्ध होगी। मानव को मानव समझने के लिए जो कार्य होंगे, उनके खून को एक सिद्ध करने के लिए समानतया जो प्रयत्न होंगे वे सब साम्यवाद के अंश या अंग होंगे। आधुनिक समाजवाद जो पश्चिम से अधिक प्रभावित है, निर्धनता को जड़ समेत उखाड़ फेंकने के लिए प्रयोगिक सिद्धांत का निर्माण करता है। संभव है, इसमें व्याज को अधिक प्रधानता हो, किन्तु सिद्धांतों में सूत्र बन कर यही कहता है। भिक्षा-वृत्ति पर उसे रोष है। संपूर्ण घृणा के योग्य उसकी दृष्टि में एकमात्र दरिद्रता है। पश्चिम में दरिद्रता एक अपराध समझी जाती है, जिसका दण्ड भी निर्धारित है। समान रूप से मध्य निम्न के अनुसार न्यायालय में विचार-विमर्ष कर न्याय होता है। जहाँ मानव में अभिमान गौरव की वस्तु समझा जाता है, वहाँ भिक्षा-वृत्ति अभिमान का व्यर्थ अर्थ समझी जाती है। दान देने वाले ठीक इसके विपरीत अपने ऊपर अभिमान करते हैं। इस प्रवृत्ति का विरोध समाजवाद अधिक करता है। उसके जानते, यह एक भयंकर दुष्कर्म

का परिणाम है, जो अपराध की श्रेणी में रखा जाता है। स्वाभाविक बौद्धिक ज्ञानार्जन के निमित्त जो क्रिया होती है, वह समाजवाद की दृष्टि में अनुचित तो नहीं, पर विशेष महत्वपूर्ण भी नहीं समझी जाती। मूल में निम्नों का उत्थान और विकास है। सर्व-हित का उत्तर देने के लिए उसे अधिक समय है। और इसे वह अपना उचित और श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझता है। उचित न्याय, उचित विचार का सदैव पक्ष ग्रहण करता है। दूसरे देशों के प्रांतों में भी अपनी यही अनुकूल इच्छा, आकांक्षा प्रकट करता है। इसी के प्रतिष्ठान-काल में अनेक संघर्षों को अपना उद्देश्य सिद्ध करने का अवसर प्राप्त होता है। समाजवाद के सिद्धांत में, साम्यवाद यदि प्रबल-सबल है तो प्रजावर्ग का व्यक्ति साम्यबल को सुदृढ़ रखता है, क्रांति-संघर्ष में समाजवाद की सफलता का समस्त आधार, यहीं से व्यक्ति सैन्यबल है। न्याय और विवेक-पूर्ण व्यवस्था का समाजवाद उद्योग करता है। उसके जानते ये दोनों भिक्षा माँगने और दान देने का अवसर ही नहीं देते। 'समाजवाद यह भी मानता है कि जिस देश की व्यवस्था न्याय और विवेक के साथ होती हो, वहाँ गरीबों के लिए न तो भिक्षा चाहने का कोई कारण होगा और न धनिकों के लिए भिक्षा देने का कोई अवसर ही।'

और समाजवाद इन दोनों को मिटाने का सबसे बड़ा साधन है। मनुष्य की भावना का सूक्ष्म तंतु जिसमें अपवित्रता नहीं रहती, मानव की स्वार्थ प्रकृति को दबाता है। अपने से इतर को एक समान ही देखने को विवश करता है। उसकी अभिव्यक्तियाँ अलग-अलग हित के अर्थ में होती हैं। यदि इन अभिव्यक्तियों का परिणाम अहितकर हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस सूक्ष्म तंतु में पहले ही अपवित्रता थी। स्वार्थ-प्रकृति, पूँजी का अधिक लोभ देती है, अतः समाजवाद को निकट आने देना नहीं चाहती। इसके पूर्व प्रकृति को भी बौद्धिक बल द्वारा दबाया जा सकता है। परंतु इसके लिए गर्वशून्य होना आवश्यक है, अन्यथा बुद्धि की सदुपयोगिता में संदेह हो जाता। 'अहं' एकदम निर्बल बना देता है, वर्त्तमान परिस्थिति में भले ही कुछ उसका प्रभाव रह जाय, किन्तु भविष्य उसे अंधकार की ओर ही अग्रसर कराएगा। मूलतः भी यह विनाशक है, किन्तु उस पर ध्यान इसलिए नहीं जाता कि मनुष्य की आँखें संकुचित रहती हैं। मस्तिष्क-शक्ति का विकास नहीं हुआ रहता है। अतः अपने आप पर पूर्ण विश्वास और आस्था नहीं रहती। कर्म के अर्थ से वह अविदित रहता है। ऐसा कोई मार्ग सामने नहीं दीखता, जो किसी निश्चित दिशा की ओर प्रवाहित करता। समाजवाद इस

'अहं' से बड़ी घृणा करता है। चूँकि 'अहं', मनुष्य में मनुष्यता के गुण नहीं भरता, अनेक दुर्गुणों को समाविष्ट कर देता है, फलतः शरीर, आकृति में मनुष्य रहता है, पर इसकी प्रवृत्तियाँ दानवीय होती हैं। अपने आप को पहचानने की शक्ति का जब अभाव रहता है, तब दूसरों को कहाँ तक पहचाना जा सकता है। भावुकता में सहृदयता अधिक रहती है, तो शायद 'अहं' को हृदय में स्थान नहीं मिलता है। साम्यवाद के सिद्धांत में सच की यथार्थता रही तो 'अहं' अपने आप में विनष्ट हो जाता है, चूँकि उसके विकास को स्थान नहीं दिया जाय, तो मानवेतर प्रकृति की आवश्यकता ही नहीं होगी। वर्ग के व्यक्ति व्यक्ति मानवानुकूल प्रकृति से विशिष्ट रहेंगे तो समाजवाद को अपने यथार्थ के प्रचार के लिए विशेष उद्योग नहीं करने होंगे। प्रकृति के सुधारने का कार्य साम्यवाद करता है, और समाजवाद संपूर्ण मानव को एक अच्छी राह पर ले जाने का प्रशंसनीय कार्य करता है।

समभावना मनुष्य को समाजवाद का अर्थ समझाने का ज्ञान और अवसर देती है! अंतः-शक्ति की प्रेरणा से प्रेरित होकर जब साधारण मानव अपने स्तर से उठ कर सम स्तर पर अधिकार पूर्वक पहुँच जाता है तब किसी वस्तु को समझने की भरपूर चेष्टा करता है। इस समय समाजवाद सम्मुख उपस्थित रहता है, अतः सबका उसी के सिद्धांत पर सर्वप्रथम ध्यान जाता है, फिर समाजवाद के यथार्थ गुणों से अभिभूत हो उसीमें सभी पलने लगते हैं—निःसंकोच। पर भारत में सिर्फ इतने से ही कार्य नहीं चल सकता। इतने ही से समाजवाद की नींव नहीं पड़ सकती। इसके लिए यहाँ विभक्त जनता में बुद्धि की शिक्षा देकर, अपने को समझने का अपूर्व ज्ञान देना होगा। फिर उन्हें ही समाज की रूप-रेखा स्थिर करने का अवसर दिया जाना चाहिये। किन्तु एक किसी नेता को अलग से देखते रहना होगा कि समाज की रूप-रेखा स्थिर करने में वे कहाँ भूल करते हैं, इसलिए कि की गई इस भूल का स्वयं कभी वे सुधार कर लें, पर उन्हीं के सम्मुख, उन्हीं की राय से। उन्हें यह समझाया जाय कि इस भूल का यह सुधार तुम्हारे लिए अपेक्षित है, इसमें तुम्हारा कल्याण निहित है। एक व्यक्ति को भी इसका विरोध करने का भरसक अवसर नहीं देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो समाजवाद की स्थापना भी स्वप्नवत् सिद्ध होगी।

चूँकि यहाँ अनेक सम्प्रदाय हैं, अनेक जातियाँ हैं, जिनको एक बनाने में भारतीय साम्यवाद को ही सफलता मिलेगी। इसलिए बौद्धिक शिक्षा देकर, उन्हें ही अपने अनूकूल समाज-निर्माण का अवसर देना चाहिये। साथ ही

जब कभी निरपेक्ष भाव से पक्षपात रहित हो अपना विचार प्रकट करते रहना होगा। उन्हें समझाते रहना होगा कि आप जो कहते हैं, ठीक है; यह विचार आपके कल्याण का प्रशस्त, संपन्न मार्ग निकाल सकता है। सर्वसाधारण में इस प्रणाली का प्रयोग होना श्रेयस्कर होगा। उच्च, शिष्ट को तर्जनी द्वारा संयम में रहने का आदेश देना चाहिये। 'अंकुश' को संचालन का सूत्र समझना चाहिये। पर अति की शरण नहीं लेनी चाहिये। उनकी भी सुननी चाहिये, अन्यथा उन्हें हठी कहने का अवसर प्राप्त होगा। परंतु नेतृत्व ग्रहण करने वाले को बुद्धि का बल संजो कर रखना होगा। साथ ही व्यवहार शून्य कदापि नहीं होना चाहिये। भारत में गाँधीवाद को साम्यवाद का पर्याय समझने वाले नेता का स्तालिन की व्यावहारिकता भी रखनी होगी, गाँधी जी का सत्य और जवाहर लाल की उत्तेजना, उग्रता भी अपनानी होगी। लेनिन और सुभाष की क्रांति-भावना निर्बल सिद्ध होगी। यहाँ के लिए भी क्रांति अनिवार्य है, परंतु उनकी क्रांति से लाभ की संभावना नहीं। क्षणिक आवेश को क्रांति की सूचना नहीं कहेंगे। समाजवाद के आदर्श, सद्धांत या नियम से अन्य इतर समाजवादियों का काफी मतभेद है। परंतु साम्यवादी क्रियाओं पर अधिकांश को कोई आपत्ति नहीं। उनके जानते साम्यवाद व्यक्ति-व्यक्ति में ऐक्य-स्थापना का सबसे बड़ा साधन रखता है। कुछ ऐसे हैं जो समाजवाद से साम्यवाद को एकदम पृथक मानते हैं। विशेषकर वर्त्तमान समाजवाद एक सीमा के लिए ही प्रतीत होता है। साम्यवाद मानव-जाति के लिए अपना कार्य करता है। निम्नों के उद्धार के निमित अनेक प्रयत्न या प्रयास करना, वह अपना श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझता है। रूस के लिए यह मान्य हो सकता है, परंतु भारत के लिए नहीं। श्रमी साधन को एकत्रित करना भी एक प्रकार से पूँजीवादियों का ही काम है। श्रम पूँजी है, श्रमिक उसका आधार है। अतः इसी एक आधार की रक्षा के निमित्त समाजवाद की कदाचित व्यवस्था नहीं होनी चाहिये। यह सत्य है कि इस समाज-व्यवस्था में मजदूरों, श्रमिकों का प्रकट प्रत्यक्ष हाथ है। साम्यवाद के अंतर्गत पलने वाले सर्व-वर्ग के मानव हैं। जिस प्रकार कहने के लिए समाजवाद के आगे व्यक्ति का प्रश्न नहीं है, उसी प्रकार समाजवाद की तरह साम्यवाद के आगे सिर्फ एक वर्ग का प्रश्न नहीं है। उसकी दृष्टि में जीवन-दर्शन ही समता का स्थान नहीं रखता, संपूर्ण मानव के लिए सर्व-वर्ग का जीवन-दर्शन अधिक विस्तृत और ठोस है। एक वर्ग निमित्तक जीवन-दर्शन संकुचित है। उसके सिद्धांत में निर्बलता एवं निरुद्देश्यता भी है। उसका सिद्धांत साम्यवाद का सिद्धांत उधार लेकर कहता है, सबके

लिए एक मार्ग हम चाहते हैं, सब में एक भावना चाहते हैं। वर्ग विशेष में भी हम अंतर नहीं चाहते।

परन्तु ऊपर के क्रियात्मक वाक्य या व्यवहार अन्यथा ही, एकदम प्रतिकूल सोचते या करने का मौका देते हैं। समाजवाद की अभी तक कोई निश्चयात्मक क्रिया नहीं है। रूस में सिर्फ निम्न ही वास करते हैं, ऐसा भी नहीं है या सबको निम्न ही बना दिया गया, वह भी नहीं है। परन्तु यह सिद्ध है कि उसके सिद्धांत भारत के लिए हितकर मान्य नहीं हो सकते। साधारण स्तर पर, गंभीरतापूर्वक विचारने पर भी कोई विशेष निष्कर्ष पर हम नहीं पहुँचते, पहुँचते भी हैं तो मानो निर्णय करने आता ही नहीं। यहाँ के कम्युनिस्टों का दावा है कि भारत को रूस के रूप में परिणत कर हम भावी भारत को पूर्ण और सर्वप्रकारेण सुखी देखेंगे। परन्तु यह किस आधार पर उनका कहना है, समझ में नहीं आता। अध्ययन करके वे देखेंगे तो प्रतीत होगा, दोनों में कितना वैषम्य, कितना अंतर है। वे अपने निरंतर के प्रवचन (Communist manifesto) पर भी ध्यान नहीं देते। हित-अहित की व्याख्या और उसके निमित्तक साधन का पर्याप्त प्रचार साहित्य कर सकता है। परन्तु साहित्य में सामाजिक विशिष्ट साधनों के अतिरिक्त अन्य विषयक अंगों की भी पुष्टि होनी चाहिये। साहित्य का जीवन-दर्शन भी अधिक महत्व रखता है। समाजवादियों के आगे इस जीवन-दर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं, जो साहित्य की दृष्टि में अनुचित है। संकुचित जीवन-दर्शन का उसमें स्थान ही नहीं है। सार्वभौम की उसे चिन्ता और फिकर है। और इसके जीवन में पूर्ण बल लेकर अलग ही से अपनी महत्ता घोषित करता है। यद्यपि कम्युनिस्टों के नेत्र में, अध्ययन में इसकी व्याख्या है, पर गलत, जिसका विरोध, जिसकी निंदा जर्मनी में बर्न्सटाइन (Bernstine) ने प्रचुर मात्रा में की। उसने मार्क्स की प्रयोगिक एवं व्यावहारिक मान्यताओं का बड़ा खंडन किया। मैं नहीं कहता कि उसने जो कुछ किया, सर्वथा उचित था। परन्तु मेरा जहाँ समाजवाद के जीवन-दर्शन से संबंध है, वहाँ तक कहूँगा, उसका यथार्थ उचित नहीं तो अनुचित किसी भी प्रकार नहीं था। उसने जर्मनी में एक नए वाद को जन्म दिया, जिसे सुधारवाद कहते हैं। यह भी उसमें एक महान् दोष था कि गंभीर से गंभीर विषयों के प्रतिपादन में भी सस्तापन को नहीं छोड़ता, इसका प्रभाव स्थायी नहीं पड़ा, जो स्वभाविक ही था। समाजवाद का वह विरोधी नहीं था, पर उसके अभावों एवं आवश्यकताओं के विषय में अधिक कहता था। उसके मतानुसार इसमें सुधार की अपेक्षा अधिक थी।

समाजवाद का जो क्रांति-रूप था, उसे उसने आलोचक की दृष्टि से देखा। आदर्श को उसमें सम्मिलित नहीं किया। मार्क्स को पूज्य नेता माननेवालों ने भी उसकी बड़ी कड़ी निंदा की। विशेषकर 'कार्लकार्स्की' को इस पर अधिक रोष आया। परिणाम में उसके विरोध में इन्होंने अपने सबल साधनों का काफी उपयोग किया। यद्यपि मार्क्स की बौद्धिक क्रिया स्वतः अत्यंत सुदृढ़ प्रमाणित हुई, परन्तु इसके लिए किया गया बहुत कुछ। कहना नहीं होगा कि पिछले वर्षों में यही सब का कारण हुआ, जिसमें मार्क्स को जर्मनी में अपने सिद्धांतों को फैलाने में सफलता न मिली। रूस में उसके प्रयोगों के विकास का पर्याप्त अवसर मिला। परन्तु उन दोनों वादों पर वहाँ काफी विचार-विमर्श हुआ १८९० से १९१४ तक आदर्श और यथार्थ, प्रयोग और व्यवहार पर क्रांति-शांति दोनों का प्रश्रय ले दोनों ने आन्दोलन को साधन मानकर अपने-अपने मतों के लिए बहुत कुछ किया। उत्पादन के साधनों में विभिन्नताएँ प्रकारांतर रूप से अपनी कार्य-साधना करती रहती हैं। जीवन-दर्शन, क्रियात्मक प्रयोग, उन विभिन्नताओं पर कटाक्ष नहीं करते, पर अपनी सार्थकता सिद्ध करने में जहाँ उनके जानते, वे रोड़ा का कार्य करती हैं, वहाँ उनके विरोध में अपने समर्थकों द्वारा प्रबल क्रांति-उद्योग अधिक करते हैं।

मार्क्स की बौद्धिक-व्यावहारि शक्ति-साधनों ने इस क्रांति-उद्योग के विश्लेषण में जीवन-दर्शन के तत्व को यथार्थ रूप में प्रकट किया। किन्तु संकुचित जीवन-दर्शन को पूर्ण बनाने के उद्योग नहीं हुए। अभावों का संकेत रहा, किन्तु उसकी व्यापकता पर सत्य को आधार मान कर नहीं विचारा गया। जर्मनी के सुधारवादियों ने ठीक इसके विपरीत इस पर अधिक जोर दिया। किन्तु चूँकि मार्क्स के विरोध में उनका हठ भी अलग कार्य करता था, अतः स्वाभाविक रूप से समाजवाद में जो सच सुधार अपेक्षित था, वह भी न हो सका; न जीवन-दर्शन के आभावों की पूर्त्ति ही हो सकी। फ्रांस के तात्कालिक आंदोलन में जो सामाजवादी जीवन दर्शन का क्रांतिकारा स्वरूप अंकित हुआ, वह भी निर्बल, निष्प्राण सिद्ध हुआ। श्रम-साधन जो पूँजीभूत था, जीवन-दर्शन वहाँ भी इसलिए विशेष महत्त्व नहीं रखता है कि रूस का अस्वाभाविक प्रचार, इस संबंध का, वहाँ भी नर्त्तनशील क्रिया में निमग्न एवं अभ्यस्त था। परन्तु परिस्थति की भिन्नता एवं श्रमी-साधनों की विभिन्नता रूस की वास्तविक स्थिति को मूर्त्त रखने में असफल सिद्ध हुई। क्रांति उसने भी की, पर रूस की सफलता उसे हस्तगत न हुई। इसका मुख्य कारण साधन का अभाव तथा बुद्धि की निष्क्रियता थी, अनुचित प्रयोग भी। श्रम, उनके जीवन तथा प्रकार

के मूल में क्रांति की आग था, किन्तु उत्तेजना में अस्वाभाविकता थी, जोश में दृढ़ता का अभाव था। विचारों में परिपक्वता न थी, लक्ष्य-सिद्धि में दोष था। परन्तु एक दृष्टि से जीवन-दर्शन की अपूर्णता का संकेत था। रूस अधिक संयत था, किन्तु प्रकार में साम्य था ? समाजवादी सिद्धांत के रूढ़ में साम्यवाद का प्रति विभाग-कार्य-परिणाम में संकुचित और अस्वाभाविक उनके मस्तिष्क में इसलिए प्रतीत हुआ कि उस पर सोचने के लिए फ्रांस के क्रांतकारी नेता को मस्तिष्क न था, फुर्सत न थी, यह कहना अनुचित और असंगत होगा, चूँकि उन्हें इस पर सोचने ही नहीं आता था। रूसो और वोल्टेयर ने जहाँ क्रांति की आग सुलगाने पर जोर दिया, वहाँ व्यवहार भी अपने जानते स्वाभाविक, पर सार्वजनीन दृष्टि में नितांत अस्वाभाविक था क्रिया में बुद्धि का सहज आरोप साधारण में न किया, फलतः जीवन का प्राण विश्लिष्ट न हो सका। भौतिकवाद की प्रबलता में मानवता को अधिक उपयोगी सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया, फलतः 'जीवन जीने के लिए' सिद्धांत सफल हुआ; और उसका व्यावहारिक दर्शन भी एक स्टैंडर्ड पर था। अपने को निस्सहाय मानना घातक है। समाज अपने शक्ति-साधनों द्वारा सुविधापूर्वक सबको यह समझा सकता है, पर साम्यवाद का जो प्रभावपूर्ण उद्योग है, वह उसके विकास का प्रथम महत्त्वपूर्ण सोपान सिद्ध होगा। बौद्धिक प्रयोग उसके विफल न होंगे। मानव की ज्ञानेंद्रियाँ पशु-शक्ति का काम करती हैं। वह मनोविज्ञान की तुला पर अपने प्रयोगों को यद्यपि नहीं लाता, फिर भी साधारण समाजवादी, साम्यवाद के प्रयोगों को मनोवैज्ञानिक कह कर कभी-कभी उपेक्षा भी कर बैठता है। इतना सत्य है कि साम्यवाद के सिद्धांत या उसकी प्रेरणाएँ, मान्यताएँ शिष्ट बौद्धिक मानव को अधिक प्रभावित और विशिष्ट बनाती हैं।

परंतु इसे भुलाया नहीं जा सकता कि जब वे शिष्ट-मध्य मानव, समझ शक्ति के आश्रित हो जाने पर निम्नों की विवशताओं और उनके अभाव को अच्छी तरह समझने लग जाएँगे, जिससे अधिक उन्हें ग्लानि और अपने आप पर पश्चाताप होगा। समाजवाद को वैसी स्थिति में बिना अधिक उद्योग के थोड़े से सीमित प्रयत्नों में ही अधिक सफलता मिलती। अन्यथा आरंभ में उसे असफल होना पड़ेगा, फलतः अपने उद्देश्य में सिद्धि नहीं पा सकेगा। सर्वप्रथम साम्यवाद के सिद्धांतों का सर्वत्र विस्तार होना चाहिए, ऐसा एम० आर० मसानी भी मानते हैं, यद्यपि इसके आगे की उनकी विवेचना मान्य नहीं। पर साम्यवादी सिद्धांत की उक्ति कुछ उपयोगी सिद्ध होगी और मान्य भी। भारतीय दृष्टिकोण में जहाँ तक साम्यवाद का अर्थ विश्लिष्ट है, वहाँ

तक उसका भी प्रकट रूप त्याज्य अथवा अग्राह्य नहीं है। समाजवाद की जो कृषक-सम्बन्धी श्रमी-व्याख्या थी, उसमें उनके अनुरूप समता का ऐक्य-प्रतिष्ठान, कुछ अंशों में आज के साम्यवाद का प्रतिक्रियात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

चंद्रगुप्त के राज्यष्ठिान के लिए जहाँ-जहाँ कुछ कहना या करना पड़ा, वहाँ साम्यवाद की आड़ लेकर तात्कालिक लाभ उठाया गया। इसका यह अभिप्राय हुआ कि राजनीति की चाल, सफलता का एक निंद्य या प्रशंसनीय स्तंभ प्रमाणित हुई और प्रायः सबको विदित है कि उस समय तक सामंतवाद अधिक सबल-प्रबल था। सामंतगुप्त ही एक ऐसा अधिनायक या राजा था, जिसने जन-वर्ग के समाज की रूढ़ि में भी साम्यवाद की कम-से-कम किरण रखी, और इसलिए प्रजाजन उसे विश्वास और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। विक्रमादित्य-काल में उज्जैन और काश्मीर ने कुछ प्रश्नों का उत्तर माँगने के निमित्त कुछ विशिष्ट प्रयास किए, किन्तु सफलता नहीं मिली। विभक्त लघु-लघु स्थानों के अधिनायक इसके विरोधी थे। उस समय भी श्रमिक की जगह 'दास' अवलम्ब-स्वरूप अंग, अज्ञात रूप से कुछ पर अपना प्रभाव प्रदर्शित करता ही था। अपने अनुकूल समाज का स्वरूप कोई भी निश्चित कर सकता था। अनुचर-विभाग, दास-विभाग एकदम निस्तब्ध वातावरण की शरण होता। कहने के लिए पीड़ा नहीं दी जाती थी, दंड भी नहीं, इसलिए कि अपराध नहीं होते थे, परन्तु अधिकार-प्रश्न, कर्त्तव्य-प्रश्न के लिए किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। प्रश्न उठाने की या करने की हिम्मत न होती थी, या इसके ज्ञान का नितांत अभाव था; जीवन का अर्थ और उसकी उपयोगिता या सार्थकता से परिचय प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता न थी। कार्य-विभाजन या बुद्धि के प्रसारित में पाठक, पंडित, विद्वान अपना पृथक् कार्य करते, जिन्हें मुख्य समस्या का अर्थ जानने के लिए कोष उलटना पड़ता होगा। इसके अतिरिक्त सभी पूर्ण-से प्रतीत होते थे। दास, कृषक, श्रमिक-अच्छे तो नहीं, पर विशेष बुरे भी न थे। हाँ, उन्हें जीवन का मूल्य उस समय विदित हुआ होता तो आज वे ही विकास के अंतिम चरम सोपान पर पहुँचे होते। समाजवाद का वर्त्तमान रूप बिल्कुल भारतीय होता। विदेश का कोई भी वाद यहाँ अपेक्षित नहीं, उपेक्षित ही होता। साम्यवाद का विकास स्वतः पूर्व पीठिका के आधार पर ही खड़ा रहता। बौद्धिक श्रम की दशा अच्छी होती, और सभी बुद्धि से प्रभावित रहते। वर्ग को प्रश्रय नहीं मिलता। किन्तु कहीं भी किसी के लिए समाजवाद की क्रिया, समानांतर रूप से समाजवाद की जड़ में दृढ़ स्तंभ, परंतु विभिन्न रूप से अर्थ-सिद्धि के लिए अवश्य प्रशंसनीय रही। भारतीय गांधीवाद

समाजवाद का जटिल रूप नहीं है; परन्तु विदेशीय विशेषत: रूस का साम्यवाद यहाँ कुछ जटिल एवं समस्यापूर्ण सिद्ध होगा। प्राचीन साम्यवाद में समाजवाद सजगता का प्रतीक नहीं था, चूँकि मजदूरों या कमकरों की अधिकता न थी। परंपरा या रूढ़ि के अनुसार कुछ होता था, राज्य की स्थापना होती थी, आज की तरह मिल, कल, कारखाने न थे कि उनकी उपज स्वाभाविक होती। अभाव को विशेष जगह नहीं प्राप्त थी। हाँ, निरन्तर आक्रमण-अनाक्रमण ने जब अकाल-काल की कई बार आवृत्तियाँ की, तो देश की दशा दयनीय एवं शोचनीय हो गई। इसमें पलने वाले आकुल-व्याकुल से दीखने लगे। धीरे-धीरे साम्राज्यवाद के प्रचुर प्रभाव ने दरिद्रता को पसरने का अधिक अवसर दिया। शिक्षा-वृत्ति जीविका का साधन-शक्तियों में से एक हुई, और यों उसके क्रम से परिवर्त्तन होने लगे। समाजविधान में व्यवधान पड़ने लगा। यहाँ का स्वरूप कोई स्वरूप ही न रहा। स्व, पर में परिणित हो गया। किन्तु इस भ्रंश-अप-भ्रंश-काल में ध्वंस, विनाश पर दृष्टि डाली गई होती. कारण ढूँढ़ा गया होता तो प्रवृत्ति की परिवर्त्तित अवस्था का ज्ञान होता। समाज की कोई भी व्यवस्था आज तक टिकी होती तो वर्त्तमान-काल में शायद वह मार्ग का निर्देश करती। दासता, शोषण, अति-दमन आज जितना है, उतना उस समय नहीं था। दासता थी, परंतु अधिक नहीं। अभाव था, पर भिक्षुक नहीं थे। समाज में दोष था, किन्तु सहृदयता अधिक थी, अत: साम्यवाद भी अपनी जगह ठीक ही था। इस प्रकार आधुनिक परिस्थितियों ने ही अनोखे परिवर्त्तन में हाथ बटाया, ऐसा लक्षित होगा। पूर्ण प्रयत्नशील सचेष्ट क्रियाओं की अभिव्यक्तियाँ समाजवाद-साम्यवाद को सृजनात्मक और बौद्धिक प्रमाणित करने में अधिक सफल होंगी, किसी भी देश-विदेश के दृष्टिकोण में यही निर्णय, निष्कर्ष निकलना चाहिए। साम्यवाद की सच्चे अर्थ में नींव डालने के लिए तलवार या खून की शायद आवश्यकता न पड़े, किन्तु समाजवाद की स्थापना के लिए 'खून का खून' तलवार की तलवार की जरूरत हो सकती है।

साम्यवाद और प्रजातन्त्रवाद

देश में राजनीतिक दासता भी अनुचित है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिये। राजनीति का बाह्य वातावरण मनुष्य की शृङ्खलाओं को तोड़ने में सहायक अवश्य होता है, परन्तु उस पर अपनी परतन्त्रता भार-स्वरूप लाद देता है, मानव को यह असह्य नहीं प्रतीत होता, चूँकि पूर्व क्रिया का वह

आभारी रहता है। जिसने उसके विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की, उसे राजनीतिक सत्ताधारियों ने सदैव दबा दिया है। रूस ने राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए भी क्रान्तियाँ कीं, परन्तु बागडोर सँभालने की शक्ति का सर्वसाधारण में अभाव था, कुछ पहुँचे हुये नेताओं में उसका प्रयोग उपयोग हुआ। प्रजा अपना अधिकार माँगने के लिए अवश्य उद्यत थी, परन्तु राजनीति के विकास और उसकी मूल-प्रवृत्ति पर विचारने की शक्ति उसमें भी न थी। मस्तिष्क की क्रियाओं में निर्बलता थी, अतः इसका सूत्र-संचालन उनसे कठिन था। व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता कोई महत्त्व नहीं रखती। परन्तु स्वाभाविक स्वतन्त्रता बहुत अधिक अवश्य महत्त्व रखती है। प्रजा की जहाँ ऐच्छिक क्रिया तीक्ष्ण गति से चलती है, वहाँ वाह्य साधारण उपकरणों का ज्ञान नहीं रहने के कारण वास्तविक उपयोग नहीं होता। प्रजा, क्रान्ति की शक्ति रखती है, किन्तु वह उपयोग स्वतः नहीं कर सकती है, बौद्धिक बल उसका साथ दे तो शायद प्रयोग करानेवालों की आवश्यकता नहीं होती।

अधिकार, कर्त्तव्य, श्रम, पूँजी इन सब के प्रयोग-उपयोग के लिए प्रजातन्त्रवाद की रूप-रेखायें स्थिर होने लगीं। साम्यवाद की भावना, साधारण स्थिति में ही यहाँ भी अपना कार्य करती चली जाती है। क्रान्ति की आग की लपट में प्रजा किसकी कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं होती है। साम्यवाद का पूर्व या अनन्तर के सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप देखती, किन्तु मध्य की विवश परिस्थिति ने तूफान, आँधी खड़ा करने के लिए वाध्य किया। अत्याचार-अनाचार के अति पर वह अधिक क्षुब्ध और रुष्ट थी। सैन्य-शक्ति का सञ्चय नहीं किया था। भारत में सैन्य-शक्ति का संचय न भी हो, केवल व्यक्ति-व्यक्ति में ऐक्य होता तो वह प्रजातन्त्रवाद का सवर्ण-सिद्धान्त कुछ स्थिर कर सकता। परन्तु ज्ञात-अज्ञात रूप में साम्यवाद का सम-सिद्धान्त अपना स्वाभाविक कार्य करता जाय, तब समाजवाद की तरह उसकी भी कार्य-गति निर्बल और व्यर्थ प्रमाणित होगी। उत्पत्ति के साधनों के प्रयोग में परिवर्त्तन और राष्ट्र की स्वाभाविक क्रिया-प्रक्रियाओं का व्यवधान, जो जीविका-वृत्ति और उसके परिणाम में वेतन, उदर-उत्तर है, के स्वरूप-विभाजन का सब साधन है। किन्तु इस 'वेतन' की पूर्णता पर उधर ध्यान जाना आवश्यक है कि कहीं अभाव को अब भी दूर करने में यह अल्प तो नहीं है! यदि ऐसा हुआ तो पुनः भीतर ही भीतर क्रान्ति, आग सुलगती ही जायगी। और फिर रक्त-स्रोत प्रवाहित होगा और एक नई, नूतन समाज-व्यवस्था होगी।

इस प्रकार प्रत्येक प्रतिकूल कार्य के लिए खून बहाने में गुञ्जाइश होगी।

आन्दोलन, क्रान्ति को हर समय प्रश्रय मिलेगा, जो किसी भी राष्ट्र के उत्कर्ष में अहितकर ही प्रमाणित होगा। क्रान्ति की आँधी एक बार उठनी चाहिये, उसका लङ्कादहन एक बार होना चाहिये, हमेशा यही सब होता रहा तो इसका मूल्य भी घट जायगा। स्वाभाविक शक्ति भी जाती रहेगी, भूचाल पैदा नहीं हो सकता। साथ ही हम देखेंगे, साधारण प्रजा में भी ऐक्य नहीं रहेगा, वहाँ भी श्रेणी. वर्ग-विभाजन होगा। ऐसी स्थिति में समाजवाद का कोई भी पृष्ठ-पोषक समाजवाद के लिए कुछ भी करने में निर्बल ही प्रमाणित होगा। जीवन को समझने का कोई अवसर इस समय भी दे सकता है तो सिर्फ साम्यवाद का क्रियात्मक सिद्धान्त ही।

मिल-मजदूर, प्रजातन्त्रवाद के नियमानुसार अपना कार्य करें, परन्तु वेतन के स्वरूप अपने अनुकूल ही निश्चय करें, श्रम का उचित मूल्य मिलने के लिए उन्हें कुछ करना न पड़े। पूर्व-आर्थिक-व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन रहना चाहिये। स्वाभाविक वेतन के स्वरूप पर इसी समय वे न विचार लेंगे, तो भविष्य, वर्त्तमान नेता की उपस्थिति में सम्भव है, पूर्व की यह आर्थिक क्रिया जारी रहेगी ही और श्रम से एक वर्ग अति लाभ उठायेगा ही। 'दरिद्रता का ही साम्राज्य अपने आप में पूर्ण और सबल दृढ़ होता जायगा। और उस समय क्रान्ति करने पर भी सफलता नहीं मिलेगी। ऐक्य या संगठन रहेगा ही नहीं। वर्त्तमान-काल पर प्रजा को भविष्य के लिए सोच-विचार लेना चाहिये। साम्यवाद, उच्च-निम्न में वहाँ तक सम्भावना भर सकता है, जहाँ तक वे अपनी-अपनी राह में सही और दुरुस्त हों। उच्चवर्ग को ज्ञान वही दे सकता है, निम्न के आन्तरिक अभाव का परिचय वह वहीं दे सकता है, जहाँ वे उनसे आजिज न हों। इसके प्रतिकूल में वे रोष-क्रोध, क्रान्ति कुछ भी नहीं सुनेंगे। प्रजातन्त्रवाद का यह मूल सिद्धान्त होना चाहिये कि जीवन का आधार ऐक्य और संगठन हो; क्रान्ति सब समय न हो। अन्यथा वह एक सस्ती वस्तु या सस्ता साधन हो जायगी। साम्यवाद, ऐकिक नियम के आधार पर इस परिस्थिति को भी सुधार सकता है, किन्तु स्वयं अपने लिए उसे अलग क्रान्ति का स्वरूप निश्चित करना होगा। प्रजातन्त्रवाद का स्वाभाविक क्रिया के लिए मैकडोनल्ड (Macdonald) ने अपनी पुस्तक 'The Socialist movent' में बहुत कुछ कहा है। उसके सिद्धान्त और विश्लेषण के आधार भी गम्भीर और माननीय हैं। क्रांति का आधार जब रूस में दृढ़ हो रहा था, तब साम्यवाद के आरम्भ में ही लेनिन और एञ्जिल्स ने इस पर बहुत कुछ प्रकाश डाला। परन्तु व्यावहारिक नींव पर किसी ने जोर

नहीं दिया। बल्कि लेनिन ने कहा भी, मजदूर स्वतन्त्र-संस्था ने साम्यवाद की केवल अव्यावहारिक नींव ही डाली तथा मजदूर संघ की ओर पहला कदम बढ़ाया—'Only laid the theoretical foundations for the Social-democratic movement and made the first step towards the working-class movements.'*

एक प्रकार से इसे आन्दोलन का प्रथम चरण कहना चाहिये। परन्तु आगे चल कर इस सिद्धान्त में स्वाभाविकता का अभाव था। प्रजा का अर्थ वहाँ, निम्न जन था। मजदूर, श्रमिकों को प्रजा के अतिरिक्त, क्रान्तिकारियों ने समझा, प्रजातन्त्रवाद के विस्तार के लिए उन्होंने किया भी बहुत कुछ, किन्तु साम्यवाद के स्वाभाविक सिद्धान्त की विवेचना में और अंगों की मुख्यता पर उनका अधिक ध्यान गया, साम्यवाद के विभाजन-प्रकार में भ्रान्तिपूर्ण धारणायें फैलाईं, राजनीतिक अधिकार-प्राप्ति की लेनिन को अधिक फिक्र थी। साम्यवाद के प्रचार के निमित्त ही सब कुछ वह करता था, ऐसा उसका स्वयं कहना था। परन्तु राजनीति से पृथक् हृदय की अनुभूति और मस्तिष्क का विवेक जहाँ अधिक मूर्त्त और महत्वपूर्ण है, वहाँ साम्यवाद की क्रियायें जागरूक रहेंगी। लेनिन की राजनीतिक-अधिकार-माँग के लिए आन्दोलन प्रस्ताव का विरोध नहीं किया जा सकता. परन्तु साम्यवाद की अनर्थमूलक अभिव्यञ्जना, राजनीति के साधारण वर्त्तमान-वातावरण के लिए नहीं होनी चाहिये थी। प्रजातन्त्रवाद के दृष्टिकोण में निम्न या श्रमिक, कृषक जो भी हों एक वर्ग के हैं, परन्तु लेनिन के क्रियात्मक आन्दोलन, मानों मजदूर और श्रमिक को उसे साधारण से पृथक मानता है; विशेषकर मिल, कल-कारखानों के मजदूर ही उसके लिए अधिक दयनीय थे। साधारण प्रजा-नामावली में सबका नाम साथ लिया जाता, कृषकों की व्यवस्था के लिए सामाजिक उद्योग भी होते, किन्तु कर्म रूप में परिणत होने पर नाम लेकर प्रधानता के लिए मजदूर या श्रमिकों का अधिक नाम लिया जाता था, हमेशा। विद्रोह की व्याख्या में भी वैषम्य-भावना का आन्तरिक-स्वरूप अभिलक्षित होता था। मजदूरों को व्यापक जीवन का ज्ञान नहीं था, इसके लिए लेनिन ने प्रयत्न भी नहीं किया। इस समय सिर्फ क्रान्ति, आन्दोलन, अधिकार का ही सब में ज्ञान कराना उसकी दृष्टि में अत्यावश्यक था। साधारण से उठना-उठाना उसके लिए व्यर्थ था। इसीलिए गम्भीर जीवन-दर्शन या कला पर उसने अधिक क्या एकदम ही

*History of the Communist party of Soviet Union—p. 17.

नहीं प्रकाश डाला। मार्क्स के जीवन-सम्बन्धी दर्शन को उसने एक प्रकार से त्याज्य समझा। जहाँ ग्राह्य समझा, वहाँ ग्रहण भी किया, परन्तु अधिकांश, उसकी दृष्टि में अप्रयोगिक ही प्रमाणित हुये। मजदूर-संघ को सबल बनाने के ख्याल से स्वयं उसने अनेक प्रस्ताव उसके सामने रखे, किन्तु साम्यवाद का सैद्धान्तिक, परन्तु दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण जहाँ उपस्थित रहता, वहाँ अन्य निकट उपकरणों का वह आश्रय लेता, अन्य बातों को यह कहकर टाल देता कि यह वर्त्तमान परिस्थिति के बाहर है। प्रजातन्त्रवाद पर एञ्जिल्स ने जहाँ प्रकाश डाला, वहाँ साम्यवाद का ऐसा ही स्वरूप विराजमान था। विरोध करने की न किसी में योग्यता थी, न फ़ुर्सत। हाँ, आरम्भ ही में साम्यवाद के मनोवैज्ञानिकों ने इस आधार पर कुछ निर्णय किया होता तो उसका मूल सुदृढ़ होता। मार्क्स के प्रयोगों को बाहर तक फैलाने की दृष्टि से लेनिन ने जो प्रयत्न किये, वे सब प्रजातन्त्रवाद की पुष्टि के निमित ही हुये। सर्वसाधारण को भी मार्क्सवाद का ज्ञान देना उचित समझा।

रूस के आगे वाले आन्दोलन में इसकी बड़ी जरूरत हुई, आन्दोलन में सहायता मिली। लेनिन ने विद्रोहियों के सामने यह कार्य रखा कि मजदूर-संघ से सम्बन्ध स्थापित किया जाय, तथा राजनैतिक अधिकार उन्हीं लोगों को दिये जायँ। लेनिन ने यह प्रस्ताव किया कि मार्क्सवाद का प्रचार थोड़े से राजनैतिक विचार वाले मज़दूरों के ही बीच न किया जाय, बल्कि साधारण जन-क्षेत्र में भी प्रचार किया जाय और उन लोगों को समय का ज्ञान कराया जाय। साधारण जन-क्षेत्र में प्रचार की इस क्रिया ने उसके बाद होने वाले रूसी-मजदूर-विद्रोह को और आगे बढ़ाने में बहुत सहायता दी। पञ्चायत के निर्णय-नियम के अनुसार चुनाव में प्रजा का नाम पुकारा जाता था, किन्तु जन से पृथक् मजदूर के मताधिकार पर अधिक ख्याल रखा जाता था। साधारण प्रजा-व्यक्ति और अति-साधारण मजदूर के भी दो प्रकार, दो अन्तर थे, नेता की चातुर्य-शक्ति, यहाँ अपने आन्दोलन-बल के लिए प्रसन्न रखती थी। राजनीति की चाल अपना कार्य करती जाती थी। मत-गणना में प्रजा का भी अधिकार था, पर साधारण। अभाव अधिक सताता था और उन्हें भी आन्दोलन में प्राण गँवाने पड़े। परन्तु वर्ग-प्रकार में अन्तर रहा ही।

साम्यवाद का सम-सिद्धान्त यहाँ इसका विरोधक बन सकता है, किन्तु आड़ की क्रिया के लिए उसे चुप ही रहना पड़ता है। प्रजातन्त्र सम्मिलित कार्य करता था, साम्यवाद अर्थ-हित अपूर्ण रहा, उसमें। क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन में कृषक, श्रमिक, मजदूर, प्रजा-व्यक्ति सब ने समान रूप से भाग

लिया। औफिसर-वर्ग इनका विरोधक अवश्य था, किन्तु साम्यवाद ने जहाँ उन्हें बौद्धिक-प्रेरणा दी, वहाँ निम्नों की वास्तविक परिस्थिति समझाई। करुणा की सजगता, उनमें आ रही थी, किन्तु क्रान्ति की आग ने अधिक दबाया, अतः इनसे सहानुभूति न हो सकी। शक्ति के जोर पर, दबाकर जिसकी नींव डाली जाती है, उसमें स्थायित्व नहीं रहता। रूस का मध्यवर्ग पीड़ित था, अतः श्रम-दल का विकास देखना चाहता था। उसकी समझ में साम्यवाद का स्वाभाविक और वास्तविक अर्थ प्रजातन्त्रवाद में अपना कार्य करता तो समाजवाद में भी बल आ जाता। प्रजातन्त्रवाद के कुछ आधार जो साम्यवाद से एक दम पृथक हैं, साम्राज्यवाद से मिल हैं। और साम्राज्यवाद, पूँजीवाद का विशिष्ट अंग है, यह सदैव स्मरण रखना चाहिये। क्रियात्मक रूप, साम्यवाद का अर्थ बोध कराता तो प्रजातन्त्र का सामाजिक आधार पुष्ट होता। संस्कृति-सभ्यता, धर्म का ध्वंस न होकर, परिवर्त्तन लाकर सुधार रूप में राष्ट्र का हित करता, किन्तु आन्दोलन-आँधी के शान्त हो जाने पर सफलता-सूचक चिह्न देखकर अति हर्ष के प्राङ्गण में नेता भूल से गये। स्वरूप-निश्चय में बहुत कुछ छूट गया। साम्यवाद के सिद्धान्त को समझने में और समझ कर प्रयोग में कुछ भूल हो गई। यद्यपि साम्यवाद के विरोधी वे किसी भी दशा में न थे। किन्तु प्रयोग-उपयोग में अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन भी किया। सैद्धांतिक मत-भेद की फिक्र न थी। प्रजातन्त्रवाद और स्वहित साधन समाजवाद के प्रयोग-उपयोग में सुविधा और सतर्कता दोनों थी। किसी भी सिद्धान्त की छाया को शरण नहीं मिलती थी, प्रकट, प्रत्यक्ष मूर्त ही सब होता था। जन-बल के मध्य में निम्न-विचार ही अपना कार्य करते थे। साधारण-स्थिति का परिचय रेकर्ड में रहता था। मध्यवर्ग विवश था, किन्तु उसकी विवशता की चर्चा न होती थी। भारत का मध्यवर्ग, आज से कुछ वर्ष पूर्व 'वृटिश-राज्य' के आरम्भ पाँच वर्ष बाद के औफिसर की पूर्णता रखता था, पर आज वह एकदम विवश हो गया है। निम्न, मध्य, उच्च सब में समता का आरोप करने के लिए रूस का मध्य वर्ग अधिक इच्छुक था। सफलता की प्राप्ति के अनन्तर स्वरूप-निश्चय में सभी समान रूप से स्थिर रहे।

जार के अत्याचार से उच्च को छोड़कर शेष सभी अत्यन्त पीड़ित थे। आन्दोलन बल पकड़ता गया। साम्यवादी भित्ति (उनके जानते सर्वथा उचित) दृढ़ होती गई। परन्तु जितनी ही सबलता बढ़ती जाती थी, उतनी ही प्रजातन्त्र से जार को घृणा होती जाती थी, श्रमिकों पर रोष बढ़ता जाता था। परिणाम में अत्याचार अति पर पहुँचने लगा। जब जार की सरकार ने देखा कि

कृषकों और मजदूरों का विद्रोह देश को एक बहुत बलशाली धारा में बहाये जा रहा है तो उसने इस विद्रोह को शान्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। मज़दूरों की हड़ताल और जुलूस को रोकने के सशस्त्र सैनिक बारबार काम में लाये जाते थे। मज़दूर और कृषकों के प्रत्येक कार्य का उत्तर तत्कालीन सरकार के पास घरों के रूप में सदा प्रस्तुत रहता था। कारागार और देश निकाला की जगहें मज़दूर और कृषकों से लबालब भर गईं। ऐसी स्थिति में प्रजा-तन्त्रवाद का साम्यवाद-सहित आर्थिक विचार, विकास की चरम सीमा पर कैसे पहुँच सकता था। आन्दोलन के आरम्भ-काल में नेताओं ने साम्यवाद और आर्थिक सिद्धान्तों के रूप की बड़ी विस्तृत भूमिका गढ़ी। उस समय मज़दूरों का एक सम्मिलित संघ कैसे बनाया जाय, इस समस्या का समाधान नहीं हो पाता था, और भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उपस्थित किये जाते थे। कुछ लोगों का विचार था कि इस संघ के बनाने के पहले संघ की दूसरी कांग्रेस की बैठक बुलाई जाय जो स्थानीय संस्थाओं को मिलाकर संघ का निर्माण करे। लेनिन इसके विरुद्ध था; उसका विचार था कि कांग्रेस बुलाने के पूर्व संघ के लक्ष्यों और कार्यों का स्पष्टीकरण पहले हो जाय जिससे, यह निश्चित हो जाय कि किस तरह के संघ की आवश्यकता है, तथा यह भी निश्चित हो जाय कि 'आर्थिक' संस्था के मन्तव्यों से इस संघ का क्या विभेद है। और संघ से यह स्पष्ट कह दिया जाय कि संघ के लक्ष्यों की दो विचारधारायें हैं। एक आर्थिकों की और दूसरी साम्यवादियों की। लेनिन का यह भी विचार था कि समाचार-पत्रों द्वारा अपने विचारों का प्रचार किया जाय। जिस तरह 'आर्थिक' लोग अपने पत्रों द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते थे। ऐसा करने से स्थानीय संस्थाओं को यह सोचने का अवसर मिल जाता कि किस तरह के विचारों से वे सहमत हों। लेनिन का मन्तव्य था कि यह प्रारम्भिक किन्तु आवश्यक कार्य करने के बाद ही कांग्रेस की बैठक का बुलाना युक्ति-संगत होता। परन्तु इस समय का साम्यवाद उचित अर्थ लेकर नहीं था, पर उसका आधार कुछ वास्तविक था।

प्रजातन्त्रवाद और साधारण समाजवाद के साथ साम्यवाद का जो सम्बन्ध था, उसकी मान्यतायें जो अपने असली रूप में थीं, इसके विषय में लेनिन ने क़ाफ़ी कहा। जनता को इनका पर्याप्त परिचय प्राप्त हुआ। बहुतों को लेनिन के विचारों से मतभेद था। लेनिन और प्लेखनोव के बीच एक महान् कलह हो गया। परन्तु इससे बोलसेविकों और मेनसेविकों के बीच जो भावी मतभेद होनेवाला था, निश्चित हो गया! यदि वह निश्चय कलह के परिणाम में

न होता तो साम्यवाद का कोई भी स्वरूप संदिग्ध रूप से वर्त्तमान रहता। जीवन-धारणा के साधारण-साधन को जुटाने के लिए आर्थिक सुधार अपेक्षित था, इसके विभिन्न स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोण थे, लेनिन के। और तब तक उसके वास्तविक स्वरूप-निश्चित की संभावना न थी. जब तक साम्यवाद का प्रजातन्त्रवाद के साथ साम्य-साधारण निकट से नहीं मिल जाता। फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों में भी साम्यवाद के अतिरिक्त आर्थिक संयोजक शक्तियाँ ऐसी ही थीं। प्रजा की हित-साधना में अर्थ जहाँ तक सम्बन्धित था, वहाँ तक समाजवाद का दृष्टिकोण रूस की तरह ही था। क्रान्तियों के प्रकार में अन्तर था, परन्तु क्रियाओं में समता-सी थी। यद्यपि अविदित अवस्था में ही फ्रांस समाजवाद की स्थापना के लिए रूस-साम्य एवं अर्थ, तथा उचित अधिकार की रक्षा सम्बन्धी क्रान्तियाँ करता था। रूस के पूर्व उसने कई क्रान्तियाँ की थी। अधिकार की माँग की पूर्त्ति वहाँ भी नहीं की जाती थी। परतन्त्रता वहाँ भी अधिक थी। दु:ख-दैन्य का वहाँ भी राज्याधिकार था। प्रजा का व्यक्ति, मानवता से नहीं, दानवता से पलता था। साम्यवाद की बौद्धिक शक्ति दुर्बल थी। विज्ञान, कला की अवस्था, अपने में सिमटी थी। समाजवाद से थोड़ा भिन्न प्रजातन्त्रवाद के प्रतिकूल जो व्यवस्था थी, उसमें मानव-व्यक्ति की ऐच्छिक क्रियायें अनुकूल वातावरण उपस्थित करती थीं, परिणामतः नेताओं को स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयास या साधन ढूँढ़ने की आवश्यकता न प्रतीत होती थी। साधारण वर्ग में ऐक्य के सभी इच्छुक थे। साम्यवाद का कार्य वहाँ भी होता था, परन्तु उसकी रट लगाकर नहीं, अज्ञात अवस्था में ही। साम्यवाद के सिद्धान्त किसी की नक़ल के नहीं थे, न उधार ही लिए गये थे। हाँ, प्रकारान्तर-रूप से बौद्धिक-विकास-परम्परा के अनुसार उसके मत मान्य अवश्य थे। बहुत पहले रोम में, वहाँ के राजा के अत्याचार से ऊबने के परिणाम में वहाँ की जनता ने विरोध करना चाहा, पर साधन के नितांत अभाव ने जैसे उन्हें मूक बना दिया था। क्रियात्मक शक्ति का नाम तक वे नहीं जानते थे। परन्तु शासन की कठोरता, दमन की अति भावना, साधारण बुद्धि-रहित निर्बल मानव को भी आन्दोलन और क्रान्ति का अर्थ आसानी से बतला देती है। वहाँ धर्म-प्रक्रिया की भिन्नता ही थी। मन्तव्यों, सिद्धान्तों के प्रकार भी विलक्षण थे। मूर्त्त की विशिष्टता से वे अवदित थे। साम्यवाद का कोई भी अर्थ उनके लिए शून्य का अर्थ रखता था, किन्तु आज का जीवित सिद्धान्त प्रजावर्ग में प्रतिनिधियों को प्रिय था। वहाँ का प्रजातन्त्रवाद जीवन को विषमताओं से परे था।

कृषी-सम्बन्धी कार्य-प्रणाली भी विलक्षण ही थी। मजदूर का प्रतिशब्द ढूँढ़े नहीं प्राप्त होता, पर उसकी क्रियायें अवश्य थीं। उच्च-वर्ग की दृष्टि, इस प्रकार संकुचित थी, कि सहज ही किसी भी कार्य से सूचित हो जाता कि वे अत्यन्त मूढ़ एवं अपने आप से भी अपरिचित थे। ज़मीन जोतने की भी विचित्र शर्त्त और व्यवस्था थी। 'रोबेल' ज़मीन्दार के अधिकार का प्रयोग कृषकों में ऐसा करता था, मानों उनके कोड़ों से युक्त मांस को उभाड़ता हो। लाभ का चौथा भाग अर्धांश भी अपने अधिकार के फल में ही माँगता था। शेष की माँग कृषक करते तो परिणाम में अवशिष्ट अपराध में दण्डा-स्वरूप छीन लिया जाता। परिवार की व्यवस्था के लिए अलग उनकी शक्ति का उपयोग होता था। आर्थिक कोई स्वरूप ही निश्चित नहीं था। न इसकी कोई ज़रूरत समझी जाती थी। परन्तु सर्वदा की ऐसी परिस्थिति न थी। गाँव, गाँव इसलिए जला दिये जाते थे कि धर्म की परम्परा का शत्रु साधारण जनता क्यों नहीं है। 'राज' को ईश्वरत्व की भावना से पूर्ण क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है, ईश्वर की समस्त क्रिया का संचालन जब राजा-मानव द्वारा ही होता है, तो उसी निष्ठा, श्रद्धा, विश्वास की दृष्टि से वह क्यों नहीं देखा जाता। समाज के स्वरूप में अनुकूल स्वार्थ की प्रवृत्ति अधिक थी। प्रजा की ज्ञानेन्द्रियाँ जैसे मरी ही पैदा हुई थीं। जीवन-प्राण का मानो कोई संचार ही न था। जाति सम्प्रदाय की विभिन्नता भारतीय ही प्रतीत होती है। साम्यवाद की शिक्षा का किसी ने श्लाघनीय प्रयत्न नहीं किया। संस्कृति-सभ्यता का उद्देश्य ही भारतीय स्वरूप पर अवलम्बित दृष्टिगोचर होता था। अवस्था में कुछ वांछनीय परिवर्त्तन भी हुए, जो बुद्धि-प्रधान थे। मानव की क्रियायें जागरूकता की ओर अग्रसर हुईं। व्यक्ति की सत्ता डोल उठी, अधिकार का हठ-प्रयोग ढीला हुआ किन्तु प्रबल इच्छा रहने पर भी साम्यवाद का विशिष्ट सैद्धान्तिक स्वरूप अविदित परिस्थिति में रहा। परन्तु विकास स्थल ने मानव की मूढ़ता दूर करने में विशेष सहायता न की। मानव-प्रवृत्तियाँ सदा जागरूक रहें, लेनिन की यह प्रबल इच्छा थी। प्रजातन्त्रवाद एक स्वतन्त्र निम्नों की इच्छा के परिणाम में स्वाभाविक क्रियात्मक जीवित प्रयोग-केन्द्र है। उसमें उचित अधिकार सुरक्षित रहता है! साम्यवाद जीवन को जीवन, कला के आवरण से दूर समझने का अवसर देता है। बल-वैभव का प्रयोग भी साम्यवादी सिद्धान्त सिखाता है। वह विभिन्न, विभेद को 'कोष' से दूर वर्ग की समता के स्वरूप का निर्देशकर प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद दोनों के लिए समान श्रेणी का निर्माण करता है और साथ ही मानवेतर प्रकृति को दूर, सुदूर

प्रान्तों से भी दूर भगा देने का स्तुत्य प्रयास करता है। दीप के प्रकाश की तरह विस्तृत हो फैलाता है, पर उसी की तरह उसके तले अँधेरा नहीं रखता, स्वतः भी देखता है।

रूस के साम्यवाद में समाजवादी क्रान्ति की आग नहीं रहती तो वहाँ इसका बड़ा अच्छा विकास होता। इसके साधन वहाँ ढूँढ़ने न होते। जहाँ क्रान्ति ने सफलता पाई, तत्त्वण ही समाजवाद की व्यवस्था निर्धारित हुई, वहाँ साम्यवाद पृथक् सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जाता तो उसकी भी स्वाभाविक व्यवस्था और कल्याणकारी मार्ग निर्धारित होता। फ्रान्स की अपेक्षा अधिक सबल रूस ही था। मानव की मानवता (उनके जानते) जब कार्य करने लगी, तब किसी भी हितकरवाद की स्थापना में कोई अड़चन नहीं आ सकती थी। इसके लिए निश्चय ही प्रशंसनीय उद्योग या प्रयत्न हुये, किन्तु अर्थ-ग्रहण में, दृष्टिकोण में अन्तर होने के कारण वास्तविक उचित-व्यवस्था न हो सकी। परन्तु इतना तो इस दृष्टि से मानना ही होगा कि अन्य देशों के क्रान्ति में सफलता रूस की तरह न प्राप्त हुई, और साम्यवाद को वहाँ अधिक प्रश्रय मिला। हाँ, हिंसा-क्रूरता इसकी जड़ में न होती तो बहुत सम्भव था वहाँ का साम्यवाद भारत के लिए अनुकरणीय एवं माननीय होता। परन्तु साम्यवाद समाजवाद की अपेक्षा आज भी यहाँ विशेष अमान्य इसलिए नहीं हो सकता कि बौद्धिक विकास का मार्ग उसी प्रकार का भारत में भी ढूँढ़ा जाता है। और भारत के प्रतिकूल समाजवाद की तरह संस्कृति सभ्यता का ध्वंस भी साम्यवाद नहीं चाहता। भारत को कदापि यह सह्य न होगा कि यहाँ का समाजवाद भारतीय संस्कृति का मूलोच्छेद कर दे। और यह सर्वविदित है कि बुद्धि की प्रधानता स्वीकार करने में रूस भूल जाता है कि संस्कृति भी कोई वस्तु है। अज्ञानवश ऐसा होता तो मान्य भी था, वरन् जान-बूझकर समाजवाद का इसे शत्रु समझ, विनष्ट ही कर देने का भारत की दृष्टि में घृण्य प्रयत्न हुआ। आर्थिक विषमताओं को दूर करने और प्रजातन्त्रवाद का अपवाद स्वरूप समभाव के प्रेम की व्यवहार में लाने के लिए क्रियात्मक और व्यावहारिक रचनात्मक कार्य का रूप लेनिन ने खींचा। इस नूतन विचार को काम में लाने के निमित उसने दो सिद्धान्तों से काम लिये। पहला तो मार्क्स का अनवरत विद्रोह जारी रखने का सिद्धान्त था, दूसरा कृषकों के साथ साधारण जनता के मिलने का सिद्धान्त था। इस बात को मार्क्स ने 'एन्जिल' के पास एक पत्र लिखकर सूचित किया था, साथ ही यह भी लिखा था कि जर्मनी का भाग्य इन्हीं दोनों की सम्मिलित-शक्ति पर निर्भर

करता है। मार्क्स का यह सिद्धान्त उनके या एञ्जिल के कार्यों से तो अधिक अग्रसर नहीं हुआ, बल्कि उनके बाद वाले द्वितीय सम्मेलन ने इन सिद्धान्तों का अन्त कर देने का प्रयत्न किया। इन भूले हुए सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने तथा इसको अग्रसर करने का श्रेय लेनिन को है। लेनिन ने इसके अवश्यम्भावी मिलन के सिद्धान्त काम में लाकर एक साम्यवादी विद्रोह खड़ा कर दिया। जिससे विजय निश्चित हो गई।

किसी भी बाह्य मूल सिद्धान्त में अपने अनुकूल परिवर्त्तन कर लेनिन अपने हित उसे उपयोगी सिद्ध कर लेता था। यह उसका एक विशिष्ट गुण और विलक्षण बौद्धिक बल था। आवश्यक वस्तु की ग्रहण-शक्ति प्रशंसनीय थी। उसके अपने विचार विश्वस्त और सुदृढ़ प्रतीत होते थे। आत्मविश्वास, आत्मबल, उद्‌बोधन का कार्य करते थे; आत्म-प्रवञ्चना न थी। यही कारण था कि रूस की जनता में अब भी वह अमर बनकर जी रहा है। और भविष्य के इतिहास पृष्ठ में जीवित रहेगा। जहाँ उसका त्याग, तप, बल था, वहाँ विचारों में दृढ़ता और संयम का अभाव न था। सहिष्णु-भावना भी युद्ध में उसकी जीत करा देती थी। उसकी प्रमुख प्रक्रियाओं में साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद का क्रियात्मक स्वरूप निश्चय करता है।

साम्यवाद और अर्थ

आर्थिक-योजना निर्धारित करने के समय साम्यवाद की क्या स्थिति होगी, यह कह सकना कठिन है। रूस की साम्यवादी-स्थिति, भारत में भी उसी रूप में हो जाय तो भारतीय-समाजवाद सर्व-वर्ग के उपयुक्त प्रशस्त कल्याणकारी मार्ग नहीं निकाल सकता, फलतः अराजकतावाद को प्रश्रय मिलेगा। अर्थ का अभाव श्रमिकों को विवश करता है, आन्दोलन और क्रान्ति करने के लिए। उत्पत्ति के साधनों को एकत्र करनेवाले उच्चवर्ग अर्थ के पोषण के निमित्त महान् से महान् दुष्कर्म करते हैं। श्रमिक इसको लोलुप दृष्टि से देखता है, सिर्फ़ इसी ख्याल से कि भूख की विवशता उसे बेचैन किये रहती है। परन्तु 'पूर्णता' का अत्यन्त अभाव, 'अर्थ' के लिए उसे अन्त तक लोलुप बनाये रहता है। यदि अभाव की पूर्ति हो गई तो अन्य आवश्यकतायें भी उसके आगे नाचने लगती हैं, जिनकी पूर्त्ति के लिए वह फिर लोलुप बन जाता है। जो जितनी सतह से ऊपर उठता है, उतनी ही उसकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। युग का क्रमिक-विकास इसमें सहायता करता है।

एक समय था, जब बिना कपड़े के कार्य चलता था। छाल-चर्म ने

नग्नता छिपाई। अनन्तर कपड़े की मिस्टी बनाई गई। फिर कमीज, शर्ट बने, कलर की डिजाइनें बनीं। परिस्कार के लिए जल पर्याप्त था, साबुन, सोडा का निर्माण हुआ। यों ही धीरे-धीरे मानवीय-विकास के अनुसार हमारी आवश्यकतायें बढ़ती गईं, जो स्वाभाविक थीं। श्रमिकों का अभाव भी घटने के बजाय बढ़ता ही जायगा। साम्यवाद निश्चित साम्य का प्रचार और प्रयोग करे तो शायद समाजवाद ही उनके उपर्युक्त अवश्यकीय समस्त अभावों की पूर्त्तिकर, एक ऐसी व्यवस्था करेगा जो सम्पूर्ण, किन्तु सीमित प्राणरक्षा के लिए आर्थिक सम-योजना बनायेगी।

यह योजना श्रमिकों को भोजन प्रचुर-परिमाण में देगी। आवश्यकतायें बढ़ेंगी नहीं चूँकि ऐसा कोई मार्ग नहीं रहेगा जो उनको आगे विस्तार (आडम्बरपूर्ण) करेगा। वैसी कोई प्रदर्शनी नहीं करेगा जो श्रमिकों को अपनी ओर विशेष आकृष्ट करेगी। साम्यवाद उनके लिए ऐसे कर्त्तव्य की रूप-रेखा स्थिर करता है, जिसमें वे लगे रहते, वाह्य वातावरण की फ़ुर्सत नहीं मिलती। श्रम की जो पूँजी उनके लिए संगृहीत होती है, वह उनकी प्राण-रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं होती। अर्थ का अभाव, मानव को लूट-खसोट लेता है।

श्रम का सम-विभाजन ही अपने अनुसार, बिल्कुल अनुकूल अर्थ को अभीप्सित बना देगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि श्रम की क़ीमत साम्यवाद के आधार पर आँकी जाय तो श्रमिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति सुविधा-पूर्वक कर सकता है। इसमें समाज की क्रियात्मक-शक्ति की सदुपयोगिता भी हो सकती है। श्रम के निमित्त उचित अर्थ की व्यवस्था के सुधार में उसके सिद्धान्त माननीय होंगे। हाँ, जिन्हें समाजवाद की ओट में पूँजीवाद को पुष्ट बनाना है, उनकी शक्ति का ह्रास हो जायगा, उन्हें इस दिशा की ओर सफलता नहीं मिल सकती है। श्रम से लाभ उठानेवाले सोलह आने अपनी स्वार्थ-साधना करेंगे तो वे अर्थ पर एकाङ्गी ही भाव से विचार करेंगे। न अधिक तो सिर्फ़ श्रमिकों की आवश्यक पूर्त्तियाँ ही हो जायँ तो भी उनका व्यक्तिगत लाभ हो जाता है, किन्तु सिर्फ़ लाभ पर उनकी दृष्टि रहती नहीं, अति लाभ के लिए वे श्रमिकों को वेतन या मजदूरी देते हैं।

साम्य का व्यक्तिगत भाव उनमें इसका आरोप कर दे कि अतिलाभ की भावना क्रान्ति या आन्दोलन को जगह देती है, जिसमें तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, तुम्हारी समस्त पूँजी का विनाश क्षण में ही हो जायगा, तब शायद मूल में अर्थ का स्वरूप सब वर्गों के मूल में एक सबसे बड़ा अर्थ प्रमाणित हो। अर्थ का सैद्धान्तिक रूप भी साधारण से साधारण श्रम पर ही निर्भर करता है।

व्यापारी की शोषण-प्रकृति (जो लाभ का घर है श्रम का अर्थवाला रूप नहीं मानती; परन्तु साम्यवाद के पोषक की फ़िक्र न कर बौद्धिक सुधारे हुये, समाजवादी-व्यापारी का निर्माण करने में अपने व्यावहारिकता पूर्ण सिद्धान्त को काम में लाना चाहिये; अन्यथा, उत्तरवाली आर्थिक योजना भी श्रमिकों के पक्ष में घातक ही सिद्ध होगी। परिश्रम, पूँजी के एकाधार को स्वीकार-कर भूख-समस्या के अतिरिक्त साधारण अभाव दूर करने के लिए बौद्धिक क्रिया के अनुसरण में अर्थ की मूलगत व्याख्या-जीवन धारण के लिए हो, और मानवीय विकास के लिए भी। जहाँ है, वहाँ से उठने के लिए आर्थिक सदन का प्रश्रय लेना अनिवार्य है।

स्थिरता, आलस्यपूर्ण प्रवृत्तियों को और जगाती है। अतः हिल-डोल भी जीवन के लिए आवश्यक है। और यह हिल-डोल तभी हो सकता है, जब साम्यवाद का आर्थिक-दृष्टिकोण सन्तोषप्रद हो। उच्च वर्ग को जब यह ज्ञान हो जायगा कि श्रमिकों की कीमत सिर्फ़ प्राण-रक्षा ही नहीं, अपितु मानव बनकर जीना है तब श्रमिक अपने को नितान्त अभाव-प्राङ्गण में नहीं पायेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि वे दूना श्रमकर, दूना अर्थ संग्रह करेंगे। अर्थ-संग्रह, पूँजीवाद को विकास पर नहीं अग्रसर करायेगा। यह अर्थ संग्रह श्रमिकों की ही एक दिन विवश अवस्था में सहायता करेगा। विश्वजनीन भावना का रूप जो साम्य और अर्थ दोनों से सम्मिलित और प्रभावित है, मध्य-वर्ग के लिए श्रेयस्कर है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण निम्न न हो तो कमकर वर्ग भी उससे पर्याप्त लाभ उठा सकता है।

साहित्य की भावना और कर्त्तव्य भाग मानवोचित धर्म की सृष्टि और व्याख्या करना चाहेगा तो उसे मुख्यतः इस आधार को पुष्ट करना होगा कि जीवन-तत्त्व के विश्लेषण में भूल नहीं करनी चाहिये। परिवर्त्तन के चक्र पर अधिक विश्वास करना होगा, और नवीनता के सुधरे रूप का स्वागत। जीवन का उद्देश्य समझने के लिए विचारों में सजीवता-सजगता दोनों रखनी चाहिये और क्रियायें में गतिशील रहनी चाहिये। साहित्यकार को उस साम्य-अर्थ से सम्मिलित विचारों और निष्कर्षों की प्राप्तिकर, इसकी व्यापक गति-शीलता के लिए ही लिखना चाहिये।

जीवन की विषम परिस्थितियों का हमेशा दास नहीं बना रहना चाहिये। दासत्व की भावना, मनुष्य में हीनता-दीनता दोनों भरती हैं। अपूर्ण, असंगत, असन्तुष्ट श्रमिक-जीवन की गतिशीलता के भूमिका-पृष्ठ भरे जाने चाहिये। इसी नैतिक-आधार भाव के आरोप के कारण रोम्याँ रोला ने लिखा है :—

मैंने हमेशा उन लोगों के लिए लिखा है, जो गतिशील हैं। मैं सदैव गतिशील रहा हूँ। और आशा करता हूँ कि जीवित रहूँगा, कभी स्थगित न होऊँगा। मेरे लिए ज़िन्दगी का कोई अर्थ ही न रहेगा, यदि वह अर्थ ही न रहेगा, यदि वह गतिशील नहीं है जीवन की प्रगति, आगे बढ़ानेवाली तो होनी ही चाहिये। और इसलिए मैं जनता के और उन वर्गों के साथ हूँ जो संगठित श्रमजीवी वर्ग और उसके साम्यवादी सोवियट प्रजातन्त्र-संघ के साथ मिलकर मानवता की सरिता के लिए पथ-निर्माण कर रहे हैं।*

मनोवैज्ञानिक स्थिति को सँभालने के लिए मानव-विकास के सोपान को 'अर्थ' की सीमित व्याख्या में ही रखना होगा। यद्यपि सीमित-व्याख्या का अन्यपरक अर्थ लगाकर मानव-जीवन को भी लोग सीमित ही सिद्ध करने लग जायँगे। फलतः रूस की वृत्ति का जगना स्वाभाविक होगा। हमीं-हमीं की सुख-भावना सब में व्याप्त हो जायगी, साम्यवाद की अब तक की क्रियायें यहाँ व्यर्थ और अप्रासङ्गिक सिद्ध होंगी। अर्थ का प्राबल्य एक हो, पुनः उसी उच्च वर्ग में रहेगा। श्रमिक का अभाव-घर ज्यों का त्यों अपनी जगह खड़ा रहेगा। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये वे बेचैन के बेचैन रहेंगे। विभिन्न उत्पादन केन्द्रों के विभिन्न श्रमिकों के लिये उचित व्यवस्था करनी चाहिये। 'अर्थ' की सङ्कीर्णता मनुष्य की पूर्णता में भी अपूर्णता भरती है। किसी भी कार्य को साधने के लिए अर्थ की सङ्कीर्णता कदापि नहीं रहनी चाहिये, अन्यथा मालिकों की आकांक्षाओं की पूर्त्ति सम्भव नहीं, वरंच इसका अवसर देकर भावी-क्रान्ति की आग-लपटों को वे निमन्त्रित करेंगे।

इससे यही अच्छा होगा कि साम्यवाद के व्यावहारिक-सिद्धान्तों को कार्य और प्रयोग में प्रयुक्तकर अर्थ का विभाजन, श्रमिक-हित के उपयुक्त करें। श्रमिकों के वर्ग के व्यक्ति, व्यक्ति में विभिन्नता के अतिरिक्त उत्पादन-साधन में भी भिन्नता रहती है, अतः अर्थ का विभाजन भी उसीके अनुरूप होना चाहिये। कोयला के खानों के मज़दूर वस्त्र-मिलों के मज़दूर, एलेक्ट्रिकल-मज़दूर आदि उत्पत्ति-साधनों के मज़दूरों की आवश्यकतायें, उनके अभाव, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं अल्प-अधिक होंगे।

आर्थिक-योजना में इसका प्रश्न अवश्य मूर्त्तिमान होकर रहे कि कोष से उतने ही श्रम की क़ीमत चुकाई जाय, जो अपनी-अपनी श्रेणी में स्थित व्यक्ति के अभाव को दूर करने में सर्वथा पूर्ण एवं सफल हो। मध्यवर्ग, क्लर्की-

---

* कर्मवीर से

जीवन-यापन करनेवाले व्यक्ति को भी हम रूस का व्यक्ति बना दें या उसकी भी व्यवस्था निम्न-वर्ग के अनुसार ही कर दें। अन्यथा यह बौद्धिक-वर्ग भी ऊबकर आकुल-व्याकुल हो, क्रान्ति की आग सर्वत्र फैला सकता है। और बराबर इस प्रकार की क्रान्तियाँ होती रहीं तो देश सर्वप्रकारेण पूर्ण आर्पित होता हुआ भी ऐसा वातावरण उपस्थित कर देगा कि विशेष-वर्ग अवश्य ही पीड़ित और शोषित अवस्था में ही रहेगा।

साम्यवाद की जीवित, क्रियात्मक-शक्ति यदि बल दिखलाये तो शायद सामूहिक रूप से सर्व-वर्ग एक हो-सा पीड़ित रहेगा, किन्तु भारतीय सांस्कृतिक आधार, साम्यवाद का पूर्ण व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों रूप स्वीकार करे, तब यहाँ सम्भव हो सकता है रूस में मध्य-बौद्धिक वर्ग की स्थिति को सँभालने के लिए दूसरी आर्थिक-भित्ति सुदृढ़ है। परन्तु प्रजा-वर्ग को सन्तोष देने के लिए इसी आर्थिक-अवस्था को उनके सम्मुख दूसरे रूप में रखा जाता है। सम्मानित अधिकारीवर्ग सामाजिक-शक्ति की निर्बलता नहीं व्यक्त करने के लिए ही ऐसा करता है। साम्यवाद का दृष्टिकोण जो आन्तरिक रहता है, यहाँ असफल हो जाता है।

बाह्य वातावरण को सँभाले रखने के लिए साम्यवाद को सबके सम्मुख रख, उसीका अपने को अनुग बताते हैं। मध्य-वर्ग इसे इसलिए नहीं खोलता कि व्यक्ति-रूप में उसकी हानि है। दूसरी बात यह कि इसकी बुद्धि उसे दे दी गई कि इसमें उनका लाभ अधिक है। और अधिकारी-वर्ग के प्रति उनकी भावना भी अच्छी ही बनी रहती है। मध्य-वर्ग इसे समझाता है कि आगे चलकर सामाजिक परिस्थिति जब सबल, सुदृढ़ हो जायगी तब निश्चय ही सब के सब उपयुक्त रूप से अच्छी और कल्याण करनेवाली प्रमाणित होगी, परन्तु व्यावसायिक-दृष्टिकोण उनमें परिवर्त्तन भी ला सकता है। समाजवादी सरकार अपने सिद्धान्त के अनुसार व्यवसाय के उत्पत्ति-लाभ के लिए अनुकूल जो आर्थिक-योजना बनायेगी, सम्भवतः वह साम्यवाद से प्रभावित व्यक्ति के हित में उचित न होगी। वर्ग-संघर्ष को पुनः अपनी क्रियाओं को आरम्भ करने की सम्भावना होगी। यहाँ पर पूर्व-पीठिका की आकृति व्यवहार में करनी ही होगी।

व्यक्तिगत व्यवसाय की आय की जो टैक्स लगेगी, वह समाजवाद के प्रतिकूल समझी जानी चाहिये। राष्ट्र की रक्षा या अचानक आ पड़नेवाली विपत्तियों, आक्रमणों का सामना करने के लिए टैक्स की उचित रकम का संग्रह अनुचित नहीं है, परन्तु शोषण के आधार पर चलकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, लाभ

की दृष्टि से अधिक टैक्स अनुचित है। भूमि-सम्पत्ति की आय मानव-रक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इसके उचित और हितकर प्रयोग के लिए चाहिये कि साम्यवाद के सिद्धान्तों को अपनाकर समाजवादी सरकार का सूत्र-नायक अपने हाथ में इसका प्रबन्ध रखे। सर्वप्रथम सब वर्ग मिलकर जो एक वर्ग बनेगा, उसके प्रत्येक परिवार को भूमि-उत्पत्ति के सबल साधन के उपयोग प्रयोग में लगा दे।

व्यक्ति-व्यक्ति की भूख मिटाने का एक साधन है, अन्न। इसकी उपज की वृद्धि पर वही अधिक ध्यान दे। परन्तु अपनी योजनाओं में एक ऐसा नियम रखे जो सबको बाध्य करे भूमि-कर्म में जुटाने के लिए। द्रव्य-अर्थ की अपेक्षा अन्न-अर्थ अधिक महत्त्व रखता है। इसके अर्थ के उचित बँटवारे के लिए किसी को भी साम्यवाद की शरण लेनी होगी अन्यथा समाजवाद की न कोई व्यवस्था हो सकती है; न उसका कोई स्वरूप ही। जमींदारों के नियम-उपनियमों का अनुसरण करना, समाजवाद को निर्बल और स्वार्थी सिद्ध करना है।

कृषक जब भूख से निवृत्ति हो जायँगे तब समाजवाद की उचित व्यवस्था के कारण वे भूमि के अधिक उत्पादन में पर्याप्त सहयोग देंगे। लगान की जगह ऐसी कोई व्यवस्था कर देनी चाहिये जो आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति-लाभ को सहज ही में सरकार आत्मगत कर ले। प्रत्येक परिवार की जन-गणना के द्वारा अनुमान (जो सत्य होना चाहिये) के आधार पर व्यक्तियों के लिए भूमि-लाभ के भाग का वितरण कर दे, शेष कोष में रखे, परन्तु इसका नियम ऐसा होना चाहिये जो किसी को भार न प्रतीत हो।

भूख की समस्या के अतिरिक्त व्यक्ति के साधारण अभाव की पूर्त्ति के लिए भी लाभ के भाग में वृद्धि कर दे; ऐसा करने से आवश्यकता पड़ने पर और कार्यों में भी ये व्यक्ति सहज ही में अपना सहयोग बड़ी तत्परता से देंगे। एक प्रकार से सरकार के लिये ये सबल सैन्य सिद्ध होंगे और सरकार को अन्य क्षेत्रों की उन्नति के लिए भी सदा तत्पर रहेंगे। अनेक दुस्सहाय साधनों को ढूँढ़ना न होगा। भूमि-लाभ का उपयोग भी समय पर उनके सामने उन्हीं के लिए होना चाहिये।

आरम्भ ही में ऐसा करने की आवश्यकता होगी, पीछे विश्वास-बल प्राप्त कर लेने पर लाभ, सम्पूर्ण लाभ के उपयोग के निमित्त भी समाजवादी-सूत्रधार को सहज ही अधिकार प्राप्त हो सकता है।

सर्वसाधारण जनता को इसमें कोई आपत्ति न होगा। भूमि आर्थिक भित्ति की रक्षा करने की उन्हें ही फ़िक्र होनी चाहिये। और यह तभी होगा जब सूत्रधार उनमें इस भावना का आरोप कर दे कि जो कुछ हम कर रहे हैं उसमें न किसी का पक्ष, न स्वार्थ है। लाभ के भाग के वितरण में भी प्रतिबन्ध होना चाहिये। कृषकों के उन सम्पूर्ण अभावों की पूर्त्ति करनी चाहिये, जो आवश्यक और उचित हैं। इतने अभाव या इतने नियम अवश्य होने चाहिये जो पूर्त्ति के लिए विवश, वाध्य करें, हाथ-पैर हिलाने को। अन्यथा उनकी वृत्तियाँ दूषित हो जायँगी। आलस्य घर कर लेगा, फलत: उन्नति की चेष्टा-प्रचेष्टा कुछ नहीं होगी, और समय आने पर आत्म-रक्षा में भी वे असमर्थ, नितान्त निर्बल प्रमाणित होंगे।

फ्रान्स को जब तक अपनी स्वतन्त्रता पर अभिमान था, कर्म पर विश्वास और गौरव था, तब तक कोई भी राजसत्ता उसका कुछ न बिगाड़ सकी। अभाव की सम्पूर्ण पूर्त्ति हो जाने पर इस प्रकार उसमें आलस्य भर गया कि किसी भी कार्य के लिये उठने-बैठने, हाथ-पैर हिलाने को वह प्रस्तुत न था। भविष्य पर सोचना मूर्खता समझता था। वर्त्तमान के आनन्द-उल्लास में निमग्न रहने के लिए सब कुछ करना, अपना उचित और श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि उद्योग-धन्धे (वैज्ञानिक) रुक गये। शक्ति का एक दम ह्रास हो गया और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता खो दी। आक्रमण का सामना करने की उनमें कोई शक्ति शेष न थी। हार स्वाभाविक थी, साम्यवाद का सम-सिद्धान्त भी ऐसा होने में कभी सहायता करता है, किन्तु बुद्धि का प्राबल्य हो जाने पर इसका अवसर ही वह नहीं आने देता है, अपरिपक्व अवस्था में ही इसका अवसर आता है। भूमि की उत्पत्ति को सदैव उपयोगी बनाये रखने के लिये जब सबको समान रूप से प्रयत्न करना होगा, तब आलस्य या अकर्मण्यता नहीं आ पायेगी। साम्यवाद का बौद्धिक-दृष्टिकोण सफल हो जायगा तो भूमि की आर्थिक-व्यवस्था सुदृढ़ और सुसंयत हो जायगी। अर्थ-संग्रह को हमेशा सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इसकी प्रधानता में यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि वैज्ञानिक उन्नति सर्व-प्रकारेण अनिवार्य है। सांस्कृतिक-विकास के लिए नूतन अनुभव-अध्ययन भी उपेक्षित है।

विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति होने पर भावी आपत्ति को जगह नहीं मिलेगी। परन्तु विज्ञान के मूल सिद्धान्त में यह भावना न रहे कि मानव-विनाश के लिये ही इसका निर्माण और विकास हो। साम्राज्यवाद का स्वार्थ

प्रवृत्ति और युद्ध का भीषण, भयङ्कर वातावरण विज्ञान को विनाश का सबसे बड़ा साधन मानने और बनाने को अपने जानते श्लाघनीय प्रयत्न कर रहा है, पर विनाश-साधन की आगे चलकर कोई महत्ता सिद्ध न होगी। विज्ञान की उन्नति का अर्थ, मानव का विनाश नहीं। मानव की बुद्धि के विकास का द्योतक अवश्य सिद्ध होता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण नूतनता लाने के लिए मानव का यह विनाश आवश्यक समझता है। किन्तु सृष्टि के परिवर्तन के निमित्त और झूठ की नवीनता को लाने के लिये सहृदय, निरपराध मानव का व्यर्थ में विनाश, निन्दनीय एवं घृणास्पद है।

अस्वाभाविक नूतन परिवर्त्तन क्षणिक और घातक सिद्ध होता है। अपनी सूक्ष्म बुद्धि और अतुलनीय बड़ी शक्ति, असाधारण योग्यता का परिचय देने के लिए विज्ञान की आवश्यकता होती है। मानव का विकास भी इस पर निर्भर करता है। इसके आनन्द-साधन को भी एकत्र करता है। कुछ की दृष्टि में रक्षा या विनाश के निमित्त विज्ञान समरूप से दोनों पर विजय पाने का अधिकार रखता है। इस विचार की अनावश्यकता के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होना चाहिये कि रक्षा करना, मानव-धर्म है, विनाश, दानवता का परिचायक या द्योतक है। और मेरे जानते किसी को भी दानवता इष्ट न होगी। विज्ञान की उन्नति में अर्थ की अधिक आवश्यकता है।

साम्यवाद पर अवलम्बित रहनेवाला समाजवाद कल-कारखाने के मजदूरों के आवश्यक अभावों की पूर्त्ति सुविधापूर्वक कर देता है, तो यहाँ भी मजदूर अपने श्रम को दूनाकर सहयोग दे सकते हैं। परिवार की फ़िक्र से दूर रहने के कारण, कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ये विज्ञान की स्वाभाविक-उन्नति के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देंगे। श्रम का निस्वार्थ व्यय समाजवाद की पुष्टि करेगा और अपने हित का अंग समझकर विज्ञान की उन्नति भी। इसके पूर्व ही जब वह देख लेगा कि वर्गिक-भिन्नता को प्रश्रय नहीं ही दिया गया है, मेरे आवश्यक अभावों की पूर्त्ति कर दी गई है तो समाजवाद कौन-सा स्वार्थ मेरा अहित करेगा, अतः प्राण-पण से इसकी उन्नति करना मेरा प्रधान कर्त्तव्य है।

साम्यवाद की अराजकता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखेंगे, साम्यवाद का दृष्टिकोण सबके हित-पक्ष में उचित आर्थिक व्यवस्था करेगा। समाजवाद का सिद्धान्त उन्हें यह समझने का अवसर न दे कि अपने स्वार्थ में बल देने के लिए चातुर्य के सहारे समाजवाद के नायक, अधिनायक व्याजरूप से हमारे श्रम का लाभ उठाते हैं। समाजवाद की व्यवस्था को इसका अवसर देने का अनेक कारण मिल सकता है, किन्तु

साम्यवाद ऐसा समझने का अवसर नहीं देता। वह समझा चुका होता है, कि अनेकता को दूर करने के लिये, व्यक्ति की प्रधानता हटाने के लिये ही हमारे सिद्धान्त निर्मित हैं, अतः तुम्हारी प्रवृत्ति निस्वार्थ रूप से राष्ट्र को सबल बनाने की होनी चाहिये। इधर समाजवाद इसीको सिद्ध करने के लिये ऐसी आर्थिक व्यवस्था करेगा जो उनके पक्ष में सहायता और पूर्त्ति का कार्य करेगी, फलतः विश्वास हो जायगा, हमारा यह करना कल्याणकर ही है। मज़-दूर, कृषक की आवश्यकतायें अलग-अलग विभिन्न-रूप में हैं, इनके अभावों में भी भिन्नता है, अतः इनकी पृथक्-पृथक् आर्थिक-व्यवस्था होनी चाहिये।

समाजवाद का सूत्रधार, साम्यवाद को प्रत्येक परिस्थिति में समक्ष रख-कर कार्य करेगा तो जनता में विश्वास का पात्र बनेगा और ठीक उसीके अनुरूप आर्थिक व्यवस्था बनाने में उसे सफलता मिलेगी। स्वार्थ और लोभ की भावना किसी भी वाद को अधिक दिन तक नहीं चलने दे सकती। उसकी जड़, उसकी नीव सदैव हिलती-डुलती रहेगी। समाजवाद सिर्फ़ अपने सिद्धान्त को लेकर चलेगा तो शायद उसमें स्वार्थ और लाभ ही रह जायगा। साम्यवाद के सिद्धान्त ही ऐसा प्रकार स्थिर करते हैं, जो इससे सदैव दूर भागते हैं। साम्यवाद, इनको पसरने की जगह ही नहीं देता, परिणाम में स्वतः कल्याण-कर आर्थिक-योजना बनेगी।

साम्यवाद का लोभ और स्वार्थ, साम्राज्यवाद की क्रियाओं को सजग करता है। आगे चलकर यही रूप ऐसा ले लेगा जो वर्ग और श्रेणी का निर्माण करेगा। वर्ग-संघर्ष की पुनः आवश्यकता होगी। परिश्रम को आर्थिक-दृष्टिकोण से मापने के लिये श्रमिकों के अभावों, आवश्यकताओं पर भी दृष्टि डालनी चाहिये। साधारण-सम्पत्ति की रक्षा का भार एक व्यक्ति पर नहीं होना चाहिये। प्रजा की व्यवस्थापक-मण्डली इसकी देख-रेख और वृद्धि का ख्याल करे :—'परिश्रम के महत्त्व' के सिद्धान्त को मानकर चलनेवाले बड़े-बड़े अर्थशास्त्रविदों को जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, वे शीघ्र ही समाप्त हो जा सकती हैं यदि वे परिश्रम की शक्ति के सिद्धान्त को मान लें।

वर्त्तमान धनिकों के समाज में परिश्रम की शक्ति का रूप वस्तुओं के रूप में देखा जाता है। यद्यपि यह और वस्तुओं के ही समान है, फिर भी इसमें कुछ विचित्रता है। इसमें विशेष शक्ति यह है कि इसमें अर्थ की उत्पत्ति होती है। यह अर्थ का खज़ाना है—और ऐसा खज़ाना जिसका व्यवहार यदि समुचित-रूप से हो तो इसकी प्राकृतिक शक्ति से अधिक शक्ति पैदा कर सकता है।

वर्त्तमान उत्पत्ति की स्थिति में एक मज़दूर दिन भर में केवल उतने से ही अधिक नहीं, जितनी उसमें शक्ति है या जितना उसमें खर्च होता है, पैदा करता है। वरन् वैज्ञानिक अनुसन्धानों और यान्त्रिक आविष्कारों के कारण उसके ऊपर जो दैनिक खर्च है, उससे उसके द्वारा दैनिक उत्पत्ति दिनों दिन बढ़ती जाती है, और मालिक को उसे रोज़ देने में जितना खर्च पड़ता है, उतना जमा लेने के समय दिन पर दिन घटता जाता है। यों कहिये कि दैनिक कार्य करने का वह समय, जिसमें काम करके वह अपने मालिक को मानो उपहार देता है, और जिसके लिए उसे कुछ भी नहीं मिलता, बढ़ता जाता है। वस्तु सम्पत्ति के लिए परिश्रम जो अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है, उसकी किसी भी अवस्था में उपेक्षा नहीं हो सकती।

मालिक का व्यापारिक विचार दृष्टिकोण श्रम की उतनी ही क़ीमत समझता है, जितनी से मज़दूर मुश्किल से पेट भर सके। चूँकि वह जानता है, समस्त आवश्यकतायें पूरी हो जायँगी तो उत्पत्ति की वृद्धि के निमित्त वे श्रम नहीं करेंगे। अभाव, आवश्यकता उन्हें बाध्य करेगी, अधिक श्रम करने के लिए। परन्तु साम्यवाद का आर्थिक सिद्धान्त उनके समक्ष यथार्थ आदर्श बनकर खड़ा रहे तो श्रमिकों की दुरावस्था को सँभालने योग्य अर्थ का प्रबन्ध किया जा सकता है।

श्रम-सिद्धान्त की सम-विवेचना आर्थिक-योजना को दृढ़ बनाती है। मज़दूर के लिए मालिकों की ओर से जो वर्त्तमान अवस्था में आर्थिक प्रबन्ध है, वह बहुत कष्टमय है। रूस के साम्यवाद के आधार पर जो निम्नों के उपयुक्त आर्थिक-व्यवस्था है, वह उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति तो करती है किन्तु राष्ट्र के उन्नायक की स्वार्थ-प्रवृत्ति जो संग्रह की ही अधिक फ़िक्र करती है, अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं कही जा सकती।

राज्य-सत्ता में पलनेवाले निम्नों की आवश्यकता की पूर्त्ति नहीं होती। संग्रह पर ही अधिक लोलुप-दृष्टि रहती है। साम्यवाद का दृष्टिकोण निम्नों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है, और संग्रह भी करता है। दोनों के निम्नों में अन्तर और वैषम्य है। साम्यवाद, साम्राज्यवाद में यह सूक्ष्म अन्तर है। संग्रह दोनों चाहते हैं—दो दृष्टिकोण से। रूस का साम्यवाद कहता है, यह संग्रह सहसा की क्रिया एवं आक्रमण को उत्तर-प्रत्युत्तर देने एवं तुम्हारे हित के लिए होता है, अपने हित की भावना, निम्नों को सहर्ष, दूना श्रम करने को प्रेरित करती है, फलतः अधिक संग्रह करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिलती है। यद्यपि यह संग्रह राष्ट्र और समाज के सिद्धान्त की रक्षा में

अवश्य सहायक का कार्य करता है, परन्तु कहीं व्याज भी रहता है। सार्वजनिक कार्य के लिए सबके परामर्श उपेक्षित होते हैं, जन-वर्ग की किसी भी अवस्था में उपेक्षा नहीं की जाती, अतः वे प्रसन्न रहते हैं, और विरोध में कार्य करने को सोचते तक नहीं।

उधर राष्ट्र की एक राजनीति बड़ी सबलता के साथ अपनी चतुरता का परिचय देती है—इस अर्थ में कि जन-वर्ग, सैन्य-बल का एक प्रधान विशिष्ट अंग है, अतः सब प्रकार से अपने पक्ष के समर्थन में उसे रखना चाहिये। प्रकट रूप से कहीं भी इसका उद्घाटन नहीं होता। परन्तु राजनीति का यह चातुर्य, निन्दनीय नहीं है, अपितु राष्ट्र को सबल, सुदृढ़ बनाने में सहायता करता है। जनवर्ग को मिलाये रखना, बुद्धिमत्ता का द्योतक है। स्वार्थ-प्रवृत्ति न हो तो राजनीतिक चातुर्य बाहर के आक्रमणों का सामना करने का मार्ग देता है। साम्यवाद का यद्यपि यह चातुर्य उचित नहीं प्रतीत होता, किन्तु समाजवाद इसे अपना विशिष्ट अंग मानता है। भारतीय साम्यवादी सिद्धान्त भी समाजवाद के इस चातुर्य का विरोध करता है, रूस के साम्यवादी-आडम्बर से घृणा होती है। सफलता की दृष्टि से उसका आडम्बर अच्छा ही प्रमाणित हुआ। किन्तु स्थायित्व शायद उसमें न रहे। साम्यवाद के व्यावहारिक-सिद्धान्त श्रमिकों के श्रम की उचित क़ीमत के लिए अनुकूल आर्थिक योजना निर्मित करते हैं। समाजवाद का चातुर्य आरम्भ को पुष्ट बना दे, और श्रमिकों के लिए आर्थिक स्वरूप भी निश्चित कर दे तो मध्य को समाजवाद अपने प्रभाव से प्रभावित कर सकता है, उस समय की आर्थिक-व्यवस्था भी निम्नों के लिये श्रेयस्कर ही प्रमाणित होगी। इसमें सन्देह नहीं।

साम्यवाद और भारतीय मज़दूर

साम्यवाद के साथ भारतीय मज़दूरों की स्थिति विचारणीय-हो जाती है। विदेश के मज़दूरों की अवस्था दयनीय नहीं है। इसके ठीक प्रतिकूल भारतीय मज़दूरों की अवस्था बड़ी दयनीय है। व्यक्तिगत इनका कोई, कुछ भी अधिकार नहीं। ज़मीन्दारों की छाया में पलनेवाले कृषक श्रमिक केवल श्रम कर सकते हैं, किन्तु उसकी क़ीमत माँगने का उन्हें कोई नैतिक हक़ नहीं है। प्रभु की इच्छानुसार जो प्राप्त हो जाय, वह अधिक है। शोषण, दमन की क्रिया, जिसमें अत्याचार, अनाचार अधिक है, असहाय होने पर भी स्वीकृत इसलिये होती है कि दूसरा कोई मार्ग नहीं। जीवन की रक्षा के लिए अथक उचित से अधिक श्रम करते हैं, फिर भी इसमें इतने अक्षम सिद्ध होते हैं कि अतिशीघ्र

अस्वाभाविक मृत्यु की शरण लेते हैं। कृषि-कार्य से ऊबकर, चूँकि इसमें श्रम पर श्रम करना पड़ता है और लाभ कुछ भी नहीं। लगान की सूद दिनों-दिन बढ़ती जाती है, अधिक से अधिक रुपये कमाते और कर देते हैं, और उत्तरोत्तर जाने कैसे, फिर भी किस गणित के आधार पर इनकी सूद घटने के बजाय बढ़ जाती है। व्याकुलता की चरम सीमा पर पहुँचने के कारण अपने जानते बहुत दूर, अपने अर्थ में परदेश कमाने चल देते हैं। माता-पिता को यह सन्तोष देकर कि लगान, सूद चुका दूँगा। और पत्नी को यह कहकर कि होली और दिवाली में साड़ियाँ लाऊँगा।

मीलों में नये से नये आकार-प्रकार की साड़ियाँ, धोतियाँ वह बनाता है, किन्तु उसकी माता, पत्नी के स्तन, नग्न-बदन तक को ढँकने के लिये कदाचित् ही सादा ननकिलाट भी नसीब होता हो। दिन भर की मज़दूरी को क़ीमत मुश्किल से वह उतने आने पाता है, जितने से किसी तरह पेट भर पाता है। बल्कि घर से रुपयों की माँग आने पर चना या सत्तू पर ही उसे सन्तोष करना पड़ता है। फलतः एक दिन छुट्टी में घर पर अनेक सामग्रियाँ को ले जाने की जगह अपनी धँसी आँखें, पचके गर्त्तयुक्त कपोल, बाहर निकल आती हुई पसलियों एवं अवशिष्ट रीढ़ को लेकर वह घर जाता है। रास्ते में बाँस की कङ्घी शायद कभी खरीद ले तो खरीद ले। पत्नी देखकर क्या सोचती होगी। अपने उद्दाम यौवन के वृद्ध-पूरक के लिये उसके मन में कौन-कौन-सी भावनायें उठती होंगी! ग्रामीण वातावरण, संस्कृति में पलने के कारण शायद वे अन्यथा न सोचें, किन्तु उनकी आत्मा, उनकी उत्तप्त आकांक्षा तो मर गई होती है।

यह है भारतीय मज़दूरों की स्थिति। साम्यवाद की शिष्ट भारतीय-भावना उनकी दयनीय कारुणिक-दशा को सुधार सकती है। फ्रान्स का आरम्भिक साम्यवाद, रूस का वर्त्तमान, प्रौढ़ साम्यवाद भारतीय मज़दूरों की स्थिति को नहीं सँभाल सकता। और यह भी नहीं कहता कि यहाँ के मज़दूरों को पूँजी-वाद के विरुद्ध क्रान्ति करने की आवश्यकता है। हाँ, इसके स्वरूप में भिन्नता अवश्य होनी चाहिये। गान्धीवाद के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार साम्यवाद अब भी ऐच्छिक क्रियायें करें. और जवाहरलालजी के व्यवहारिक सिद्धान्त का अपने में बल देकर शायद एक वैधानिक स्वरूप निश्चित होगा, जो मजदूरों के पक्ष में हितकर प्रमाणित होगा। 'खून का बदला खून' के सिद्धान्त को लेकर अपनी क्रियाओं में वह सफलता नहीं पा सकता। इसमें जीवित रहना, उसके लिए कठिन है। ज़मीन्दारों की प्रकृति सुधारने के

पृथक विधान होंगे और मिल मालिकों के पृथक् दोनों के निमित्त दो नियम और सिद्धान्त तदनुसार स्वरूप निश्चित करने होंगे। क्रांति के खून पर भारतीय मज़दूरों के हित का साम्यवाद यहाँ नहीं टिक सकता। और न केवल शान्ति की शरण लेकर ही।

गान्धीवाद के स्वरूप में कुछ क्रान्ति की भावना लाकर मध्य-वर्ग, मज़दूरों को बौद्धिक ज्ञान देते हुए, साधारण साम्यवाद के व्यवहारिक सिद्धान्त का सर्वत्र प्रचार करे। निम्न स्तर पर रहनेवाले मज़दूरों के मूक को दूर करने के लिए बौद्धिक श्रम स्वयं करे, मध्य-वर्ग को इस क्षेत्र में इसलिये सफलता मिलेगी कि वह भी अभावों के ही संसार में रहता है। आवश्यकतायें उसे भी रहती हैं। परिवार के पोषण में सदैव वह अक्षम प्रमाणित होता है। भारत के विभिन्न प्रकार के मज़दूरों की विभिन्न स्थिति है।

कोयला के खानों में काम करनेवाले मज़दूर अन्य कल-कारखानों के मज़दूरों की अपेक्षा कुछ अधिक मज़दूरी पाते हैं, किन्तु शारीरिक ह्रास की दृष्टि से वे अत्यन्त दयनीय हैं। कोयला की खान के मालिकों को चाहिये कि वे मज़दूरों को उतनी मज़दूरी अवश्य दें जितनी से सुविधापूर्वक अपने परिवार का पोषण करने में समर्थ हों। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि सिर्फ़ इन्हीं मज़दूरों के लिये ऐसी व्यवस्था हो, औरों के लिए भी इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये, किन्तु इनकी दशा अधिक शोचनीय होती है, अत: सर्वप्रथम इस पर उदारता दिखाना स्वाभाविक है। कोयला के खानों के मज़दूरों की मौत भी बड़ी निर्दयतापूर्वक होती है। जब कभी खानों के सहसा ढह जाने एवं संयोगवश आग लग जाने पर उफ़-आफ़कर बड़ी देर में उनके प्राण निकलते हैं। प्रतिदिन उनका नया जन्म होता है। नई शक्ति प्राप्त होती है। कोयला की खानों में नीचे जानेवाले मज़दूर एक भय, अज्ञात आशङ्का को लेकर काम करने जाते हैं।

मैं कार्यवश झरिया गया था। वहाँ जाकर कोयला की खानों के मज़दूरों की स्थिति देखी। रोम-रोम सिहर गये। कुछ स्त्रियाँ भी काम कर रही थीं। पति-पत्नी भी अभाव की पूर्त्ति के कारण करते थे। नव-युवतियाँ खानों के सरदार की चक्षु-प्यास तो बुझाती ही थी; साथ ही हठ के प्रबल बल द्वारा सरदार अपनी उत्तप्त आकांक्षा की भी पूर्त्ति कर लेते थे। मनुष्योचित्त व्यवहार उनके लिये नहीं थे। मज़दूरों की मण्डली को मैंने परखा। उस दिन एक वैसा मज़दूर खान के नीचे जानेवाला था, जिसकी पत्नी एक ही वर्ष की ब्याही थी। मज़दूर का प्रथम दिन था, नीचे जाने का। पत्नी की आँखें

भींगी थी। मैंने मज़दूर से कहा था, नई बहू को यहाँ लाना ठीक नहीं। उसने विवशता प्रकट की। अस्तु संयोगवश अति पाताल में उस दिन कोयला भड़क गया, और आग लग गई। सुना, मज़दूर का दुःखद अन्त, दुःखद जीवन का अन्तिम इतिहास समाप्त हो गया। नई पत्नी की अवस्था पर आँखों से कई बूँदे टपकी थी; टपक-मात्र ही सकती थीं, कुछ कर सकना कठिन ही था।

इस प्रकार की अवस्थावाले मज़दूरों की मजदूरी कम देनेवाला हत्यारा के अतिरिक्त शब्द द्वारा नहीं अभिहित हो सकता है। इस प्रकार की नव-विधवायें समाज के लिये कटु, तीखे व्यङ्ग हैं। साम्यवाद से प्रभावित समाजवाद भी इनकी दशा सुधारने में शायद ही सूक्ष्म हो। कोयला के खानों के मजदूर (भारतीय) का जीवन घृणित और दयनीय होता है। उनके साथ सद व्यवहार नहीं किया जाता। अन्य मिल-मज़दूरों के जीवन में इस प्रकार की कटुता इसलिये नहीं होती कि उन्हें मजदूरी इतनी मिल जाती है, जिससे वे पेट भर लेते हैं और कुछ बचा भी लेते हैं। और सबसे बड़ी बात यह होती है कि अपने जीवन में वे इतने स्वतन्त्र अवश्य होते हैं कि शरीर पर उनका अधिकार रहता है। मिल तक परतन्त्रता रहती है, पर छुट्टी का भोंपा बजने के बाद वे हँसते-खेलते तो नहीं, पर कुछ विस्तृत क्षेत्र में अवश्य पाते हैं। और कल सुबह तक उनके अनेक व्यक्तिगत अधिकार रहते हैं।

परन्तु कोयले के मज़दूरों की स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न होती है। और वे मजदूर इस समय इतने विकास पर पहुँच गये हैं कि अपनी आवश्यक माँग के लिए किसी आन्दोलन, किसी सत्याग्रह; हड़ताल की शरण ले सकते हैं। पर इन मज़दूरों की वातावरण ऐसा रहता कि वे इसका अर्थ भी नहीं जान पाते। जीवन का दायरा इतना सीमित, इतना संकीर्ण रहता है कि किसी पूर्णता पर सोचने तक की आवश्यकता महसूस नहीं करते। व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में अतिदुर्बल, निष्प्रयोजन सङ्कीर्ण परतन्त्रता रहती है। पशु भी कभी स्वतन्त्र वातावरण का प्रश्रय लेता है, परन्तु ये मज़दूर-मानव जैसे उनसे भी गये बीते हैं। भावों के आहार-व्यवहार में मस्तिष्क किस वस्तु का नाम है, यह जानना भी उनके लिए कठिन ही रहता है।

अपर-वर्ग उनके साथ मज़दूरी कम देता हुआ भी व्यवहार मानवोचित करता तो कुछ हद तक मनुष्यता के अर्थ वे जान पाते। किन्तु भारतीय कोयला खान के सरदार और मालिक इस पर ध्यान देना भी एक महा-पाप समझते हैं। अपनी लोभ स्वार्थ-प्रवृत्ति को ज़रा दूर रखते और मज़दूरों के स्वस्थ जीवन पर तनिक सोचते और आवश्यक मज़दूरी देते तो मेरे जानते

इतना करने पर भी वे अधिक ही लाभ प्राप्त करते । इन मज़दूरों को भी इसका कोई ज्ञान देता कि हड़तालकर तुम भी अपनी मज़दूरी बढ़ा सकते हो तो वे कुछ पूर्ण हो सकते थे । साम्यवाद, जीवन को समरूप से क्रियाशील बनाने का सफल उपयोग करे तो इनका बड़ा कल्याण हो सकता है। परन्तु इनके लिये जो साम्यवाद की क्रियायें हों, वे सर्वथा भिन्न हों। एक ही सिद्धान्त से सभी का कार्य-सम्पादन होना कठिन है।

ये मज़दूर रूढ़ि के पालक और अन्धप्रज्ञा के अच्छे उदाहरण हैं। वर्त्तमान वातावरण की विवशता को सह लेना उन्हें इष्ट होगा, किन्तु आन्दोलन या किसी का विरोध करना, इनसे नहीं हो सकता। वे संस्कृति-सभ्यता का अर्थ नहीं जानते, किन्तु एक ऐसी संस्कृति में पलते हैं, जिसमें विचारों, सहज भावों की सङ्कीर्णता रहती है। स्वच्छन्द, स्वतन्त्र होने का वह ज्ञान नहीं देती। बौद्धिक-शिक्षा का इनमें मूर्त्त प्रसार हो तो परिस्थितियों का ज्ञान रखने में इन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिये। चली आती हुई परम्परा का अन्धे के समान स्वीकार नहीं करने की भी शिक्षा देनी होगी, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस परम्परा का सम्पूर्ण उन्मूलन होना चाहिये।

वर्त्तमान भारतीय साम्यवाद रूस का, उधार लिया हुआ है, जो रूढ़ि या परम्परा का शत्रु है। भारतीय निम्नों के वातावरण की परिस्थिति को सँभालने के लिए परम्परा या रुढ़ि का सम्मिलित निष्कर्ष एक अवलम्ब, सहायता का कार्य करेगा। परन्तु इतना सत्य है कि इसमें परिवर्त्तन अपेक्षित है। थोड़ा बहुत परिवर्त्तनकर उसका प्रयोग करना अहितकर नहीं होगा। संस्कृति-सभ्यता का भी इन्हें ज्ञान रहना चाहिये।

अबरख के खानों के मज़दूर इनसे एकदम अच्छे तो नहीं, मगर साधारण अच्छे अवश्य कहे जा सकते हैं। चीनी के मिलों के मज़दूर इनसे भी अच्छे हैं। अभाव उन्हें चौर्य-वृत्ति सिखाता है, जिसका ये मज़दूर लाभ उठाते हैं, इसमें इसकी गुञ्जाइश अधिक है। कपड़े की मिलों के मज़दूरों की स्थिति इनसे बुरी है। परन्तु व्यापक दृष्टि दौड़ाने पर यह सहज ही विदित हो जाता है कि कोयला की खानों के मज़दूरों की स्थिति सबसे बुरी अत्यन्त निकृष्ट है। इनकी आँखों में सदैव दीनता भरी रहती है। बराबर की एक माँग रहती है। इन मज़दूरों का एक पृथक् वर्ग होता, पृथक् समाज होता तो ये अपने में कुछ पूर्ण रह सकते थे। परन्तु इनके वर्ग-निर्माण में सहयोग देनेवाला कोई नहीं है। कम्यूनिष्ट कहते मात्र हैं, यह हमें असह्य है, किन्तु करने के नाम से वे बहुत दूर हैं।

सब वादों से पृथक रहनेवाला कोई भी बौद्धिक नेता इस कार्य को अपने हाथ में लेता तो इसमें सफलता मिल सकती थी। किन्तु इन्हें पूर्ण स्वतन्त्र कर देने का यह अभिप्राय नहीं कि ये खानों में कार्य न करें। इनके लिए साम्यवादी समाजवाद एक ऐसी सुनिश्चित व्यवस्था कर दे जो इनके जीवन को पूर्ण स्वस्थ रखने में सक्षम हो। बीमार पड़ने पर इनकी देख-रेख के लिए अच्छे चिकित्सक का प्रबन्ध करे, भौतिकवाद के कृत्रिम प्रयास को यहाँ कदापि अवसर नहीं देना चाहिये। साम्यवाद का सम-सिद्धान्त जो व्यावहारिक हो, इस वाद को प्रश्रय न दे। अन्योन्य द्वन्द्व की प्रवृत्ति को जगाने में भौतिकवाद को सफलता मिलती है। इन मज़दूरों के स्वतन्त्र वर्ग के लिए मालिकों, प्रभुओं को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। और कर्त्तव्य ज्ञान उचित, स्वाभाविक ज्ञान इन्हें तब तक नहीं हो सकता जब तक बुद्धिवाद का सच्चा प्रतीक मध्यवर्ग का साम्यवादी नेता इसमें न पड़े। दाननीय वृत्तियों को दूर करने में उन्हें ही सफलता मिल सकती है। स्थायी सम्पत्ति की वृद्धि में कोयला के खानों के मज़दूरों का बड़ा हाथ है।* 'परन्तु जब तक कोयले की खानों में मनुष्योचित्त जीवन व्यतीत करने के साधन उपलब्ध नहीं होते, इसमें सुधार नही हो सकता और न स्थायी मज़दूरों का वर्ग ही खानों के लिए उत्पन्न हो सकता है।"

सम्पत्ति की वृद्धि देखते ही मालिकों को चाहिये था, उनके जीवन को जीवन बनाने के साधन को देखना। उनके साथ मानवोचित व्यवहार करना, अपना श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझने के बजाय पूँजी के संग्रह को बढ़ाने के लिए दानवोचित व्यवहार, और मज़दूरी में और कार्य करने का प्रयत्न करते हैं। स्थायीवर्ग यदि इन मज़दूरों का स्थिर होता तो मजदूरी की वृद्धि के लिए अन्य मज़दूरों के सदृश सत्याग्रहकर सफलता पाना इनके लिए कठिन नहीं होता। भावों की स्वच्छता, अभावों की पूर्णता, कर्त्तव्यों का ज्ञान, आवश्यकताओं में स्वाभाविकता आ जाने पर किसी भी वर्ग में स्थायित्व आ जाता है, और उसकी सारी क्रियायें प्रभावपूर्ण होती हैं। उनकी निष्क्रियता, निष्प्रयोजनता नहीं सिद्ध होती।

वर्त्तमान भारत का समाज पूँजीवाद से अधिक प्रभावित है, अतः इन मज़दूरों में इस भावना का आरोप नहीं होने देता जो बगावत करने की शिक्षा देती है। इन वृत्तियों को नहीं जगने देता जो जिज्ञासु की प्रेरणा और शक्ति

---

*साप्ताहिक 'आज' १५ मई, १९४४

का केन्द्र है। वर्गिक-अन्तर रहने देना, उसके जाने अच्छा है। बौद्धिक शिक्षा भी उसके लिए बुरी ही है। अत्यन्त अभाव में रहने देना पूँजी को बढ़ाना है। साम्यवाद, जो गान्धीवाद के प्रयोगिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्त से प्रभावित है, जो पूँजीवाद से एकदम सम्पर्क नहीं रखता, यहाँ अपनी शिक्षा का प्रचार करे, और मज़दूरों को अपने हित की रक्षा करने को प्रेरित करे तो मज़दूरों की बड़ी हित-साधना हो। ज़मीन्दारों की स्वार्थ-प्रकृति जो हिंसा, क्रूरता से भरी है, साधारण खेतिहर-मज़दूरों को अत्यन्त अभाव में रखना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक श्रम करेगा और अन्नपूँजी को एकत्र करने में सहायता देगा। दिन भर की मज़दूरी में यदि वर्त्तमान परिस्थिति में वह सिर्फ़ सब मिलाकर दस आने देता है, तो दोनों शाम मज़दूर का पेट नहीं भरता और उसे दस आने के व्यय से सवा रुपये अर्जित करने में उसे कोई असुविधा सामने नहीं उपस्थित होती। कितने भारतीय ज़मींदार ऐसे हैं जो सिर्फ़ थोड़े से अन्न देकर या एक शाम खिलाकर ही दिन भर श्रम करा लेते हैं, इसमें उन्हें अधिक लाभ है।

ये मज़दूर उनके आसामी होते हैं। इन आसामियों की लगान और सूद कभी समाप्त नहीं होती, इनकी भी स्थिति बड़ी दयनीय, शोचनीय है। इसके लिए जमींदारों की समझ में इस व्यवहार का ज्ञान होना अनिवार्य है कि हम-तुम में समता का प्राबल्य है। साम्यवाद का व्यावहारिक कार्य, ज़मींदारों में सहायता की भावना, सहज ही उत्पन्न करा सकता है और मज़दूरों की स्थिति को सँभाल सकता है। ज़मींदार और आसामी मज़दूर का व्यवहार अन्योन्य विलगता का द्योतक एवं कलह का सूचक है। एक को सर्व प्रकारेण लाभ है, दूसरे को किसी भी दशा में घाटा से घाटा, हानि से हानि है :—एक क्षेत्रपति किसी मज़दूर को पाँच आना प्रतिदिन के हिसाब से रखता है। वह मज़दूर इन पाँच आने में दिन भर उसके खेत में काम करता है और दस आने की उत्पत्ति कर देता है। क्षेत्रपति जो पाँच आने मज़दूर को देने में खर्च करता है केवल उतना ही नहीं प्राप्त करता है, वरन् उसे दूना कर देता है। इसलिए उसने पाँच आने को परिणामतः ठीक रूप से उत्पत्ति करने में खर्च किया।

उक्त मज़दूर की उस शक्ति और परिश्रम को उसने पाँच आने में ही ख़रीद लिया जो इससे दूने पैसे के समानों को पैदा कर सकता है। और वह मज़दूर अपनी पैदा करने की शक्ति के बदले जिस शक्ति के फल को अपने मालिक को अर्पण कर देता है, केवल पाँच आने पैसे, अपने गुजारे के लिए पाता है। जिसे वह यथाशीघ्र ख़र्च कर डालता है। इसलिए पाँच आने पैसों

का व्यवहार दो तरीकों से हुआ—पैसोंवालों के लिए तो लाभप्रद है, क्योंकि पाँच आने से वह दस आने पैदा कर लेता है और मज़दूर के लिए हानि-प्रद, चूँकि इसे उसने गुजारे के लिए खर्च किया जो सदा के लिये नष्ट हो गया और जिसको यदि पुनः वह प्राप्त करने को चाहे तो मालिक के साथ उसे वैसा ही सौदा करना होगा जैसा पहले किया था। इस तरह हम लोग देखते हैं कि पैसों के साथ परिश्रम और परिश्रम के साथ पैसे की स्थिति पारस्परिक है। वे एक दूसरे को उत्तेजित करते हैं।

पैसों की इस स्थिति में दीन मज़दूर और भी बेबस अवस्था में प्रतीत होते हैं। उसकी माँग का ढंग विलक्षण ही है। यह ढङ्ग उन्हें तब तक नहीं आ सकता जब तक साम्यवाद की क्रिया अपना कार्य न करे। सामन्तवाद की प्रथा, परम्परा का परिणाम है कि ज़मींदार का मज़दूरों के साथ ऐसा व्यवहार आज इस उन्नत अवस्था में भी है। पैसे मज़दूरों के आर्थिक अभाव की भी पूर्त्ति नहीं कर पाते हैं, और दूसरा और मज़दूरों का श्रम ज़मींदारों के पैसों में दूनी, तिगुनी वृद्धि करता है। अर्थ का सङ्कुचित दृष्टिकोण सम्पत्ति की रक्षा नहीं करता पर थोड़ी देर के लिए ज़मींदारों में यह भावना आ जाती है कि यही दृष्टिकोण सब प्रकार से पूँजी बढ़ाने और उसकी रक्षा करने में सहायक होता है।

भारतीय समाजवादी-कांग्रेस का इधर ध्यान गया था, पर सुभाष की उग्र उत्तेजक क्रिया ने सफलता नहीं पाई। हाँ, जयप्रकाश नारायण के व्यावहारिक सिद्धान्त ने जो किसी भी अवस्था में निर्बल नहीं थे, कुछ सफलता पाई, किन्तु साधन के अभाव के कारण उन सिद्धान्तों का प्रयोग और प्रसार न हो सका। परन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि उनका समाजवादी दृष्टिकोण रूस के कम्यूनिज़्म से नहीं प्रभावित था, कुछ लोग उनके सिद्धान्त, उनकी मान्यताओं को साधारण कम्यूनिष्टों से अनुप्राणित मानते हैं। इसको कई बार उन्होंने स्पष्ट भी किया था। परन्तु यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा कुछ लोगों में अभी भी बनी है।

मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करनेवाली रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के दृष्टिकोण, अस्वाभाविक, असंगत, अनुभवरहित हैं, अतः मज़दूरों के लिए कोई प्रशस्त मार्ग नहीं निकाल सकते और एम० एन० राय के विचार साधारण मज़दूर तक नहीं पहुँच सकते, और सिर्फ़ सिद्धान्त के लिये वे हैं, व्यवहार के सर्वथा अयोग्य। मज़दूरों में इतना ज्ञान व नहीं भर सकते कि तुम किस अवस्था में हो और किस मार्ग पर चलने से तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति

हो सकती है। सङ्केत या आदेश पर अविचारे मज़दूर अपनी आहुति दे सकते हैं, किन्तु अविभारिता का धोखा देना निश्चित है।

इस पार्टी के मान्य नेता एम० एन० राय विद्वान् और अनुभवी हो सकते हैं, किन्तु व्यावहारिक नहीं। और इनकी पार्टी का यह दोष है कि किसी अन्य व्यावहारिक नेता को उत्पन्न करने में वह अक्षम है। नेतृत्व करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। अपनी स्थिति का ज्ञान कराने के लिए मज़दूरों को बौद्धिक-शिक्षा देनी चाहिये। कांग्रेस का समाजवादी दल उग्र अवश्य है, किन्तु जयप्रकाश बाबू के व्यावहारिक सिद्धान्त स्थिर रहने की भी सामर्थ्य रखते हैं। बुद्धि के सहारे साधारण स्थिति का भी वे ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं, और अधिक विवश दीन अवस्था में रहनेवालों की स्थिति को सँभालने की उनमें अपूर्व शक्ति भी है। बौद्धिक शिक्षा से लोग घबरा भी सकते हैं। कुछ को यह कहने का अवसर मिलेगा कि निम्न स्तर पर रहनेवाले मजदूर भूख की समस्या हल करने के लिए श्रम में समय दें, या बौद्धिक-शिक्षा में। यदि अन्य परिस्थितियों को त्याग भी दें तो भी पेट खाली रहने पर बौद्धिक शिक्षा में सफलता पा सकते हैं?

उत्तर में नकारात्मक शब्द ही मिलेगा। कांग्रेस समाजवादी सिद्धान्त ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकता है जो बौद्धिकश्रम के निमित्त समय या अवसर सहज ही में दे सकता है। जवाहरलालजी के साम्यवादी विचार ऐसा समाज निर्मित कर सकते हैं, जो निम्नों की बौद्धि-पक्ष में हितकर प्रमाणित होगा। संकुचित जीवन में परिवर्त्तन लाकर मज़दूरों को विस्तृत जगत का समुचित किन्तु पर्याप्त ज्ञान दिलाने में वे पूर्ण सक्षम सिद्ध होंगे। ज़मीन्दारी परम्परा को सजीव रखने के लिए पूँजीवाद का पृष्ठपोषक उपर्युक्त समाजवाद के विरुद्ध सदा प्रयत्नशील रहते हैं। वे जानते हैं, निम्नों के विकास में हमारा ह्रास है। बौद्धिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर मेरी हुकूमत नहीं मान सकते। हमारी स्वार्थ प्रवृत्ति ध्वस्त हो जायगी। परन्तु यह उनकी धारणा ग़लत है। हाँ, हुकूमत नहीं रह सकती है, स्वार्थ नहीं रह सकता है, किन्तु इन सब की जड़ में जो लाभ था, वह तो होगा ही। बल्कि अधिक लाभ की सम्भावना है, यदि उनका पेट भरकर, उन्हें शिक्षित बना दें।

व्यक्ति, व्यापारिक-सम्पत्ति की वृद्धि करता है। कम्पनी में भाग लेनेवाले को उतना लाभ नहीं होता, जितना स्वयं अकेले मालिक होने में व्यक्ति वर्ग से दूर हटकर सिर्फ़ मानवता के आधार पर चलने के लिए अपने में पूर्ण होकर स्वतन्त्र व्यापार में संलग्न हो तो लाभ कर सकता है। यह लाभ सन्तोष दे

सकता है। परन्तु वाह्य समाजवाद इस विचार को पुष्ट नहीं बना सकता है। रूस का व्यावहारिक सम-सिद्धान्त, भारतीय समाजवाद, जिसमें शान्ति-क्रान्ति से सम्मिलित साम्यवाद का प्राबल्य है, उक्त विचार में पुष्टि या बल ला सकता है। अपनी हित साधना की 'मैं' वाली प्रवृत्ति साम्यवाद को विकसित नहीं होने देती। इसीलिये दूसरों की हित-साधना देखने पर व्यक्तिगत उसकी ऐसी कई हानियाँ हैं जो उसको विनष्ट करके छोड़ेंगी। इस 'स्व' से अपरः के लिये कुछ भी करने को वह प्रस्तुत नहीं। भारतीय साम्यवाद विकास के अन्तिम सोपान पर पहुँच जाय, और अपने दृष्टिकोण को किसी की नक़ल पर न ले चले तो निश्चय ही उपेक्षित एवं हेय-वर्ग के हितार्थ अनुकूल समाज का निर्माण कर सकता है, जो संस्कृति को ध्वंस करने की शिक्षा न देगा, न धर्म को व्यर्थ का आडम्बर घोषित करने का प्रयत्न कर सकता है।

रूढ़ि में समुचित परिवर्त्तनकर उसी रूढ़ि को अपनी हित-साधना का सबल साधन समझेगा। आदर्श बुरा है का ज्ञान नहीं दे सकता। हाँ, ढोंग का वहिष्कार कर सकता है। उसकी दृष्टि में यथार्थ आदर्श का प्रचार ही श्रेयस्कर होगा। परन्तु साम्यवाद का एक ही सिद्धान्त सर्वत्र के लिये श्रेयस्कर अभी नहीं हो सकता। विभिन्न कल, कारखानों की विभिन्नता, जिस प्रकार रह जायगी, उसी प्रकार, उसी के अनुपात से साम्यवाद को अपने सिद्धान्त, अपने दृष्टिकोण को रखना होगा।

विदेश में सोना, और चाँदी की खानों के मजदूर अन्य मज़दूरों की प्रतिकूल श्रेणी में रखे जाते हैं। इसके आविष्कार के प्रकारान्तर भेद पर एक ऐसी नींव पड़ेगी जो मज़दूरों के स्वाभाविक अभाव आवश्यकताओं का निरीक्षणकर, इनके उपयुक्त आर्थिक व्यवस्था करेगी, इसके स्वरूप में इस-लिये मालिक परिवर्त्तन नहीं कर सकते कि इन तीन खानों के मज़दूर अपनी जगह इतने अनुभवी और प्रौढ़ होते हैं कि इनके हट जाने का मालिकों को बड़ा भय रहता है। और ये मज़दूर अपना हक़ माँगने के लिये बहुत कुछ कर सकते हैं, माँगने का ढंग भी इन्हें मालूम है। अपनी माँग की पूर्त्ति के अभाव में मज़दूरी छोड़ भी सकते हैं, मज़दूरी छोड़ने पर मालिक की एक दिन में इतनी हानि होगी, जिसकी पूर्त्ति शीघ्र नहीं हो सकती।

इन अनुभवी मज़दूरों की जगह दूसरे मज़दूर को मालिक भर्त्ती कर ले तो उसे ट्रेनिङ्ग देने में अधिक समय लगेगा, और इन सोना, चाँदियों से जो व्यापार होता है, उसमें लाखों करोड़ों की हानियाँ होंगी। यद्यपि इनके मालिक साम्यवाद के बौद्धिक सिद्धान्त से प्रभावित होकर इन मज़दूरों की आवश्यक-

ताओं की पूर्त्ति नहीं करते फिर भी स्वार्थवशत: ही सही, मगर इन्हें सन्तुष्ट अवश्य रखते हैं। अपनी सन्तुष्टि पर इन्हें गर्व भी अधिक रहता है।

खानों में काम करनेवाले मजदूर यदि साथ ही कृषि-कार्य भी करें तो लाभ उठा सकते हैं। परन्तु वर्त्तमान परिस्थिति में कुछ ऐसे असङ्गत परिवर्त्तन हो गये हैं, जिनकी वजह इन मजदूरों को किसी भी प्रकार में घाटा है। खानों की वृद्धि के कारण मजदूरों को इस समय पहले की जैसी सुविधायें नहीं प्राप्त होती हैं। उत्थान-शक्ति सबल अवश्य हुई है, किन्तु सम्पत्ति का माप बराबर ही है। चाँदी की प्रत्येक औंस के लिए जितने श्रम पहले करने पड़ते थे, उतने ही आज भी।

परन्तु कृषि-क्षेत्र में श्रम कर मजदूर वह लाभ उठाना चाहे तो अब उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। आश्चर्य है, सब मजदूर जब कल-कारखानों में ही भर्त्ती हो रहे हैं, तब भी जमीन्दारों के कार्य में विशेष कोई बाधा नहीं दीख रही है। वस्तु का यातायात वृद्धि पर ही है और उनके भाव बढ़े ही हैं, परन्तु मजदूर की स्थिति में इतना ही साधारण परिवर्त्तन हुआ जो उन्हें बढ़ा सका। किन्तु अभाव पहले ही की तरह है। आवश्यकतायें ज्यों की त्यों बनी रहीं। कम्पनी या कारखाना की गति युद्ध-जनित परिस्थिति कारण विकास की ओर अग्रसर हो रही है, मजदूरों के लिए अपने जानते उन्होंने मजदूरी बढ़ा दी है, किन्तु तनिक रुककर नहीं सोचते कि वे हैं कहाँ!

साम्राज्यवाद की स्वार्थ प्रवृत्ति इसे लाभ अति लाभ का अधिक अवसर देती है, फिर भी मजदूरों को झिड़कते हैं कि युद्ध में सारी वस्तुयें निम्न तल पर स्थित हैं, और घाटे पर घाटे हुए जा रहे हैं, फिर भी तुम अपनी मजदूरी की वृद्धि के लिए सब कुछ करने पर उतारू हो। परन्तु सब कुछ करने के उनके पास साधन कहाँ हैं, अन्यथा उन्हें यह कहने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

साम्यवाद की साधारण क्रिया भी अपना कार्य कर जाय तो मजदूर सारी स्थितियों को समझकर, उन्हें विवश, वाध्य करेंगे मजदूरी बढ़ाने के लिए। और जब साम्यवाद को समाजवाद की स्थापना का समय मिल जायगा तो मालिकों की जीभ हिलाने की जगह नहीं रह जायगी। बौद्धिक ज्ञान की परिस्थिति में रहने के कारण मजदूर सब वातावरण को नाप सकेंगे और अपनी माँग उसी के अनुसार करेंगे, अनन्तर स्पष्ट है, उनके अभाव दूर हो जायँगे, और वर्ग की उच्चता के प्रभाव से पृथक रहेंगे। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं, जब तक साम्राज्यवाद की क्रिया समाप्त न हो जाय। इसके पृष्ठपोषक

जो सिर्फ शासन पर स्थित हैं, जिनकी सत्ता ही सब कुछ है। अपने हठ पर, अपनी जिद् पर किसी भी विरोधात्मक-शक्ति की परवा नहीं करते।

लन्दन के साम्राज्यवाद की वर्त्तमान स्थिति कुछ डाँवाडोल हो गई। अपने संकुचित दृष्टिकोण में अपने स्वार्थ को उसने पलते नहीं देखा। यद्यपि उसकी पृष्ठभूमि मजबूत थी, फिर भी 'लेबर पार्टी' के जहाँ बौद्धिक उद्योग हुए, वहाँ उसे एक प्रकार से सर्वप्रथम सबसे बड़ी हार खानी पड़ी। भारत-मन्त्री चर्चिल, एमरी आदि के पूर्व वक्तव्यों के अनुसार स्वार्थ की भी अभिव्यक्ति न हो सकी थी, किन्तु लेबर पार्टी के चुनाव के समय जो दोनों ओर के वक्तव्य प्रकाशित हुए, उनके आधार पर स्वार्थ का मूर्त्तरूप प्रकट हो सका है। यद्यपि वहाँ के सिर्फ कम्यूनिष्टों के उद्योग के परिणाम में ही उनकी हार न हुई, पर साम्यवाद के हरेक सिद्धान्त अवश्य ही सफल मार्गों का प्रदर्शन कर सके हैं। व्यापक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कल-कारखाने की अधिकता के कारण मजदूरों की स्थिति में सुधार नहीं हुए हैं। सम्पत्ति की वृद्धि के अनुपात से उनकी मजदूरी नहीं बढ़ी है। जितनी बढ़ी है, उतनी से मजदूरों के पेट-प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। अपनी वर्त्तमान स्थिति में भी उन्हें सन्तोष और दुःख है।

सोने, चाँदी के मूल्य में जो अनिश्चयात्मक सहसा वृद्धि हुई है, उसका स्वरूप भी विचित्र ही है। और व्यय के हिसाब से अब भी उतने ही व्यय करने पड़ते हैं, जितने पहले। बड़ी-बड़ी खानों के आविष्कार हो जाने से दो औंस सोना पैदा करने में उतना ही खर्च पड़ता है, जितना एक औंस पैदा करने में पहले पड़ता था। इसलिए सोने का मूल्य आधा या ५० प्रतिशत घट गया। दूसरे-दूसरे सामानों का मूल्य पहले की अपेक्षा दूना हो गया। उसी तरह परिश्रम का मूल्य भी। बारह घंटे का काम यदि पहले ६ शि० में आँका जाय, तो उतने समय का काम आज दो शि० में आँका जायगा। यदि मजदूर की मजदूरी ३ शि० ही रह जाय जैसा पहले था, और बढ़कर ६ शि० नहीं हो तो उसके परिश्रम का आर्थिक मूल्य उसके परिश्रम के मूल्य से आधा ही हुआ। और उसके जीवन का स्तर अत्यधिक घटता ही जायगा। यदि उसकी मजदूरी बढ़ा दी जाय तो भी ऐसा ही होगा, लेकिन उस अनुपात में नहीं जिस अनुपात में सोने का मूल्य घटा है।

ऐसी अवस्था में किसी में परिवर्त्तन नहीं होता, उत्पत्ति करने की शक्ति, लेनदेन या मूल्य, किसी में नहीं। उन मूल्यों का आर्थिक नाम ही बदलता है। ऐसी स्थिति में मजदूर को उसी अनुपात में अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए

कहने का अभिप्राय यह है कि उसे वस्तुत: वैसी साम्पत्तिक वस्तु न मिली। नाम के लिए सिर्फ कुछ ही मिल सकी। बीता इतिहास बतलाता है कि जब-जब इस तरह की अवस्था आई है, सभी अर्थवाले इस ताक में रहे हैं कि मजदूरों को ठगा जाय। अधिकांश राजनैतिक अर्थशास्त्रविदों का विचार है कि नये-नये सुवर्ण क्षेत्रों के आविष्कार, चाँदी निकालने की नयी अच्छी प्रक्रिया तथा सस्ते दामों में पारा के मिलने के कारण बहुमूल्य धातुओं के दाम घट गये हैं, इससे ज्ञात होता है कि इसी कारण देशों में मजदूरी बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता था।

साम्यवाद की भारतीय स्थिति, इसके स्वरूप पर विचारने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकती है, यदि यहाँ की वह पूर्ण बनकर रहे। जमीन्दारों की गोद में पलनेवाले मजदूर, विभिन्न कल-कारखानों के मजदूर, साम्राज्यवाद के स्वार्थपूरक मजदूर सब उस वाद से प्रभावित हो जायँ तो एक ऐसा सङ्गठन होगा, जिसके विचार में कोई भी सम्पत्ति का आधार अपनी आवाज नहीं उठा सकता। कोई भी क्रियात्मक-शक्ति निर्बल सिद्ध होगी। भारतीय द्वन्द्व-मूलक अभिधा शक्तियाँ नाना प्रकार के आन्दोलन और विभिन्न सम्प्रदायों, संस्थाओं को जन्म देती हैं, जिनके फल में कोई हित-साधन के उपयुक्त समाजवाद का कोई भी स्वरूप नहीं निश्चित होता। साम्यवाद की भारतीय, बौद्धिक-क्रिया ही एक मात्र ऐसी शक्ति रखती है, जो यहाँ के मजदूरों की हितसाधना के निमित्त अनुकूल समाजवाद की स्थापना करने में पूर्ण सफल सिद्ध होगी।

---

२. समाजवाद का स्वरूप-निश्चय

सामाजिक जीवन

सामाजिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति के चारों ओर बन्धनों की समाविष्टि रहती है। वर्गिक-समाज में विशेष विभिन्नता रहती है। परन्तु व्यक्ति, व्यक्ति की आकांक्षायें, विचारों, आदर्शों और नियमों में ऐक्य रहता है। भिन्नता का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसके बाद जो निर्णय होता है, वह सामाजिक निर्णय कहलाता है। इसीमें कुछ परिवर्त्तन लाकर रूसवालों ने इसको वाद का रूप दिया, जिसे समाजवाद कहते हैं।

समाजवाद, साम्यवाद का प्रतिशब्द है, ऐसा भी कुछ का कहना है। किन्तु समाजवाद और साम्यवाद के बीच सूक्ष्म भेद अवश्य है। साम्यवादी सिद्धान्त, व्यक्ति-व्यक्ति के वर्ग-वर्ग में सम्मिलन, समता का प्रचार चाहता है। हम-तुम की प्रतिक्रिया को दूर फेंककर एक सुनिश्चित सब के उपयुक्त प्रशस्त मार्ग का निर्माण करता है। परन्तु समाजवाद का कहना है, तुम जो चाहो सो करो, सोचो, पर मेरी मान्यतायें स्वीकार करनी होगी। समाज का सम्मिलित स्वर है, अलग-अलग रोटी नहीं पकानी होगी। एक होकर, वह भी मेरा बनकर आगे चलना होगा। इसलिए कि मैं जो कुछ कहता हूँ, तुम्हारे हित के लिए ही। व्यक्ति को पहचानकर मैंने सामाजिक नियम का निर्माण किया है। पर यह समाजवादी सिद्धान्त रूस का है। दूसरों के समाज के न तो ऐसे नियम हैं, न सिद्धान्त।

समाजवाद की भीतरी, एकदम आभ्यन्तरिक अवस्था कुछ खोखली है। उसमें कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने समाजवाद के उपयुक्त, कुछ अनुपयुक्त कहने के लिए स्वतन्त्र समाज का निर्माण किया है, पर वहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता हड़पी जाती है। भीतर की जीवन-सम्बन्धी योजनायें उनकी बुरी हैं, वे मनुष्य की प्रेरक शक्ति को दबाने का सफल प्रयत्न करती हैं। कई व्यक्तियों का उनमें समावेश रहता है, भेद-भाव के लिए ही। किन्तु आचरण या वाह्य व्यवहार ऐसा होता है, जिससे स्पष्ट और सहज ही में ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक 'मैं' की इच्छायें वहाँ पूरी हो जाती हैं। उसकी आर्थिक योजना में स्वार्थ-भावना अधिक है। अपने आपकी पूर्त्ति के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं है। स्वभावतः

आज का मनुष्य आलसी होता है। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य के लिये प्रत्येक क्षण वह हाथ हिलाना नहीं चाहता। समाजवाद की घोषणा है कि प्रजा सभा द्वारा यहाँ की व्यवस्था होती है, पर समाजवाद ने उन्हें ऐसा बना दिया है, जिसकी वजह से उनकी आवश्यकतायें और शक्तियाँ सीमित हैं। उन्हें माँगने का वह अवसर नहीं देता। इसलिए वह सन्तुष्ट, आनन्दित और पूर्ण है। पर एक दिन इसका परिणाम बुरा होगा। वह यह कि आज तो वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर लेते हैं, सहज ही में, किन्तु जब लेनिन के सिद्धान्त का समूलोन्मूलन कोई करेगा तो फिर क्या होगा? मार्क्स की क्रियायें नष्ट होंगी। उस समय नेतृत्व ग्रहण करनेवालों का, उन्हीं के जैसों का अभाव रहेगा। तब तक ये ऐसे हो गये रहेंगे कि पीछे की ओर मुड़ने की शक्ति भी नहीं रह जायगी।

पर यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज के बन्धनों के साथ जकड़ी न होती तो शायद अनुभव को आधार मानकर वह पूर्व रक्षक सामाजिक-सिद्धान्त की दृढ़ भित्ति को कायम रखता और पुनः एक बार वर्ग-संघर्ष की शायद आवश्यकता नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि समाजवाद के व्यक्तियों में बहुत ऐसे कम व्यक्ति हैं, जो समाजवाद का शायद ही उचित अर्थ जानते हों। वहाँ के वैधानिक नियमों में अच्छी तरह संशोधन होना चाहिये। समूचे देश को बाँटने की आवश्यकता पड़ने पर उनमें बड़े, छोटे, पापी, पुण्यात्मा, लूला, लंगड़ा, शिष्ट, अशिष्ट को पृथक-पृथक करना पड़ जायगा।

उस समय वे ऐसी कुछ बातें कह देंगे, जिससे भोली-भाली जनता को यह खयाल हो जायगा कि जो कुछ कहा गया, सत्य और हमारे हित के लिए। अत: जहाँ से चले थे, वहीं प्रसन्नतापूर्वक लौट जाते हैं, बड़ी सन्तुष्टि के साथ। समाजवादी व्यक्ति अवसर को बराबर अधिक महत्त्व देते हैं, जनता को मिलाये रखने के लिए उसे स्वतन्त्रता का ज्ञान न कराना, उसके भविष्य के लिए उचित नहीं। मस्तिष्क-शक्ति उसमें अपना कार्य करे, इसका सतत प्रयत्न होना चाहिये। किन्तु प्रजा की शिक्षा का भार भी उसीने ले लिया है। अतः अभिभावक सोचता है, मेरी सन्तति शिक्षित हो रही है, यों ही हमें उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। किन्तु उनका केन्द्र-विन्दु इतना सीमित होता है कि उतनी ही वे शिक्षा देते हैं, जितनी भर से वे थोड़ा-सा लिख-पढ़ लें। अपने आपके विकास-काल में उन्हें कार्याधिक्य इतना रहता है कि वे अधिक ज्ञानार्जन कर नहीं पा सकते। परिश्रम में समय का नितान्त अभाव है।

यहाँ और वहाँ के परिश्रमी में यह एक विशेष अन्तर है कि यहाँ के परिश्रमी बड़ी-कड़ी मेहनत के बाद भी अपनी उदर-पूर्त्ति नहीं कर पाते और ठीक इसके विपरीत वहाँ के परिश्रमी इस चिन्ता से सदैव विमुक्त रहते हैं। उनका पेट भर दिया जाता है, ताकि उन्हें विद्रोह का अर्थ न मालूम हो। आवश्यकता आने पर वे काम देते ही हैं, इसलिये कि वे समाजवादियों के ऋणी अधिक रहते हैं। उन्हें प्राणार्पण के निमित्त कमर कसनी होती है। उनकी विचार-स्वतन्त्रता की भी रक्षा शब्दतः हो जाती है। जीवन का अर्थ वहाँ पेट भर लेना है, और सुखपूर्वक जी लेना है। आरम्भ की अवस्था (रूस विद्रोह के पूर्व) सीमित जनता की दयनीय अधिक थी, इसलिए कि उन्हें अपने अधिकार का पता न था। परिश्रम जी तोड़कर करना पड़ता था, फिर भी भूख की आग की लपट में सतत झुलसना ही पड़ता था। अत्याचार-अनाचार के प्रचार के कारण जनता विशेषतः निम्नवर्ग की, आकुल रहती थी। दो-चार बार अधिक व्यग्रता के कारण लोगों ने जार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करनी चाही, पर उन्हें दमन-नीति का आश्रय ले दबा दिया जाता था। भीतर ही भीतर वे मसोसकर आह मारकर रह जाते थे। विचार-शक्ति का नितान्त अभाव था, निर्माण-शक्ति दूसरों के हाथ थी।

जार के अत्याचार के विरुद्ध लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर अपनी शक्तियों से काम लेने को सोचा, फलतः वहाँ की जनता में बौद्धिक ज्ञान का अंकुर बोने लगा और उनमें यह भरने लगा कि तुम जितना हो, उतना वे कदापि नहीं। तुम्हारी शक्तियाँ सबल एवं अजेय हैं। चूँकि लेनिन जानता था कि बहुत बड़ी बौद्धिक-शक्ति के लिए जनता को एक में मिलाना सर्वथा श्रेयस्कर होगा। ऐक्य के बिना शक्ति प्राप्त करने की लड़ाई में साधारण जनता के पास एकता से बढ़ कर सफल अस्त्र दूसरा नहीं है। स्वेच्छाचारिता के शासन के कारण नीचे की ओर ढकेली जाती हुई तथा कमी और निम्नता की ओर गमन करनेवाली साधारण जनता निश्चय ही एक अजेय सेना हो सकती है और अवश्य होगी, यदि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुसार वह सुसम्बद्ध हो जाय और सम्मिलित होकर मजदूर वर्ग की एक सेना तैयार की जाय, जिसमें लाखों की संख्या में लोगों की शक्ति का निर्देश हो। इस शक्ति का सामना करने के लिए निर्बल रूस की जारशाही तथा राष्ट्रों का सम्मिलित अर्थबल कभी समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार के विचार लेनिन की दूर-दर्शिता के प्रमाण हैं। परिस्थितियों को पकड़ लेने की शक्ति उसमें पूरी मात्रा में थी। समाज की प्रत्येक अवस्थाओं का वह इस प्रकार परिचय

रखता था, मानों वही समाज का प्रतिशब्द हो। किन्तु धीरे-धीरे सामाजिक-व्यवस्था में महान् अन्तर होता गया।

उसके वैधानिक सिद्धान्त में हेर-फेर की लोगों ने गुञ्जाइश देखी। समस्त विचारों का आधार जो सूत्रधार का कार्य करने में पूर्ण सक्षम था, निम्न या दलित वर्गों को सन्तुष्टि के साथ जीवन-निर्वाह की शक्ति के साधन एकत्रित करने को भी गति और ही ओर गई। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यहाँ भी है कि सांसारिक अन्य क्षेत्रों की ओर उन्नति के निमित्त उतना ध्यान नहीं दिया जाता था जितना जीविका निर्वाह पर। उनका कहना था, पेट की चिन्ता से मुक्ति मिले बिना मनुष्य अन्य किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं हो सकता। सर्वप्रथम उसे पेट भरना है, पूर्णता के साथ पीछे भी उसी के लिए अनेक साधन जुटाने होंगे। इस प्रकार की क्रियाओं के परिणाम में वर्गिक जनता का बौद्धिक विकास नहीं हो सकता। बुद्धि को प्रधान मानना उन्हें इष्ट न था। परन्तु उनके हित ही के लिए जो पहले लेनिन-काल में सामाजिक दृढ़ता थी, वह सब ढीली पड़ गई। स्तालिन उन लोगों को गुरु मानकर अग्रसर हो रहा है। किन्तु वहाँ के जनवर्ग में इस प्रकार उथल-पुथल मच रही है कि धीरे-धीरे एक अजीब विचार-आग सुलग रही है।

पर लोग अभी इसको अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। एक बार वे देखते हैं, इस प्रकार के सामाजिक-विधान में हमें सुख मिलेगा तो उस प्रकार के विधान में?

इस समय वे कुछ अपने में अस्थिरता पा रहे हैं। साम्राज्यवाद युद्ध की व्युत्पन्न परिस्थिति का उन्हें अभी पूरा ज्ञान नहीं है। जनता उनके निर्देश पर ही अभी अविचारे कार्य करती चली आ रही है। विचार का उसमें अभी भी अभाव है। जीवन-शक्ति का दुरुपयोग या सदुपयोग जानने का अभी तक उसे अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। सामन्तशाही-विधान में भी कमकर-वर्ग अपनी शक्ति को व्यवहार में लाना नही जानता। कोई नेतृत्व ग्रहण करनेवाला शक्तिशाली पुरुष होता तो वह भी अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में शायद ही सफल होता। भारतीय बुर्जुआ-वर्ग का समाज कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं रखता था। व्यक्ति, सामन्तशाही, जो कुछ निर्णय करता, उसे मान्य था। यदि किसी ने विरुद्ध-आचरण किया या आँखें ऊपर उठाईं तो इसका दण्ड घोर अस्त्र-शस्त्र-अत्याचार की सीमा-सतह से दिया जाता था। कहा अवश्य जाता था, तुम अपने समाज के नियमों का पालन अवश्य करो, पर उनका समाज ही कितना संकीर्ण था, जो कोई भी कार्य की रूप-रेखा स्थिर करने में निर्द्वन्द्व

था। मानव-मन इस प्रकार के अनेक कड़े बन्धनों में जकड़ा था कि कोई इच्छा नहीं थी, कामना नहीं, विचार नहीं, कुछ नहीं। परन्तु यह कहना कि समाजवादी नींव दृढ़ करने के लिए सर्वप्रथम रूस के मजदूर-संघ ने ही हाथ-पैर हिलाया, गलत है।

ईरान की सूफ़ी-शाखा के कवियों ने पूँजीशाही शक्ति, और नेतृत्व-शक्ति में विफल गर्व, अहं की भावना के विरोध में कई मार्मिक पंक्तियाँ लिखी हैं, जो सिद्ध करती हैं, तात्कालिक हेय जनता की विवशता बड़ी दयनीय या कारुणिक थी। विचारोत्तेजना से ऊबकर वह भी अधिकार-याचना के लिए आगे बढ़ती, पर पुनः वहीं आकर रुक जाना पड़ता, जहाँ से चलना उसने आरम्भ किया था। चूँकि सबल कठोर, क्रूर शक्तियाँ उन्हें धर दबाती थीं। अपने आपको सभी दीन-हीन सम-दृष्टि से देखते। कोई भी ऐसा व्यक्ति उनके बीच न था, जो विचार-विन्दु का उन्हें अर्थ समझाता और वह भावना भरता कि भय या त्रास से जितना ही संकुचित रहोगे उतना ही पिसते रहोगे। उठकर कर्त्तव्य-ज्ञान के द्वारा तथा ऐक्य बल का समावेशकर आगे बढ़ो, अन्यथा आगे चल कर और भी शिथिल हो जाओगे।

इस प्रकार के उद्बोधन वाक्य कहनेवाला उनके बीच कोई न था। रूस में ऐसी परिस्थिति के अवसर पर सहसा विरोध शक्तियाँ या प्रतिकूल शक्तियाँ अनुकूल हो गईं, और इसी समय कई नेताओं का आविर्भाव हुआ जो प्राण की कीमत अधिक नहीं जानते थे, न जानने का प्रयत्न करते थे। वर्त्तमान की प्रत्येक दिशाओं का अध्ययनकर निम्न वर्ग में उत्तेजना की भावनायें भरीं और कर्त्तव्य-ज्ञान का अंकुर उत्पन्न किया। अधिकार का अर्थ समझाया और माँग के लिए हाथ फैलाने का ढंग बताया। और सबसे पहले अपने आप की सबल शक्ति, एकता पर अधिक जोर दिया। इसके बिना उद्देश्य में सफलता नहीं मिलने की। सामाजिक नियमों में अनेक सुधार किये। कल्पना-भावना को कुछ देर के लिए एकदम दूर फेंक दिया और वास्तविक-जगत के निर्माण में सहयोग दिया। सोच-शक्ति, विचार-चिन्तना भी जरा अलग ही रही। सुनने नहीं सिर्फ दिखाने के आधार पर कार्य होना शुरू हुआ।

इतना-उतना होने के उपरान्त एक दिन जाकर लोगों ने जार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे और भयङ्कर युद्ध की घोषणा की। घोर यातनायें, असह्य कष्टों के बाद उन्होंने सफलतायें पाईं। इसके बाद उनके सामाजिक नियम इसी के अनुसार निर्मित हुये। व्यक्ति-व्यक्ति की प्रधानता स्वीकार करना इष्ट न रहा।

प्रत्येक के विचारानुसार एक का निर्वाचन होने लगा। पर आधिक्य का ध्यान अवश्य रहता। रूस के सिद्धान्त माननेवालों का यह कहना है कि वहाँ का कोई भी विचारक या नेता, प्रजा या साधारण जनता की इच्छा के परिणाम में ही चुना जाता है। यदि ऐसा होता तो मत (Vote) की प्रबलता क्यों रहती। अतः यह कहना असंगत है कि एक-एक जनता की इच्छानुसार ही वे निर्वाचित होते हैं। मतभेद रहता ही होगा। इसीलिए तो उनके समाज में ऐसे कितने नियम हैं, जिनके अन्तर्गत ही उन्हें रहने के बाध्य किया गया। अलग रोटी पकाने का थोड़ा भी अवसर नहीं दिया गया। अधिक मतभेद की अवस्था में निर्वाचन-शक्ति का आश्रय लिया जाता। इसके उपरान्त जो थोड़े-बहुत प्रतिकूलता की ओर अग्रसर होनेवाले होते, वे समाज से बाहर नहीं जाते।

दूसरी बात यह कि उनमें यह पूर्ण विश्वास भर दिया गया कि जो कुछ हम करते हैं, तुम्हारे ही हित के लिए। और उन्हें इसलिए विश्वास करना पड़ता कि जार-अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन में वे पूर्ण सहायक-स्तम्भ सिद्ध हो गये थे। अत: चुप की ही गुञ्जाइश रहती। पर सामाजिक, आभ्यन्तरिक अवस्थाओं में उनसे ऊब कर राजनीति की सिर्फ चाल चली जाने लगी है। इसलिए वह विश्वास शायद इन्हें धोखा दे। स्तालिन एक अनुभवी नेता है, पर अकेले के एक की प्रधानता में वह किधर-किधर सँभाले। भूत से वर्त्तमान अधिक सबल हो गया है। परिस्थतियों में परिवर्त्तन (विनाशोन्मुख) अनेक हुए हैं। सामाजिक व्यवधान पर भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है। विज्ञान, मनोविज्ञान, साहित्य, सारांश यह की बौद्धिक क्रियाओं के इस काल में सब वस्तुऐं विकास की चरम सीमा पर पहुँचने को हैं। साथ ही राजनीतिक सतरंज की चालें, समाज के बीच कतरनी का काम करती चली जाती हैं। बाहर देश-विदेश में आज समाजवाद की स्थापना होने की चर्चा हो रही है, बड़े जोरों से। किन्तु समाजवाद के सिद्धान्तों का कोई भी वास्तविक अर्थ जानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। इसकी नींव में अहिंसा सबल रहे या हिंसा, इस पर सोचने के लिए मानों उनके पास समय ही नहीं।

रूस की समाजवादी-नींव औरों की अपेक्षा इसलिए अधिक दृढ़ है कि वहाँ प्रजा-वर्ग की पूछ है। इनकी ताकत, इनकी शक्ति का परिणाम रूस के जारशाही आन्दोलन में लोगों ने देख लिया है। बाहर का समाजवाद कभी-कभी साम्राज्यवाद की सूचना देने लगता है। समाजवाद की स्थापना में रूस ने खून की धारा बहाई है, इसकी नींव खून पर है। नरसंहार, कठोरता, क्रूरता,

हिंसा पर यह अवलम्बित है। उस समय की परिस्थिति को देखकर कहा जा सकता है, इसके बिना अत्याचार का प्रचार रुकना सम्भव नहीं। पर जो कुछ भी हो, क्रान्ति का बीज वपन खून से ही हुआ है। अपनी क्रान्ति के बल पर वहाँ की साधारण प्रजा ने राजनीतिक सब अधिकार एक प्रकार से प्राप्त किये हैं। इस क्रान्ति का शायद अर्थ भी यही होता है।—"समाजवादी क्रान्ति का यह अर्थ होगा कि राजनीतिक अधिकार उस वर्ग के हाथ में आ जाय। जो आज शोषित है।"*

यदि इस क्रान्ति में सबका (दलित वर्गों का) पूर्ण रूप से सहयोग प्राप्त हो जाय तो निस्सन्देह उन्हें उत्तरोत्तर अपने कार्य में सफलता प्राप्त होती जायगी। भारतीय समाजवाद और वहाँ के समाजवाद में यह एक विशेष अन्तर है कि किसी भी क्रान्ति के पूर्व यहाँ आज हिंसा-अहिंसा का प्रश्न बड़ी सफलता के साथ उठेगा। और वहाँ क्रान्ति का अर्थ है, आग, लूट-लपट, हिंसा। बिना इनके साम्राज्य-सत्ता डोल नहीं सकती। मानव की आत्मा खून की भूचाल से काँप जाय। खून का बदला, खून इसको किसी भी परिस्थिति में न भूले। आश्चर्य तो यह है, इस सिद्धान्त में अवनति की अवस्था में भी उन्हें अटल विश्वास है। भारतीय समाज गान्धीवाद से प्रभावित है। इसलिए उसे इस विश्वास पर धोखा है। इसको वह सिद्धान्त के रूप में कभी भी ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं। परन्तु योग्य नेता की प्राप्ति के पश्चात् भी उसे निम्नवर्ग का विशेष सहयोग नहीं प्राप्त होता। और—"समाजवादी अधिकारियों को इस दलित वर्ग की सक्रिय सहानुभूति के द्वारा अधिकार की प्राप्ति हुई होगी, तब तो वह समाजवादी व्यवस्था की ओर निर्भयता के साथ बढ़ सकेंगे।† सक्रिय सहयोग सर्वप्रकारेण अनिवार्य है। समाज का शासन-विभाग मनुष्य को नियंत्रण, संयम का अर्थ समझाये। अन्यथा मनुष्य की विशेष स्वतन्त्रता में उच्छृङ्खलता आ जायगी। और वह अपने सब प्रयोग उद्दण्डतार्ण करेगा।

शासन-विधान के स्वरूप पर शासन-समिति ही उचित रूप से विचार सकती है, यदि समाज का अकेला कोई सूत्रधार इस पर सोचे-विचारेगा या संशोधन एवं परिवर्त्तन करेगा, तो व्यवस्था में अनेक दोष आयँगे, जो सबके लिए अहितकर प्रमाणित होंगे। नियम के अनुकूल चलने-चलाने का अभ्यास डालना

---

* समाजवाद पृ० २३८।

† समाजवाद पृ० २३९।

चाहिये। अन्यथा स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसा कुछ हो जायगा, जो कल्याणकर नहीं सिद्ध होगा, युद्ध या आन्दोलन में रक्त बहाने के उपरान्त भी वैसा कुछ स्थिर नहीं हो सकेगा जो सब शोषितों की माँग की पूर्त्ति कर पायेगा, अतः समाज के अन्तर्गत सबको चलना-चलाना है तो उसके सब नहीं तो कुछ विशिष्ट नियमों से भी अवश्य अवगत करायें जो बोझिल भी न हों, न अति सरल। शासन-समिति उसमें पृथक ही अपना कार्य करे। मूढ़ वर्ग के ऊपर शिष्ट औफिसर शासन करे तो अपने को औफिसर मानकर नहीं या इन औफिसरों की आवश्यकता भी नहीं पड़ सकती है, यदि उचित कर्त्तव्य-पालन करनेवाला सहृदय व्यक्ति उनकी देख-रेख करे। परिश्रम-पूँजी का दृष्टिकोण संकीर्ण न हो। अन्यथा दिन-दिन इसकी व्यवस्था भी बिगड़ती जायगी, और फिर एक बार खून बहाना पड़ जा सकता है। और प्रत्येक छोटे-मोटे कार्य के लिए क्रांति का उद्घोष अनुचित होगा। हर समय आन्दोलन करने से उसका महत्व घट जायगा। फलतः कार्य की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

मूढ़ता को दूर करने के प्रयास स्तुत्य हैं। किन्तु उनकी विधियाँ स्वार्थ का घर न प्रमाणित हों। एक, दो, चार के ऊपर शासक, साम्राज्यवाद का जज न बन जाय। चूँकि मानव की प्रवृत्तियाँ, कमजोरियों से पूर्ण हैं। कभी भी इधर से उधर हो सकतीं हैं। अधिकार का प्रयोग अनर्थ को लेकर नहीं हो। अपने में उचित शक्तियों का प्रादुर्भाव देखे तो वर्ग निमित्तक वाक्य कहा करे। अन्यथा निस्तब्ध वातावरण की ही शरण ले। किसी भी कार्य को आरम्भ करने के पूर्व यह सोच ले कि वह महत्वपूर्ण है या नहीं। एक अच्छा विचारक, क्षुद्र वस्तुओं या कार्यो के आरम्भ में हाथ नहीं बँटा सकता। महान् प्रयोगों के साधक अपनी बुद्धि की निश्चयता पर सोच-विचार कर श्रेष्ठ कार्यो का आरम्भ करते हैं।

"आरम्भन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥"

इस प्रकार के सिद्धान्त पर अग्रसर होनेवाले महान् तपस्वियों या साधकों का प्रायः अभाव-सा रहता है। मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त मनुष्य को अपने अधिकार का ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं, किन्तु निष्कर्ष पर पहुँचाने के प्रबल प्रयास नहीं करते। व्यावहारिक भावना की उपज के लिए उसी प्रकार के सामाजिक नियमों का निर्माण होना चाहिये था। पर इस पर अधिक दृष्टि न डाल कर अधिकार-माँग की ओर अधिक दृष्टि डाली गई। सामाजिक सब रूढ़ियों के बहिष्कार के प्रयास स्तुत्य नहीं हो सकते, चूँकि

समस्त रूढ़ियाँ हेय नहीं हो सकतीं, उनकी अच्छी-बुरी का उचित माप होना चाहिये। किन्तु मापक एक अच्छा विचारक, सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाला और उचित-अनुचित का शब्दतः ही अर्थ मात्र न जानता हो। हृदय-दौर्बल्य का ज्ञान रहना अनिवार्य है। सिर्फ सबलता पर गर्व करनेवालों को धोखा भी हो सकता है। चूँकि किसी भी वस्तु या विचार का अहं मनुष्य को उचित परिस्थितियों का परिचय दिलाने में प्रायः अक्षम रहता है। वस्तुस्थिति के विषय में मनुष्य को सदा सतर्क रहना चाहिये, जिससे कोई उसका प्रबल शत्रु सामना न कर सके। युद्ध में ही शत्रु नहीं होते, अन्य स्थानों, अन्य परिस्थितियों, अन्य अवसरों में भी व्यक्ति के अतिरिक्त विचार और भावना भी शत्रु सिद्ध होती है।

इसका भी ज्ञान रखना बुद्धिमत्ता का द्योतक है। जीवन-जीविका के साधन जुटाने के लिए ही समाज का नहीं निर्माण करना चाहिये। इससे हट कर पृथक मनुष्य की तरह जीवन-यापन के निमित्त समाज की स्थापना होनी चाहिये। अन्यथा पशुवत् उसी में घुला-सा मानव प्रतीत होगा। महत्त्वरहित, अस्तित्वरहित जीवन बिताने का यह अभिप्राय हुआ कि किसी भी कार्य के सर्वथा उपयुक्त जीवों की तरह वह जीने का आदी है। इस प्रकार के जीवन से घृणा होनी चाहिये।

रूस का समाजवाद साधारण मनुष्य को इसी प्रकार रखता है। खाने की वह इतनी अधिक प्रधानता देता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का किसी को ज्ञान नहीं होने पाता। समय आने पर उस प्रकार का ज्ञान भर देने के लिए वे सोचते हैं। पर कभी-कभी यह धोखे का भी रूप ग्रहण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए चुन लिया गया है, अमुक व्यक्ति या वर्ग अमुक कार्य के लिए है। किन्तु इस पर शायद नहीं सोचा जाता है कि यदि अमुक व्यक्ति, अमुक कार्य के लिए अयोग्य है तो उसे सुयोग्य भी बनाया जा सकता है। अपूर्णता या अयोग्यता के लिए वह त्याज्य, परिहार्य नहीं है। उसकी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए समाज में साधन होने चाहिये।

मै मानता हूँ कि उनके श्रम में सन्तोष और भोजन-समस्या का पूर्ण रूप से समाधान है, अतः वे इसकी चिन्ता से सर्वथा मुक्त हैं, किन्तु समाज-निर्माताओं को थोड़ी देर के लिए एकान्त की शरण ले विचारना चाहिये कि यही, हाँ, सिर्फ यही एक समस्या नहीं है। बल्कि इस प्रधान चिन्ता की मुक्ति के कारण उसे और भी अधिक से अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने चाहिये। कह सकते हैं, वह किसी से, किसी भी विषय में पिछड़ा नहीं है। किन्तु आज

की उन्नति की यह चरम सीमा कल एकदम न्यून न हो जाय। वर्त्तमान में इतनी पूर्णता और सबलता रहनी चाहिये कि भविष्य का कल उसे उपेक्षा की दृष्टि से न देखे। भारतीय मध्य काल का समाज अपना स्वरूप निश्चित न कर सका था। उसके भी आरम्भ की सामाजिक नींव बड़ी सुदृढ़ थी। उस समय का समाज अपने में पूर्ण कहा जाता था। प्रत्येक क्षेत्र के लिए पूर्णता से वह सम्बोधित होता था, किन्तु उसके नियम या सिद्धान्त विलीन-से होने लगे। उन्नति की पराकाष्ठा आज हर की मुँहताज बनी-सी दीखती है। वह इतनी हेय और त्याज्य है कि उसका कोई भी अनुग बनने वाला हास्य या उपहास की दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए कि उस समय का वर्त्तमान अधिक सजग न था। सामाजिक नियम मनुष्यता के निर्माण में अधिक सहायक नहीं थे। अपने आप में सभी पूर्णता अनुभव कर रहे थे। गर्व सब में घर कर चुका था।

यह सच है कि उनके तात्कालिक निर्माण बड़े सबल एवं उत्कृष्ट थे। किन्तु आनेवाली पीढ़ी के लिए जागृति और अमरता के सन्देश के निमित्त अधिक कुछ नहीं किया गया था। फलतः जनता कर्त्तव्य-भावना से दूर रही। आलस्य का समावेश होने लगा। स्वतन्त्रता का अर्थ जानने की आवश्यकता नहीं रह गई। जिसमें जहाँ हो, उसी में वहीं रहो, तुम्हारे लिए वही ठीक है, इस प्रकार के सुनिश्चित विचारों का उनमें समावेश होने लगा।

सामाजिक पूँजी श्रम का प्रतिशब्द है ?

किसान मजदूर या इसी वर्ग के व्यक्तियों के सर्वथा उपयुक्त समाज का सिद्धान्त पूँजी की विशिष्टता सिद्ध करता हुआ भी अपने को पूँजीवादी से पृथक् मानता या समझता है। एक प्रकार से उसका समाज घोर पूँजीवादी है, श्रम को लेकर। सच भी है, श्रम-परिश्रम करने के उपरान्त ही वे पेट की चिन्ता से मुक्ति पाते हैं। रूस की सामाजिक पूँजी भी श्रम ही है किन्तु आज स्तालिन के युग में वहाँ शायद कोई श्रमिक ही नहीं है, पर शिष्ट-मध्य वर्ग वहाँ भी है, जो सिद्ध करता है, श्रमिक-दल वहाँ भी है, किन्तु उसके भी अधिकार हैं, उसका भी जीवन, महत्ता को लिये हुए है। वर्ग में स्वतन्त्रता है। समाजवाद में स्वतन्त्रता का प्रश्न बराबर उठता रहता है।

भारतीय औद्योगिक क्षेत्र के मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए अनेक असह्य कष्ट अवश्य उठाते है, पर वे प्रतिक्रियावादी नहीं हैं। उनका जीवन अन्तर्द्वन्द्व का केन्द्र नहीं है। एड़ी से चोटी तक पसीना बहाने का नाम वे कर्म नहीं

जानते, पेट का व्यापक अर्थ मात्र जानते हैं। इससे बाहर आँकने का उनके पास समय नहीं। अधिकार का शाब्दिक अर्थ भी जानना, उनके लिए शाप है, वरदान के रूप में। भारतीय ऊपर उठा हुआ वर्ग इससे उचित से भी ज्यादा लाभ उठा रहा है। अधिक से अधिक उनकी इच्छाओं के दमन में एक प्रकार का उसे आनन्द या विश्राम मिलता है। निम्नवर्ग के लिये एक ऐसे समाज का उसने निर्माण कर दिया है, जो अनेक कष्टप्रद सीमाओं में घिरा हुआ है। इस समाज की पूँजी श्रम परिश्रम का प्रतिशब्द है। चूँकि मजदूर वर्ग के श्रम से उसके मनोरंजन की सामग्रियाँ एकत्रित करने के लिए पर्याप्त रुपये एकत्रित होते हैं। और इसीलिए अपनी इस सामाजिक पूँजी की विनष्टि किसी प्रकार भी सहने के लिए प्रस्तुत नहीं। उससे कुछ निम्नस्तर पर रहनेवाले मध्य वर्ग के पास इतना समय नहीं है कि वह निम्नवर्ग को यह ज्ञान दे कि अपने श्रम का मूल्य माँगना, तुम्हारा श्रेष्ठ और उचित कर्त्तव्य है। समाज के स्वातन्त्र्य विधान के लिए तुम हाथ-पैर हिलाओ, अन्यथा दिनोदिन तुम्हारी दशा हीन से हीनतर होती जायगी। आधियों-व्याधियों में ग्रस्त रहोगे।

मध्यवर्ग पहले तो ऐसा करना अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझता है। कुछ व्यक्तियों का इधर ध्यान झुका भी तो साधन का नितान्त अभाव होने के कारण चुप, एकदम चुपके संसार में रहते हैं। क्लर्की-जीवन भी निम्न ही जीवन है। पारिवारिक-स्थितियों को सँभालने में इस प्रकार वह व्यग्र रहता है कि अपने से इधर-उधर देखने की उसे तनिक भी फुर्सत नहीं। सुबह-साँझ की फ़िकर उसकी स्वाभाविक अवस्था में भी कमी ला देती है। यौवन की उदग्र आकांक्षाओं की पूर्त्ति पर वह अधिक जोर देती है। फलतः शारीरिक क्षय होता जाता है, मस्तिष्क की समस्त शक्तियाँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं। एनर्जी नष्ट हो जाती है। आँखें धस जाती हैं, गालों के बीच गर्त्त आ जाता है। हड्डियों की कड़क जाती रहती है। इस प्रकार की जिन्दगी से वह ऊब जाता है, शिष्टता के ढोंग पर रोष और घृणा आने लगती है। और वह समझने लगता है, सार्टिफिकेटी अध्ययन ने किस प्रकार उसे सर्वप्रकारेण नितान्त कमजोर बना दिया है।

शारीरिक श्रम किसी भी दशा में शायद ही सम्भव है। बौद्धिक श्रम से पेट भरता नहीं; इधर-उधर किधर भी उन्हें स्थान नहीं। उभ-चुभ की जिन्दगी में ही एक दिन इस संसार से विदा ले लेते हैं। कुछ सीमा तक निम्न वर्ग से उनकी सहानुभूति रहती है। साम्राज्यवाद के लिये मध्यवर्ग की अधिकारी

सामाजिक पूँजी श्रम (बौद्धिक) ही है। दोनों प्रकार के श्रम पूँजी ही हैं। किन्तु अवस्था में विभिन्नता एवं विच्छिन्नता है।

मध्यवर्गीय सामाजिक पूँजी में अधिकारीवर्ग शिष्टता, ज्ञान का अंकुर देखता है तथा ये अपने स्वत्त्व का कुछ अधिकार भी रखते हैं। इनका जीवन उसाँसों का केन्द्र है। निम्नवर्ग सिर्फ श्रम जानता है, चूँकि भूख वाली गम्भीर समस्या का एकमात्र निदान वह इसी में पाता है। परन्तु इन मजदूर या कमकरवर्ग के समाज के अतिरिक्त एक किसानवर्ग है, जो इनसे थोड़ा पृथक् है, इनकी भी सामाजिक भित्ति में वैसी ही कुछ सीमित भावनायें एवं चालें हैं, किन्तु भूमि, विघटित-श्रम में अन्तर है।

किसानों की भूमि-सम्बन्धि व्यवस्थाओं में लगान, बँटवारा उन्हें अव्यवस्थित करते रहते हैं। समाज में स्वतन्त्रता नहीं, प्रकृति, स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करती, पर बेकार में सर पर बला मोल लेने का विरोध वह अवश्य करती है। जमीन्दारों के अधिकारों का दुरुपयोग वे सह सकते हैं, घाटा पर घाटा, सूद पर सूद, सब कुछ देंगे-लेंगे, करेंगे, सहेंगे, पर अपनी जमीन कदापि नहीं छोड़ेंगे। भूमि-श्रम समूचे देश की सामाजिक ही नहीं समस्त जीवन की विचित्र महत्त्व पूर्ण पूँजी है। किन्तु इस पूँजी में भी उन्हें विश्राम नहीं, सन्तोष नहीं। असन्तोष की आग में झुलसेंगे, पर अनेक प्रयत्नों के परिणाम में अनुभव करने की शक्ति की चिन्ता नहीं करेंगे, अतः अपनी ही पूँजी का प्रयोग अपने लिए नहीं कर सकते। तिजोरी और चाभी उन्हीं के हाथ में है, पर खोलें नहीं, इसके लिये सशस्त्र पहरेदार भी नियुक्त रहते हैं। अतः खोलने का अधिकार नहीं। आदेश नहीं दिया गया है, इसके लिये। भूमि-विभाजन-क्रिया में बहुत स्वार्थ से काम लिया गया है। पूँजी और श्रम के साधनों की सदुपयोगिता भी नहीं हो रही है :—'समाजवादियों की दृष्टि में आजकल इन दोनों साधनों का भी भूमि की भाँति ही दुरुपयोग हो रहा है और यह दुरुपयोग कई कारणों से भूमि के दुरुपयोग से भी अधिक भीषण परिणाम उत्पन्न कर रहा है।*

प्रत्येक दृष्टि से साधारण उठा हुआ समाज भी श्रम या पूँजी का अन्यपरक अर्थ लगा कर मनमाना उसका प्रयोग कर रहा है। सामाजिक स्वरूप-निश्चय में सर्वप्रथम उसका ध्यान पूँजी, हाँ, किसी भी प्रकार की पूँजी पर हो जाता है, व्यय की जगह अधिक आय के लिए अनेकों प्रयत्न कर समाज की प्रधानता सबसे स्वीकार कराता है। वेतन के अविकृत नियमों के

* समाजवाद, पृ० १०९ और ११०

अतिरिक्त चन्दा द्वारा जो पूँजी एकत्रित की जाती है, उससे पृथक् श्रम के पर्याप्त लाभ पर उसकी कड़ी दृष्टि रहती है।

भारतीय निम्न-श्रेणी के लिए जिस समाज का मूल नियम दब-दबाकर बैंक के समान किसी जगह पर द्रव्य-विशेष को रखने के लिए है, उसमें न आमूल तो कुछ भी जब तक परिवर्त्तन न होगा, तब तक ऐंठने की प्रवृत्ति नहीं छूट सकती। किसान चली आती हुई परम्परा को अपने भक्तों की तरह मानना, अपना पहला कर्त्तव्य समझते हैं। रूढ़ि या परम्परा के अन्तर्गत जो नियम-विधान हैं, उनमें हेर-फेर हो सकती है, किन्तु मस्तिष्क के अभाव एवं अंधविश्वास के कारण वह चुप ही है।

सामन्तशाही कृषक अपने आप में पूर्ण नहीं तो अपूर्ण भी न था, कुछ भागों में क्रय-विक्रय ने अवश्य उन्हें स्थिर किया था। विश्वगुप्त काल में किसानों को सम-भाव की अवस्था ने मुँह खोलना सिखाना ही चाहा था कि पुनः अधिकृत वर्ग ने उन्हें दबाना आरम्भ किया और वे सीमान्त-रेखा में ही विचरने लगे। उनके हितों के लिए जो समाज-विधान बने, उसमें भूमि की सङ्कीर्ण-व्यवस्था कायम रही। अधिकार के अर्थ का लोप ज्यों का त्यों रहा। जीवन-निर्वाह सम्बन्धी नियम में बल्कि और कुछ गढ़ा ही गया।

सामन्त-वर्ग पूर्ण सन्तोष-प्राप्ति के लिए कड़े से कड़े नियमों का निर्माण करने लगा। किसान विचलित के विवलित रहे। आँखें मूँद कर स्वार्थी-मानव के आदेशों का पालन करते रहे। अपनी जीविका के साधन में क्रमशः अभाव पाते गये, किन्तु इसके लिए वैसा कुछ करना, जिसमें उनका उपकार था, उन्हें इष्ट न था। बल्कि उनसे पूर्व का सम-वर्ग बहुत अच्छा था। जंगली, महामूढ़ शब्द से अवश्य सम्बोधित होते थे, किन्तु सन्तुष्टि के लिए उन्हें प्रयास न करना पड़ा था।

अपनी प्रत्येक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये एक दूसरे का मुँहताज नहीं बनना पड़ता था। सभ्यता के विकास के प्रथम सोपान का वह आदिकाल था। बाहुबल पर उन्हें विश्वास था, उत्पादन शक्ति भी दृढ़ थी।—'एक समय था जबकि प्रायः सभी लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति अपने और अपने घर वालों के श्रम से कर लेते थे। यह सभ्यता का आदिम काल था। पुरुष शिकार कर लाये या खेती करके अन्न लाये, स्त्रियों ने भोजन-वस्त्र तैयार कर लिया।'*

---

*समाजवाद, पृ० ११।

सभ्यता के क्रमिक विकासानुसार हम समाज के परिवर्त्तन में एकाङ्गी भाव पाते गये। दूसरे, तीसरे-चौथे पर अधिकार जमाने वाले व्यक्ति की वृद्धि होने लगी। समाज की पूँजी, श्रम का प्रतिशब्द है, इस पर अधिक जोर दिया जाने लगा। द्रव्य का अभाव था, पर श्रम द्रव्य की वृद्धि दिनोदिन व्यक्ति विशेष को लोभ देने लगी, फलतः उसने क्रमशः नियम में परिवर्त्तन किया, जिसमें पूँजी की विशिष्टता सिद्ध करनेवालों की प्रतिष्ठा होने लगी। यों मस्तिष्क-शक्ति द्वारा कृषक को एकदम श्रमिक दल में रखा जाने लगा, और उसकी सबल शक्तियों को कमजोर बनाये जाने का प्रयत्न होने लगा, किंतु उस समय भी इस पर ध्यान दिया जाता था कि वह एकदम कमजोर न बना दिया जाय, चूँकि शक्तिरहित होकर वह, श्रम-पूँजी एकत्रित करने में सहायक न होगा। पेट का प्रश्न उठने पर सहज ही में हँस कर कह दिया जाता था, तुम्हारा अवश्य पेट भरता रहेगा, परन्तु व्यग्रता की सीमा न बढ़े। चूँकि तुम्हें सोचना चाहिये, हमें भी तुम्हारे लिए कितने व्यय करने पड़ते हैं। पारिवारिक उदर-पूर्त्ति के लिए हमें भी चिन्तायें करनी पड़ती हैं। उत्पादन-साधन भूमि में भी व्यय करने पड़ते हैं।

इस प्रकार शब्द-जाल द्वारा उनके हृदय में करुणा की सजगता लाकर लोग अपना साधते गये, साधकों के वर्ग में जोरों की वृद्धि होने लगी, स्वार्थ-प्रवृत्ति बढ़ती गई। दमन-शासन की क्रिया अपना कार्य करती गई। और अब निम्न वर्ग का निर्माण होने लगा। एक प्रकार से इस वर्ग के लिए सभ्यता के क्रमिक-विकास ने हानि से बड़ी हानि ही पहुँचाई है। मानव की समता पर विचार होना, धीरे-धीरे बन्द होता गया। अधिकार-भावना बढ़ती गई। साथ ही तुच्छ से तुच्छ व्यवहार बरता जाने लगा। बेचारे निम्न वर्ग के पास सोचने की शक्ति नहीं थी। और न दी गई। स्वार्थ की प्रबलता ने ही उन्हें यह सीख दी कि ऐसा करने से तुम्हारी पूँजी विनष्ट हो जायगी। वे सजग हो गये, सतर्कता उनमें आ गई। बौद्धिक-विकास के सबल प्रयास ने उच्च स्तर पर रहनेवालों को आँखें दीं, अपनी पूँजी को संगृहीत करने के लिए निम्नों की अति मूढ़ता ने उन्हें शब्दों से तो परिचय नहीं ही कराया, साथ ही आलस्य की प्रबलता उनमें भर दी। बाद के समाज ने बड़ी उग्रता का रूप धारण किया, किन्तु फिर भी ज्ञान के अवगमन का अभाव रहा ही। बुर्जुआ वर्ग माँग का मार्ग नहीं जानता था, किन्तु माँग की अवश्य। लिच्छवी राज्य काल में क्रय-विक्रय ने अति भीषणता भरी, निम्न वर्ग में। 'बाहुलाश्व' का क्रीत व्यक्ति, शीघ्र 'प्रसेनजित' के यहाँ इसलिये जाने को प्रस्तुत नहीं

होता कि पुनः उसे बिकना पड़ेगा। इतना मात्र उसका अधिकार न रहा कि वह अपने शरीर पर भी कुछ हक रख सके। लोहे से भी अधिक मजबूत शृङ्खला में बँधा हुआ अपने को पाया।

समाज ने पूँजी को और भी विकास—सोपान पर अग्रसर कराया। पूँजी की क्रियात्मक शक्ति ने श्रम की कीमत बढ़ाने के बजाय घटाई ही। श्रम बढ़ता गया, बढ़ता ही गया, और उसकी कीमत घटती, घटती ही गई। और यहाँ तक घटी कि अब कोई भी कीमत न रह गई। क्रय-विक्रय ने मालिक, स्वामी की पूँजी को इम्पीरियल बैंक सिद्ध किया। लाभ, अत्यधिक लाभ होता गया। पर राज्य के आवर्त्तन-परिवर्त्तन ने उस सामाजिक पूँजी में हमेशा अपनी गति के अनुसार कभी + (प्लस), कभी सिर्फ — (माइनस) का चिह्न दिया। मौन-वृत्ति ने भी यहाँ एक बार मध्य की आवृत्ति की। किन्तु औद्योगिक क्रियाशीलता ने निम्नों को अपने यहाँ जगह दी। क्रय-विक्रय एक प्रकार से बन्द होने लगा। स्वामी की पूँजी फिर भी घटी नहीं। उसके साधन की विधियों में कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुये। मिल, कल कारखानों में निम्नों ने श्रम को लगाया, फलतः खर्च का क्षेत्र बढ़ता गया, पूँजी भी बढ़ती गई। मजदूरों, श्रमिकों को भटकने की जरूरत न होती थी, आँखें मूँद कर आने पर भी स्वामी अपने यहाँ जगह देने की दया दिखाता था। मजदूरी इतनी देता, जिससे मुश्किल से वह अपना पेट भर पाता था। स्वामी अल्प मजदूरों से अत्यधिक लाभ उठाता था। अधिक मजदूरी कदापि देने को नहीं सोचता था; इसलिए कि दूसरे दिन मजदूर उसकी पूँजी की वृद्धि में सहायक न होगा, चूँकि उसका पेट भरा रहेगा।

किन्तु इसका परिणाम बुरा होता गया, समय की गति-विधि ने उन्हें माँग का अर्थ सिखलाया। किन्तु सामाजिक दुरावस्थाओं ने चुप ही रहने को बाध्य किया, इसलिए कि उनके विरोध में हर समय विवशतायें मुँह बाये खड़ी थीं। किन्तु आँखों को ज्योति मिलती गई। प्रकाश की क्षीण रेखा ने सूचित किया कि अधिकार माँग में कल्याण है, ऊपर उठने मात्र की जरूरत है। बंग साहित्य ने भी इधर दृष्टि डाली। रविदादा ने निम्नों के लिए बड़ी अच्छी-अच्छी पंक्तियाँ गूँथी हैं। प्रगति के सब तत्त्व उनके साहित्य में वर्त्तमान हैं, जो प्रगतिवाद में पूर्णता को प्राप्त हैं। विनय घोष या बुद्धदेव बोस को वर्त्तमान बङ्गीय आलोचक प्रगतिशील साहित्यकार मानते हैं, पर ये मेरे जानते सिर्फ रशियन समाजवाद (प्रयोगी) से प्रभावित हैं, अन्यथा प्रगतिशीलता के व्यापक अर्थ से भी सम्भवतः पूर्ण परिचित नहीं हैं। रवी से पूर्ण साहित्य के पृष्ठपोषक हैं।

स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने निम्न श्रेणी की स्थिति के व्यक्तियों को यह ज्ञान अवश्य देना चाहा कि तुम ऊपर उठ कर आँखें फैला कर देखोगे तो दीखेगा, तुम मजबूत हो, वे कमजोर हैं। उन्होंने सन्देशवाहकों से कहा—"इन सब मूढ़, म्लान, मूक (गाँव वालों) के मुखों में भाषा देनी होगी; इन श्रान्त, शुष्क भग्नवक्षःस्थलों में आशा का संचार करना होगा, बुला कर कहना होगा—भला एक बार मुहूर्त्तभर के लिए सिर उठा कर खड़े तो हो जाओ; जिसके भय से तुम डर रहे हो, वह अन्यायी तुमसे कहीं अधिक डरपोक है, ज्यों ही तुम जग पड़ोगे, वह भाग खड़ा होगा, ज्यों ही तुम उसके सामने खड़े होगे, वह रास्ते के कुत्ते के नाईं त्रास से संकोच में गड़ जायगा। देवता उसके विमुख हैं, कोई नही है, उसका सहायक, केवल मुँह से बड़ी-बड़ी बाते हाँका करता है, मन ही मन वह अपनी हीनता का जानता है।"

"—एइ सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हबे भाषा; एइ सब श्रान्त भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा; डाकिया दालिबे हबे—
मुहूर्त्त तुलिया शिर एकत्र दाँडाओ देखि सबे,
यार भये तुमि भीत से अन्याय भीरु तोमा चेये
यखनी जागिबे तुमि तखनि से पलाइबे धेये।
यखनी दाँडाबे तुमि सम्मुखे ताहार-तखनि से
पथ कुक्कुरेर मतो संकोचे सत्रासे या बे मिशे
देवता विमुख ता रे. केहो नाहि सहाय ताहार,
मुख करे आस्फालन, जाने से हीनता अपनार

मने मने............

इस प्रकार के सन्देश को कोने-कोने में फैलाया जाय तो निम्नों में सजगता आ जायगी। उन्हें प्रेरणायें मिलेंगी, आशा, उमंग, जागृति का संचार होगा। परन्तु पूँजीशाही की भित्ति ढाहनेवालों का जैसे इस प्रकार की पंक्तियाँ गूँथने की आवश्यकता ही नहीं। शिष्ट, प्रगतिशील तत्वों को एकत्र करने के बजाय व्यर्थ की उद्धता, व्यर्थ का ढोंग प्रगतिशीलता के प्रचार में वे जीतोर परिश्रम कर रहे हैं। प्रगति का नाम जीवन है, जो किसी भी साहित्य में मूर्त्त होकर रहना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि अनिकों के लिए झूठ उद्बोधन की पंक्तियाँ ही जीवन का परिचायक होंगी। शापित, दलित वर्ग को चेतनायुक्त बनाने के लिए रवीन्द्र जैसी पंक्तियाँ गूँथनी चाहिये।

समाजवाद की (सिर्फ वर्गिक) पूँजी का उचित ज्ञान सबको रहना चाहिये। शोषक को इसका पूर्ण ज्ञान है, जिसमें चातुर्य अधिक है : शोषित अपनी श्रम-पूँजी का उचित ज्ञान रखता तो अति को सहना नहीं पड़ता। पर यह तो उनका दोष नहीं, दोष उनका है, जो इस ज्ञान को उनमें भरने से डरते हैं। देश-विदेश की परिस्थितियों पर शोषण से समाज का निर्माण होता है। भावना-कल्पना का जहाँ कोई अर्थ नहीं जानता, न परिस्थितियों का कुछ भी ज्ञान रखता, वह भला कैसे समाज का निर्माण कर सकता है !

श्रम की उपयोगिता का मूल्य आँकते हुये श्रमिकों के हितार्थ समाज का निर्माण होने पर वर्ग-संघर्ष की शायद आवश्यकता नहीं पड़ती। कल कारखानों का स्वामी का कहना मात्र है कि मैं तुम्हारे श्रम का अच्छी तरह मूल्य आँकता हूँ, किन्तु वस्तुतः मूल्य आँकने की उसे न फुर्सत है, न इसकी वह आवश्यकता ही अनुभव करता है। उनके जीवन की रक्षा का प्रश्न न उठे, इसके लिए घोर प्रयत्नशील रहता है, चूँकि जानता है। इसका प्रश्न उठा तो अनुकूल उत्तर न देने पर अनर्थ की आशंका है। परन्तु श्रमिकों की दशा में अब परिवर्त्तन होने लगा है, वे जान गए हैं, अपनी माँग-पूर्त्ति के लिए प्रयत्न करने पर सफलता मिल सकती है। हड़ताल, आन्दोलन के द्वारा शोषकों का अपनी ओर हम ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं।

साम्राज्यवाद के भयङ्कर स्वार्थ के युग में दोजख पेट की आग अगर चार आने में न बुझ सके तो आठ आने के लिए आन्दोलन करना अपना कर्त्तव्य है, ऐसा वे समझने लगे हैं। परन्तु सर्वत्र की अभी ऐसी परिस्थिति नहीं हुई है। किन्तु सामाजिक परिवर्त्तन जो अनिवार्य था, वह अभी तक अपनी जगह पर ज्यों का त्यों खड़ा है। उसकी दृष्टि में शोषित के श्रम को सँजोकर रखना पूँजी के लिए हितकर ही है। आश्चर्य है, फिर भी उनकी पूँजी घटने के बजाय वृद्धि पर ही है, इसका कारण यह है कि श्रमिक देखते हैं, अधिक आन्दोलन करने पर परिवार की भूख की समस्या विकल कर देती है, वह वाध्य करती है, री ज्वायन के लिए। सत्ताधारी भी इससे लाभ उठाते हैं कि देखें, कब तक वह आन्दोलन पर जीता है। वह इसको अच्छी तरह जानता है, भूख की आग के आगे कुछ नहीं, कोई नहीं, एकदम नहीं टिकता।

आन्दोलन का नेता भी व्यग्रता की स्थिति में पलने लगता है। पीछे भूख ही वाध्य करती है। उस नेता को कोसने के लिए। पर यदि वह अपने में पूर्ण बल का समावेश देखे तब एक बार भी असफलता का ख्याल न कर बराबर की सफलता के लिए सतत प्रयास करे।

शोषक की अपनी विवशतायें भी शीघ्र आने वाली हैं, जो श्रमिकों की उचित माँग की पूर्त्ति के लिए बाध्य करेंगी। पर शोषित, दलित वर्ग को वातावरण के अनुकूल बनने की उचित शिक्षा देनी चाहिये। शिक्षक का ज्ञान प्रौढ़ होना चाहिये, अपने में अच्छी योग्यता का समावेश देखे तब उनके हित-साधनों की चर्चायें करे, अन्यथा अपने साथ उन्हें भी ले डूबेगा। शिक्षा-प्रणाली की विधियों पर पूर्ण दृष्टि डाल कर वर्गिक रूप-रेखा स्थिर करने के पश्चात् अग्रसर होना, सूचित करेगा कि अपने उद्देश्य में उसे पर्याप्त सफलता मिलेगी।

शिक्षक का कार्य भी उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। उसकी भी मान्यतायें होती हैं जो कुछ का कुछ कर देने की प्रबल शक्ति रखती हैं, गुण-विशिष्टता के कारण उसके सिद्धान्त अटल होते हैं, मान्य भी। पर धोखा या छलना की प्रवृत्ति अधिकांश में विराजमान रहती है। साधारण वर्ग पर अधिकार-भावना उनमें पशुता का सचार करती है। नेतृत्व ग्रहण करने की शक्ति हो या नहीं, किन्तु नेता बन बैठते हैं। भारतीयों में यह प्रवृत्ति घर करती जा रही है। बृटिश साम्राज्यशाही की भी इसी प्रकार की भावना है, पहले से ही भारत में नेतृत्व की आकांक्षा न थी, पर अब पाश्चात्य की अनुकृति ने नेतृत्व की ही नहीं और प्रकार की घृणित दूषित भावना भी भर दी है। शिक्षक सब ओर से विमुख होकर सिर्फ अपने शिक्षण पर ही अधिक पैनी दृष्टि रखता है, बल्कि भारतीय शिक्षक तो अत्यन्त सहृदय, उदार, अच्छी मनोवृत्तियों वाला होता है। वह जानता है कि मनुष्यता के गुण के लिए ही हमें सब प्रयत्न करने हैं। समता के प्रचार की हमें शिक्षा देनी है।

समाजवाद की पूँजी की मैं निन्दा नहीं करता, किन्तु श्रम के अति लाभ द्वारा पूँजी का संग्रह मेरे जानते अनुचित है। शिक्षक चाहे तो अपनी सद्-प्रवृत्तियों द्वारा वैसे समाज का उनके आगे निर्माण कर सकता है, जो पूँजी और श्रम की उचित व्याख्या से परिचय प्राप्त करा सकता है। भूमि—श्रम की पूँजी कुछ हद तक अपने आप में अच्छी भी हो सकती है, किन्तु वैज्ञानिक-निर्माण द्वारा अभीप्सित कल-कारखानों के लिए जो श्रमिकों का श्रम है और उसकी जो बैंकवत् पूँजी है, उसकी क्रियायें मार्मिकता की जगह कठोरता को प्रविष्ट कराती है। शिक्षक इस सम्बन्ध का, इस विषय का पूरा-पूरा शिक्षा दे सकता है। पर हिटलर के अधिनायक मुसोलिनी के जैसा शिक्षक हुआ तो उसका परिणाम भी उसे ही भुगतना पड़ेगा। बिना सोचे-विचारे सिर्फ अपनी बुद्धि पर गर्व करनेवाला शिक्षक विशेषतः अनुचित ही कार्य करता

है। वह पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त के अर्थ से भी अनभिज्ञ रहता है। अपनी गलती को स्वीकार करना, उसे इष्ट नहीं। वह समझता है, जो कुछ करता हूँ, ठीक। इसमें दूसरों की राय या परामर्श की आवश्यकता नहीं।

शीघ्र उत्तेजक प्रवृत्तियाँ सदा जागरूक रहती हैं। अहमेव सर्वं को वह घर बना चुका होता है। दम्भ, वाचालता, ये उसके गुण हो गये हैं। सोचना समझना उसके लिए आवश्यक नहीं। झक्की की तरह निर्णय दे दिया। सहसा कुछ कर देना मूर्खता का परिचायक है। 'सहसा विदधीत न क्रियां' को वह सामने रख कर नहीं चलता। शिक्षक में अविवेकः परमापदम् के गुण होने चाहिये। आँखें सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को भी देख लें। किन्तु वहाँ के शिक्षक तो जैसे नेत्रविहीन हैं, फिर भी उन्हें ठोकर नहीं लगती। संसार की वर्त्तमान गति को देख कर चलनेवालों को ही ठोकर पर ठोकर नहीं लगती है। सँभल-सँभल कर चलने पर भी पैर फिसल जाते हैं। समस्त विश्व के शिक्षक अपनी-अपनी जगह के वातावरण को लख कर मार्ग निर्धारित करें और प्रदर्शित करें तो वहाँ का समाज़ पूँजी-विशिष्ट अंग को समझने में कदाचित ही भूल करे। समाज से कुछ पृथक हट कर सामूहिक वर्ग में उसका अधिक महत्त्व है। आर्थिक योजना में तो उसका कहीं, कुछ भी महत्त्व नहीं। अपनी आस-पास की कठिनाइयों पर विशेष ध्यान न दे तो उसके पक्ष में अच्छा है। सहिष्णु की भावना से उसे दबा रहना चाहिये। कहने के लिए—'समाज में उसका पद वास्तव में तो सबसे निम्न है पर वह कवि, पुरोहित और दार्शनिक के पद की तरह सिर्फ़ कहने के लिए और जनसाधारण की सम्मति से 'रियायतन' एक पेशा समझा जाता है। आर्थिक दृष्टि से तो वह हमेशा एक नाचीज रहा है, और आज भी वैसा ही है। 'चार्ल्स लैम्ब' ने अपने एक निबन्ध में अध्यापक की इन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों को अच्छी तरह समझाया है कि अध्यापक अपने को ऐसी सांसारिक जरूरियत से हमेशा इतना घिरा पाता है कि उसे अपनी सर्वोत्तम प्रवृत्तियों को दबा कर विकृत रूपों में परिवर्त्तित करना पड़ता है।*

परन्तु शिक्षक की सत्य और वास्तविक मनोवृत्ति का यह विश्लेषण न हो सका। उस पर एक साधारण विचार प्रकट किया गया है। आर्थिक दृष्टि से वह अवश्य गिरा है, किन्तु प्रवृत्तियों की विकृति के विषय में जो कहा गया है, वह उसके स्वरूप को कुछ ढीला करता है। शिक्षक एक व्यक्ति है, जो अधिकार का शाब्दिक अर्थ मात्र ही नहीं जानता। उसका व्यापक अर्थ भी जानता

---

* 'रूपाभ', अक्टूबर १९३८

है। किन्तु उसका अधिकार एवं कार्य सीमित है। मनुष्य के अधिकारों की व्याख्या वह कर सकता है। इसका ज्ञान हो जाने पर साधारण स्तर पर भी रहने वाला मानव अपने अधिकारों की उचित माँग कर सकता है। पर उसके अधिकार अनेक हैं, कई प्रकार के वास्तविक अधिकार का पता न होने पर अनेक कार्य वे ऐसे कर बैठते हैं, जो उनके अधिकार से परे हैं।

अनधिकृत विषयों के प्रतिपादन करने पर उसे अपने कार्य की असफलता पर अधिक क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षुब्धावस्था में असन्तोष के बवण्डर में मड़राता रहता है। पूँजी, अधिकार-सम्बल द्वारा ही प्राप्त होती है। और श्रम-पूँजी, तो विशेषकर सामाजिक पूँजी श्रम पर ही आधारभूत नहीं है, उसकी और प्रकार की भी पूँजियाँ हैं, किन्तु द्रव्य-पूँजी, श्रम द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः स्वार्थी-समाज-निर्माता एक इसी पूँजी का ज्ञान रखते हैं। ज्ञान-विज्ञान को भी पूँजी कहते हैं, निर्माण शक्ति भी उसीसे सम्बोधित होती है। द्रव्य-पूँजी का लोभ वस्तुतः मनुष्य को अन्धा बना देता है। अतः वह ज्ञान-विज्ञान को पूँजी नहीं मानता। हाँ, यदि इन्हीं से उद्‌भूत शक्ति-साधनों द्वारा द्रव्योपार्जन हो तो उनसे सम्बन्ध रखेंगे। उसका ज्ञान अवश्य रखेंगे। ज्ञान यदि द्रव्य अर्जित करे, तो अधिक उसकी जरूरत समझेंगे। प्रकाशक, साहित्यिक पुस्तकों को इस लिए नहीं प्रकाशित करता कि उसके मस्तिष्क का विकास हो, वरन् इसलिए कि उसकी द्रव्य-पूँजी, वृद्धि को प्राप्त होगा। पूँजी-संग्रह का यह भी एक साधन पाता है, अतः इस ज्ञान से लाभ उठाता है। विज्ञान द्वारा निर्मित कल-कारखानों का आश्रय लेकर पूँजी-संग्रह को बढ़ाता है, अतः इसकी आवश्यकता समझता है, अन्यथा उसकी दृष्टि में इनकी कोई जरूरत नहीं सिद्ध होती।

मनुष्य निम्न वर्ग का, अधिकार का ज्ञान रखे तो प्रत्येक पूँजी के साधनों की जड़ को समझ सकता है। विभिन्न अधिकारों का ज्ञान, विभिन्न प्रकार से होता है। मनुष्य के अधिकार का विश्लेषण जानने के लिए 'टामस पेन' कृत 'मनुष्य के अधिकार' मननीय है। अधिकार-ज्ञान के बल पर मनुष्य स्वयं अपने उपयुक्त समाज का निर्माण कर सकता है, फिर सामाजिक पूँजी की वास्तविक भित्ति खड़ी ही हो जायगी। सामाजिक पूँजी एक मात्र श्रम का प्रतिशब्द है, यह मानने के लिए मैं प्रस्तुत नहीं। इसके अतिरिक्त भी पूँजी के साधन हैं। श्रम को ही प्रबल साधन मानकर चलनेवाले इससे नाजायज फायदा उठाते हैं। यह सच है कि कल-कारखानों या इसी प्रकार के पूँजी-साधनों में श्रम-महाश्रम ही अपनी जगह अपनी सतह पर खड़ा रहता है।

इसकी उपयोगिता प्रत्येक दिशा में सिद्ध हो सकती है। परन्तु इसके लिए मस्तिष्क का सहारा लेकर स्वरूप-निश्चय करना चाहिये। जन-बल प्राप्त करने के लिए उसके श्रम से अति लाभ नहीं प्राप्त करना चाहिये।

इधर के ज्ञान के विकास ने तथाकथित सर्टिफीकेटी ज्ञानियों में यह प्रवृत्ति भर दी है कि लोग ज्ञान-चातुर्य-शक्ति द्वारा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की अबोधता से पर्याप्त लाभ उठा लें। उन्हें समझा-बुझा कर करुणा की भावना को उभाड़ कर अति श्रम कराने के पश्चात् अति से अति पूँजी संगृहीत करने की प्रवृत्ति निन्दनीय है। और इसी को लक्ष कर उनके लिए वे जो समाज निर्मित करेंगे, वह पूँजी के विकास में अधिक सहायक होगा। भूमि-कर भी जमींदारों के लिए एक पूँजी है।

इस प्रकार हम देखते हैं, सब ओर से श्रम ही पूँजी से अभिहित होता है। ऐसी अवस्था में जन वर्ग अपनी श्रम-पूँजी का स्वयं लाभ उठाये तो एक दिन ऐसा समय आयगा, जब सत्ताधारियों की गद्दी डोल जायगी, और वे ही निम्नों की अवस्था को प्राप्त हो जायँगे। अथवा उनके उपयुक्त कोई परिवर्त्तन भी हो सकता है जब श्रमिक भी इस पर ध्यान देंगे, अन्यथा एक ओर की ही स्वार्थमूलक प्रवृत्ति कदापि दूसरों के हित पर विचार नहीं सकती। कुछ भी निर्णय के समय मस्तिष्क की क्रिया की शिथिलता पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये। पूँजी, श्रम और साधन पर विचार करने के पूर्व अपनी स्थिति का भी समुचित अध्ययन करना चाहिये। इतना हो जाने पर स्वतः ज्ञात हो जायगा, समाजवाद की पूँजी, श्रम का प्रतिशब्द है या नहीं। एकीकरण का भी यहाँ निपटारा हो सकता है।

समाज का व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व

व्यक्ति समाज का निर्माण करता है, समाज व्यक्ति का नहीं। यह प्रश्न भी आज जोरों से उठ रहा है। परन्तु व्यक्ति जब वर्ग का नेतृत्व करने की शक्ति रखता है, तब वह व्यक्ति से ऊपर उठकर समाज का बन जाता है। उसका बैकग्राउंड ही समाज है। उसकी मानसिक चेतनाएँ समाज में जीवन का कार्य करेंगी। व्यावहारिक दृष्टिकोण समाजवाद का अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए, परन्तु समाजवादी भित्ति सुदृढ़ करने के पूर्व उसके विकास का मार्ग ढूँढ़ना भी व्यक्ति का ही कर्त्तव्य है। साहित्य पर इसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जीते-जागते सुख-दुःखपूर्ण वातावरण का चित्रण समाज के लिए लाभकर है। आज के व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए।

दस वर्ष पूर्व के वातावरण को भाँपने के लिए व्यक्ति की दृष्टि, मनोवैज्ञानिक नहीं-सी थी। पर धीरे-धीरे एक अज्ञात गति-विधि ने विचित्र वातावरण का निर्माण कर दिया, जो हम लोगों को कहीं से कहीं भगाकर ले गया। मैं नहीं कहता, मनोविज्ञान बुरी वस्तु है, किन्तु प्रत्येक वस्तु को मनोविज्ञान या दर्शन में बाँध देना, अनुचित है, अश्रेस्कर भी। भौतिकवाद की सृष्टि में मानव भी विशेष प्रकार के अध्ययन की एक सामग्री बन गया है। वैसी अवस्था में सामाजिक समष्टि में साधारण स्तर से ऊपर उठ गया हुआ व्यक्ति अवश्य ही श्लाघनीय सर्व-वर्ग हितार्थ प्रयास करेगा, जो मनोवैज्ञानिक होगा। समाजवाद का आधार-स्तंभ ही अपनी जगह पर ठीक नहीं। अतः व्यक्ति की सूझ कहीं-कहीं, अपने प्रयास में असफल सिद्ध हो जाती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से समाज में सर्वथा योग्य व्यक्ति की महत्ता महत्त्वपूर्ण समझी जाती है।

इधर आकर अब हिन्दी-साहित्य में भी व्यक्ति, व्यक्तित्व, और व्यक्ति का टाइप पर ध्यान दिया जाने लगा है, योरोपीय-साहित्य ने इन विषयों पर काफी दिनों तक प्रकाश डाला है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज पर, वर्ग पर प्रभाव डालने के लिए आवश्यक है। उसका टाइप, साधारण मानव का उससे परिचय कराता है। इस प्रकार देखा जाए तो ये सभी निम्न स्तर पर रहनेवालों को व्यर्थ ही दीखेंगे, किन्तु समाज में मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन लाने के पश्चात् वे भी सारी परिस्थितियों के परिचायक होंगे। अनंतर काव्य, साहित्य इनकी जड़ में विद्यमान रहेगा। अन्यथा उसके आधार-स्तभ का कुछ भी संकेत न प्राप्त होगा।

क्रांति के बवंडर में बहकर समाज का दुरुपयोग करनेवाले व्यक्ति की निम्न वर्ग के साथ सहानुभूति कुछ अर्थ रखता है। कुछ लोगों की धारणा है कि समाजवाद के सिद्धान्त के प्रचार होने पर मनुष्यों में पशु-वृत्ति आ जाएगी, और भावुकता का सचार होगा। पहली बात यह कि भावुक होना कोई दोष नहीं। हाँ, विशेष भावुकता भी ठीक नहीं। समाजवाद के वास्तविक ठोस सिद्धान्त का प्रभाव समरूप से सब पर पड़े तो वर्त्तमान स्वरूप पर हानि या आघात न करेगा। पूँजीवाद की लोभ-लिप्सा में प्रतिस्पर्धा अधिक है जो उक्त समाज का प्रचार नहीं चाहता, वह वैसे समाज का प्रचार चाहता है, जो शोषितों, दलितों को पीड़ित करता है। कुछ लोग समाजवाद को साम्यवाद का रूप देते हैं, परन्तु वास्तविक अर्थ में दोनों के दो सिद्धान्त हैं। कुछ समता हो सकती है, फिर भी कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य रह जाएगी।

आधुनिक भारतीय समाज का शिष्ट आलोचक भी यहाँ रूस के समाज का रूप देना चाहते हैं, किन्तु यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि वहाँ का समाज यहाँ के लिए कितना घातक सिद्ध होगा। यहीं की स्थिति यदि परख ली जायगी तो समाजवाद में समाज आधार-स्तंभ प्रबल होगा। इसका वर्णन करना साहित्य में गर्हित नहीं, पर सिर्फ़ इसीको साहित्य में स्थान देना उसके आगे सीमित रेखा खींचना है। यह ठीक है कि इससे साहित्य की गति में परिवर्त्तन आ जायगा।

'समाजवाद में समाज का आधार-स्तंभ बड़ा ही सुदृढ़ होगा। काव्य और साहित्य की धारा का मुख कुछ दूसरी ओर होगा। वे भावनाएँ जिनके नाम लेने में भी दुष्टों द्वारा उनका दुरुपयोग किये जाने के कारण, हम क्रांतिवादी धिक्कारते हैं—जैसे निस्वार्थ मैत्री, पड़ोसी से प्रेम, सहानुभूति इत्यादि समाजवाद के काव्य की कड़ियाँ होंगी। यह धारणा कि समाजवाद के प्रचार से मनुष्य भावुक तथा पशुओं के झुंड की तरह निष्क्रिय हो जाएँगे, सर्वथा निर्मूल है।'

आज के पूँजीवादी समाज में धन-लिप्सा के रूप में जो प्रतिस्पर्धा जारी है, वह गायब नहीं होगी, परन्तु वह और भी परिमार्जित एवं उच्च हो जायगी। व्यक्ति, हर व्यक्ति नहीं, किन्तु अनुभव एवं अध्ययनशील व्यक्ति समाजवाद के प्रचार में देश-दशा पर अवश्य दृष्टि रखेगा, इसमें संदेह नहीं। किन्तु इस समय वैसे ही व्यक्ति की सम्भावना है जो स्वार्थ की क्रियाओं से अधिक प्रभावित है। और जो वाचाल-मात्र है, वह रशियन-समाजवाद से अधिक बली बना हुआ-सा दीखता है। रूस के समाजवाद से मुझे घृणा नहीं, किन्तु एक विचारक की भाँति उसमें कुछ परिवर्त्तन लाकर, यहाँ की स्थिति को ध्यान में रखते हुए समाजवाद को विकसित होने दें तो अच्छा है। समाज व्यक्ति के निर्माण में इसलिए निर्बल दीखता है कि वह उन व्यक्तियों से निर्मित है जो एक सीमा में विचरनेवाले थे, और जिनमें पूँजी का लोभ अधिक था।

अपनी त्याग-तपस्या के बल पर ज्ञान को आधार मानकर चलनेवाले व्यक्ति समाज के स्वरूप पर विचार करेंगे तो अवश्य उसमें ऐसी कई भावनाओं का संचार होगा, जो स्वच्छता और सत्यता के प्रचार में सहायक होंगी। व्यक्ति ही, समाज के लिए बली है, उसे ही ठीक रहना चाहिए, वह फिसला कि समाज भी फिसला। निर्बल व्यक्ति को पूर्व निर्मित समाज गिरा दे सकता है। किन्तु सबल व्यक्ति समाज को ही अपनी ओर खींच लेने की शक्ति रखता

है। जवाहरलाल नेहरू एक व्यक्ति-मात्र हैं, किन्तु वे पूर्ण समाज हैं। चूँकि उनके विचार ही समाज का रूप देते हैं, और आचरण एवं कर्त्तव्य पालन लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार कितने व्यक्ति हैं, जो स्वतः समाज हैं। इसलिये व्यक्ति ही समाज का स्वरूप है पर विशिष्ट व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी प्रभाव जनता पर पड़ता है। व्यक्तित्व व्यक्ति के मार्ग का प्रदर्शन करता है। उसकी आंतरिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण करता है। उसका टाइप भी संयत रहता है। व्यक्ति और टाइप के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए 'वीणा' में प्रकाशित 'व्यक्ति और टाइप' शीर्षक जैनेंद्रकुमार का निबंध पठनीय एवं मननीय है। स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। साहित्यकार के साहित्य में भी व्यक्तित्व परिलक्षित होता है।

हिन्दी-संसार में 'निराला' जी का व्यक्तित्व बहुत महत्त्व रखता है। उनकी कविताएँ भी व्यक्तित्व की छाप से युक्त होती हैं। पाठक की आँखों के आगे उनकी प्रकृति की सारी रीलें जोर से एक बार घूम जाती हैं। व्यक्ति यदि साहित्य के लिए सूत्र है तो उसका व्यक्तित्व टिप्पणी। जब साहित्य में जीवन या चेतना दृष्टिगोचर होगी, तब एक ओर व्यक्तित्व उसमें अवश्य अपना शिष्ट महत्त्व रखता हुआ दीखेगा। यूरोपीय समीक्षकों ने व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व एवं टाइप पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है, हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के निबंध बहुत कम लिखे जाते हैं। समाज का प्रतिशब्द किसी व्यक्ति को बनना है तो पहले उसे अपने व्यक्तित्व पर ध्यान देना होगा अन्यथा वह पूर्ण योग्यता रखता हुआ भी, जनता के आगे विशेष महत्त्व नहीं रखेगा।

व्यक्तित्व दो प्रकार का होता है - एक जो शरीर की आकृति-प्रकृति का परिचायक होता है, दूसरा विचार-व्यवहार, गुण-दुर्गुण का विश्लेषक है। इन दोनों व्यक्तित्वों का साहित्य-जगत् में महत्त्व है। साहित्य-सर्जना की जो सचमुच शक्ति रखेगा, वह अपने व्यक्तित्व का उचित रीति से प्रदर्शन कर सकता है। विद्वान्, प्रौढ़ विद्वान्, और अध्ययनशील व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं करना पड़ता है। उसका व्यक्तित्व अपने-आप बड़ी गम्भीरता को लिए हुए स्पष्टतः प्रत्यक्ष रूप से लक्षित होता है। पाठक को स्वतः ज्ञात हो जाता है, रचना पढ़ते ही कि यह अमुक व्यक्ति की रचना है। शैली, भाषा-भाव भी व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने खींच देते हैं। पर व्यक्तित्व उसको बताने, समझने-समझाने में अधिक सहायक सिद्ध होता है। साहित्य, विशेषकर काव्य एवं समीक्षा में व्यक्ति के व्यक्तित्व

की अत्यंत आवश्यकता होती है। चूँकि उसकी भावनाएँ, इनके सुनिश्चित विचार प्रमाणित करते हैं कि व्यक्ति की गम्भीरतापूर्ण प्रत्येक क्षेत्र की दृष्टि व्यापक होती है। साहित्य में यदि इसका व्यक्तित्व काम कर गया तो! अन्यथा उसका कोई भी स्वरूप निश्चयता को प्राप्त होकर सामने न आएगा।

समाज के विधान में सर्वप्रथम वहाँ के वातावरण के अध्ययन की आवश्यकता होती है। उसके बाद वर्ग को कर्त्तव्य की रूप-रेखा समझाने के लिए एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत होती है, जो अनुभव से अत्यंत पुष्ट हो और जिसे परिस्थितियों को पकड़ लेने की अद्भुत शक्ति हो। परन्तु, ऐसा व्यक्ति सर्वदा सुलभ नहीं होता है। हजारों, लाखों में एक निकलता है। समाज विश्व के लिए बने तो उसके प्रत्येक सदस्य या व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञान न भी रखें, सिर्फ अपने क्षेत्र का ही अध्ययन करें और ज्ञान रखें तब समाज के कर्त्तव्य की पूर्ति होगी। चूँकि विश्ववाला समाज ऐक्य का सूत्रधार होगा, परन्तु देश-विदेश, प्रांत-विप्रांत की संस्कृति-सभ्यता में भी भिन्नता एवं विच्छिन्नता रहती है, अतः शायद ऐसे समाज का निर्माण न हो।

दूसरा सबसे बड़ा कारण है कि हिंसा, क्रूरता, स्वार्थ, अहंकार से निर्मित व्यक्ति उसी प्रकार का अपने अनुकूल ही समाज का निर्माण करता है। और सिर्फ इन्हीं की ईंट की नींव पर निर्मित समाज का कल्याण न होगा। भातृत्व का अखंड साम्राज्य स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम मनुष्यता की आवश्यकता होगी, जिसमें सहृदयता का स्थान सर्वोच्च है। विश्व को सर्वमूल चेतना को दूर हटाकर भी सार्वजनीन समाज का निर्माण करें तो वह अनावश्यक सिद्ध होगा। अपने-अपने देश, अपने-अपने प्रान्त की स्थितियों को ध्यान में रख कर व्यक्ति जनों के सर्वसाधारण उपयुक्त समाज का निर्माण करें, तो उसमें कल्याण की अधिक सम्भावना है। पहले समाज की जगह पंचायत की स्थापना थी। इसका भी निर्णायक एक विधायक के रूप में व्यक्ति ही होता था।

जीविकोपार्जन के मार्ग में सरलता एवं सुविधा लाने के लिए हमें परिशिष्ट पर ध्यान देना होगा। जन-जीवन को सबल, सुदृढ़ बनाने के लिए दिखावा न हो, इस प्रकार का प्रबंध करने के लिए एक प्रबंधक की नियुक्ति अपेक्षित है। ज्ञान का अंकुर सब में है, चेतना की स्फूर्ति सब में है, कर्त्तव्य पालक अपने जीवन में सर्वत्र सफलता प्राप्त करता है, ऐसी शिक्षा देनेवाले एक शिक्षक की भी जरूरत होती है। और इन सबको लेकर कोई समाज का निर्माण कर सकता है तो वह है व्यक्ति ही। समाज की पूर्णता या उपयोगिता सिद्ध हो जाने के पश्चात् वह भी व्यक्तियों का निर्माण कर सकता है। इससे

निर्गत व्यक्ति अच्छे विचारों का प्रचार करते हैं, सुधारक भी वे कहे जा सकते हैं। एकांगी सीमित व्यक्ति-रूप में ही जो समाज निहित रहता है, वह अपने अनुकूल ही व्यक्ति को प्रस्तुत करता है। ऐसे व्यक्ति धोखा, मक्कारी को प्रधानता देते हैं। प्रत्येक के सम्मुख एक जाल-प्रसार का प्रयत्न करते हैं। समाज के स्वच्छ वातावरण को दूषित बना देते हैं, जिसके फलस्वरूप यह निश्चय हो जाता है कि मनुष्यता की भित्ति सुदृढ़ होने के बजाय ढह जाती है।

समाजवाद में साम्य की भावना का जो प्रवेश होता है, वह कार्य-कारण के समावेश द्वारा होता है। पूँजीवाद से प्रभावित होकर या उसी की अंचल में पलनेवाले कभी-कभी समाजवाद का झूठ-मूठ आश्रय ले पूँजीवाद का विरोध करते हैं। पूँजीवाद के सिद्धान्त यदि अमान्य हैं तो उसमें पलना भी अमान्य होना चाहिए अन्यथा उस विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। आखिर समाजवाद का भी तो कोई स्वरूप है? इस पर विचार लेते क्या होता है!

नायक-अधिनायक जो व्यक्ति के रूप में होता है, वह अवश्य ही पूँजी-वाद-समाजवाद का विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही है, अन्यथा दोनों में से किसी एक को आदर्श मानकर चलना कठिन हो जाता है। यद्यपि आदर्श का आज कोई भी अर्थ किसी को स्वीकार नहीं है। फिर भी यथार्थ से संयुक्त आदर्श का प्रचार करने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। परन्तु सचमुच जो आदर्श को ढोंग मानते हैं, वे कदापि यथार्थ को नहीं समझते, स्वयं वे कृत्रिम चादर में अपने को लपेटे रहते हैं। मिट्टी को मिट्टी कहें या आकाश को आकाश, महल को महल, झोपड़ी को झोपड़ी कहनेवाले समाज का स्वरूप निश्चय होना चाहिये।

एक निर्देश-पथ को आदर्श मानना चाहिये, जिसमें धरती को आकाश या आकाश को धरती कहने की मूर्खता न होनी चाहिये। व्यक्ति, आदर्श और यथार्थ का मापक होता है; जो समाज के एक-एक अंग पर प्रकाश डालता है। अपनी राह में वह विचलित नहीं होता। समाज-स्वरूप के साथ-साथ व्यक्ति का स्वरूप भी निश्चित है। किन्तु मनोविज्ञान के अभाव में इन पर शीघ्र दृष्टि नहीं जाती।

आज की व्याख्या की एक वस्तु या सूत्र मनोविज्ञान भी है। व्यक्ति को इस ओर भी ध्यान देना चाहिये। एक पर आधारभूत, सीमा को बढ़कर जो व्यक्ति समाज का प्रतिष्ठान करेगा, वह जनता के हृदय में स्थान नहीं

प्राप्त कर सकता है। शिष्ट-वर्ग, अत्युच्च तथा-कथित शिष्ट एवं निम्न वर्ग इन तीनों के लिए तीन समाज की व्यवस्था में तीन प्रकार की विभिन्नता, तीन विधियाँ पृथक-पृथक् होती हैं। इन तीनों को एक बनाकर सम्मिलित समाज का विधान होना चाहिये था, किन्तु व्यक्ति नायक में इतने के एक के समाज को सँभालने की पूर्ण योग्यता हो तब! व्यक्तित्व भी आकर्षक होना चाहिये। चूँकि प्रभाव स्थापित करने के लिए इसकी भी नितांत आवश्यकता प्रतीत होती है।

, व्यक्ति-व्यक्ति में कौन-कौन से गुण हैं, कौन कौन-सी योग्यता है, इसके लिए व्यक्तित्व की ही जरूरत होती है। व्यक्ति में अच्छी भावना रखने के लिए सर्वप्रथम व्यक्तित्व दर्शक को प्रभावित करता है या विवश करता है। एक अजीब आकर्षण होता है, तनिक रुककर उससे बातें करने की इच्छा होती है। जिज्ञासा की भावना भरती है। फिर मिलने पर व्यक्ति उसके सम्मुख अपने प्रौढ़ विचारों को व्यक्त करता है। अनंतर दर्शक या श्रोता उसके विचारों के प्रचार में सहायक होता है। यों एक समाज का निर्माण होता है, वैसे भी समाज की स्थापना करनेवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशेषता होनी चाहिए। अन्यथा सफलता में सन्देह की गुंजाइश है। व्यक्तित्व जनों को मुग्ध बना देता है।

गाँधी, जवाहर का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली है। साहित्य के क्षेत्र में भी राहुल, निराला, दिनकर का व्यक्तित्व महत्त्व रखता है। इनके साहित्य में भी उनकी स्पष्ट झलक दीखती है। इनका व्यक्तित्व सर्वांग सम्पूर्ण है। व्यक्ति को व्यक्तित्व बनाना नहीं पड़ता है, स्वतः वह उसके साथ ही आता है। समाजवाद के वास्तविक अर्थ को व्यक्त करने के लिए व्यक्ति को बड़े-से-बड़े प्रयास करने होते हैं। भारतीय समाज चूँकि परतंत्र है, कुछ कर नहीं पाता। यहाँ के व्यक्ति भी इस प्रकार लौह श्रृंखला से आबद्ध हैं कि अपनी स्वतंत्रता, आकांक्षा तक को व्यक्त नहीं कर पाते, फिर समाज-निर्माण का क्या प्रश्न है!

चले आते हुए समाज का अनुकरण करना, इष्ट होता, पर पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव ने अपने समाज का भी अनुग नहीं बनने दिया। आज के व्यक्ति को उसने अपना बना लिया, अतः पुरातन समाज को आमूल विनष्ट देखना चाहता है, परिवर्त्तनकर युग की सामयिकता सिद्ध हो सकती थी, परन्तु परिवर्त्तन के बजाय इसको उखाड़ फेंकना चाह कर, वहीं के समाज का निर्माण चाहता है। उस समाज की स्थापना किसी सीमा तक संभव भी थी,

पर संस्कृति-सभ्यता की विभिन्नता के अतिरिक्त स्वार्थ और अहंकार की इतनी अधिक प्रबलता है कि यहाँ के सर्वथा अनुपयुक्त एवं अहितकर ही प्रमाणित होगा। ब्रिटिश-साम्राज्य के समाज से प्रभावित होकर भारतीय व्यक्ति उसका अनुकरणकर यहाँ के लिए समाज निर्मित करने को सोचेगा तो अपनी विनष्टि की सामग्री उसे एकत्र करने की आवश्यकता न होगी। रूस के समाजवाद में भारतीय वातावरण के अनुकूल परिवर्त्तन लाकर यहाँ के लिए निर्माण करें तो संभवतः वह हितकर सिद्ध हो। परन्तु भूलना-भुलाना न होगा कि उसमें भी परिवर्त्तन अपेक्षित है। हू-बहू उसको भी यहाँ लाकर रख दें तो भारतीय संस्कार पर आघात पहुँचेगा।

वर्त्तमान भारतीय विभिन्न संस्थाओं के विभिन्न नेताओं में ऐक्य नहीं है, अतः एक समाज की संभावना अभी तो नहीं दीखती। गाँधीजी के समाज-वादी सिद्धान्त में भारतीयता अधिक है, उसकी नींव भी मजबूत है। विचारों में दृढ़ता है। रूस का नेता एक है, उसका सामाजिक सिद्धान्त एक है। अकेला एक अधिनायक है, उसका एक संकेत है; अतः वहाँ के समाजवाद में बल अधिक है। उसमें नेतृत्व ग्रहण करने की अपूर्व शक्ति भी है। अंतर यही है कि उसमें भारतीयता नहीं है। दूसरी बात यह कि यहाँ की करुणा वहाँ की कठोरता को शायद द्रवित कर सके।

धर्म, ईश्वरत्व, अस्तित्व, संस्कार पर विश्वास करना यहाँ के लिए हितकर सिद्ध होगा। परन्तु वहाँ आस्था, श्रद्धा नाम की कोई वस्तु नहीं है। बौद्धिक-विश्वास का भी एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। और सबसे बड़ा अंतर यह है कि वहाँ के जैसा यहाँ की जनता खाने मात्र के लिए नहीं जीती, इसके विपरीत वहाँ की जनता इसी के लिए जीना-मरना जानती है। प्रश्न हो सकता है? इसके बिना और कोई भी समस्या हल हो सकती है? माना कि नहीं किन्तु इसीकी व्यापकता सिद्ध करनेवाला अपने देश का ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के आगे बुरा-बुरा आदर्श स्थापित करता है।

आज से सत्तर वर्ष पूर्व रोम के समाज में यह भावना थी कि साम्यवाद के प्रचार में यह नहीं भूलना चाहिये कि बुद्धि से प्रभावित होने पर भी धर्म के सार पर सोचना-विचारना प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख कर्त्तव्य है। धर्म में जो ढोंग की भावना है, वह विकृत अवस्था को प्राप्त है। अन्यथा धर्म के विश्लेषण में धारण करना ही कहा जाता है। पर आज उसका कोई रूप ही नहीं, इसलिए कि उसके व्याख्याता ही अयोग्य एवं अपूर्ण हैं। साथ ही अपने अनेक अर्थ निकालने के आदी हैं। भारत को छोड़कर बाहर तो अब

धर्म एक उपहास की सामग्री बन गया। उसका अस्तित्व मिट-सा गया। बौद्धधर्म की बुद्धि प्रबल है, किन्तु वही जापान में जाकर हिंसा का प्रतिशब्द बन गया। इसी प्रकार सर्वत्र कुछ न कुछ परिवर्त्तन हुआ। धर्म की व्याख्या छल-प्रपंच समझी जाने लगी। रूस धर्म की रक्षा का प्रयत्न नहीं करता। उसके जानते इसकी रक्षा कैसे? जो नहीं के लिए है, उसका अस्तित्व कैसे स्वीकृत हो!

व्यक्ति को इस पर सोचने का अब अवसर ही नहीं प्राप्त है। खाने-पीने के बाद जैसे इन सब पर सोचने को उसे फुर्सत नहीं या इसके लिए मनाही है। जीवन के साथ कर्म का गहरा सम्पर्क हो सकता है, किन्तु धर्म का नहीं। वहाँ के लोगों ने इसे यह कहकर टाल दिया कि इसको वहीं जरूरत होती है, जहाँ खाने-पीने का और कोई साधन न हो।

ढोंगी और प्रवञ्चकों के लिए इसका निर्माण हुआ है। मनुष्य को यह एकदम अकर्मण्य बना देता है। भारत, कर्म के साथ धर्म की भी प्रधानता देता है। यह विचार या आस्था उसकी अन्धपरम्परा की सूचना नहीं देती, बल्कि अर्थ में वह इसका कल्याण देखता है। अतः रूस का समाजवाद प्रशंसनीय होता हुआ भी भारत के लिए हितकर न सिद्ध होगा। यहाँ का अधार्मिक, नास्तिक व्यक्ति समाज की ओर से दण्डित होता है। यद्यपि पाश्चात्य अनुकरण ने उसे बाध्य या विवश किया है, भारतीय धर्म को समूल विनष्ट कर देने के लिए इसके लिए बड़े से बड़े प्रयास भी हो रहे हैं। किन्तु धर्म अपनी जगह दृढ़ स्तम्भ की भाँति ज्यों का त्यों खड़ा है। कुछ विदेशीय व्यक्ति इसका अस्तित्व भी स्वीकार करने लगे हैं। मनोवैज्ञानिक गुण भी इसमें उन्हें दृष्टिगोचर होने लगे हैं। शरीर की रक्षा के साधन प्रचुरता से पाये जाते हैं। पर बीच की व्यवस्था का भारतीय शिष्ट जनता पर इसका इतना व्यापक बुरा प्रभाव पड़ा कि इसकी महत्ता नहीं स्वीकार करने में ही अपना वह कल्याण देखने लगी। फ्रान्स ने भी क्रान्ति की, बड़ी जबर्दस्त। किन्तु धार्मिक व्यवस्था पर वहाँ आघात नहीं पहुँचा। चूँकि वहाँ इसकी सत्ता कायम रही। पृथक्-पृथक् इसकी विनष्टि के लिए महान् से महान् आन्दोलन नहीं करने पड़े। इसकी रक्षा करने का प्रयास भी न करना पड़ा। और भी देशों में क्रान्तियाँ हुईं, किन्तु धर्म की जड़ हिलकर भी विनष्ट नहीं हुई। मनोवैज्ञानिक इसमें अनेक विधान भी ऐसे हैं, जिससे व्यक्तिगत लाभ भी है। इसके पालन में जीवन की रक्षा है।

व्यक्ति संयम सदाचार का आश्रय लेता है। जो मनुष्य के लिए अनि-

वार्य है। अन्यथा कहाँ का कहाँ वह बहक जाता। और ये दोनों कम से कम बहकने नहीं देते। व्यक्ति अपने समाजवादी सिद्धान्त में धर्म को भी विशिष्ट स्थान दे तो उसकी जड़ मजबूत होगी। इसकी अनिवार्यता उसे स्वीकार करनी चाहिए। परन्तु इस ओर के लिए भी व्यक्तित्व अपेक्षित है। व्यक्ति, धर्म की व्यापकता सिद्ध करने का प्रयास न करे, वह स्वाभाविक रूप से अपनी गति में जीवन, जीवन में गति पायेगा। समय के अनुसार इसमें परिवर्त्तन होता जायगा। इसकी विनष्टि में हमारी सामाजिक व्यवस्था ढीली हो जायगी। क्रमिक-विकास की सम्भावना नहीं है। व्यक्ति की पूर्णता असम्भव से सम्भव कार्य करने की क्षमता रखती है। परन्तु अपूर्णता में भी पूर्णता का समादेश देखने का ढोंग निश्चय ही उसके अधःपतन का कारण होगा। चूँकि प्रवञ्चना-शक्ति सबसे बड़ी हार का सूचक है। और ऐसे व्यक्ति में प्रवञ्चना-शक्ति प्रबलता से व्याप्त रहती है।

व्यक्ति को प्रवञ्चना से कोसों दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यों राजनीति का अवसर आने पर असत्य भी पाप की श्रेणी में नहीं गिना जाता। अपने आपकी रक्षा करने के लिए कभी-कभी इसका भी आश्रय लेना पड़ता है। और 'आत्मानं सततं रक्षेत्' धर्म में ही गिना जाता है। मनोवैज्ञानिक-तुला पर तौले जाने के पश्चात् ज्ञात होगा, व्यक्ति, एक समष्टि है, सर्व-विषयक ज्ञान समाज की स्थिति को सँभालने में विलक्षण सहायता करता है। साधारण-वर्ग के लिए भी जिस समाज की स्थापना होगी, उसमें हित-अहित का अवश्य ही विचार होगा। और उसका भी संस्थापक एक शिष्ट, शिक्षित व्यक्ति ही होगा। मैं नेता और व्यक्ति में भी कुछ थोड़ा-सा अन्तर मानता हूँ। नेता, लाड करने की ही क्षमता रखेगा, और अनुभव के आधार पर कुछ खड़ा करने की सोचेगा। इसमें भी लाड करने की क्षमता रह सकती है। नेता में शिक्षण-कला का अभाव भी रह सकता है, परन्तु व्यक्ति, इसका भी कार्य-भार ग्रहण कर सकता है। वह एक अच्छे गम्भीर विचारक की भाँति सोच-समझकर निर्णय देगा, परन्तु प्रायः नेताओं में उत्तेजक प्रवृत्ति होने के कारण शीघ्र अविचारे निर्णय दे देने का अभ्यास पाया जाता है।

'सुभाष बोस' इसी श्रेणी के नेता कहे जा सकते हैं। ऐसे दो-एक को भी छोड़कर शेष में इस प्रवृत्ति की अधिकता पाई जायगी। व्यक्ति अभिव्यक्ति जानता है, वह अर्थ पर ही अवलम्बित नहीं रहता उसे सच की आँखें रहती हैं, और उनसे वह काम लेना जानता है। वह अवश्य ही एक नेता से अधिक

अच्छा और गुणग्राही होता है। परन्तु व्यक्ति में जिस योग्यता का समावेश होना चाहिए, उसका प्रायः सर्वथा अभाव रहता है। मैं यह नहीं कहता कि नेता बुरा है, वह भी एक व्यक्ति ही है पर बौद्धिक अन्तर अवश्य कुछ है, और जब अत्यन्त उच्च-स्तर पर वह चढ़ जायगा तो निम्न-स्तर पर रहनेवाले जनों के विषय में ठीक-ठीक सोच या विचार नहीं सकता। व्यक्ति उच्च-स्तर निम्न-स्तर दोनों का समुचित अध्ययन कर सकता है। मानवता का संचार करने के लिए समाजवाद के सम-सिद्धान्त का प्रचार करना, यदि वह अपना कर्त्तव्य समझे तो शेष कठिन से कठिन कार्य भी उसके लिए सुकर, सरल हो जायँगे।

भारतीय समाजवादी व्यक्ति केवल एक वर्ग का न सोचे सर्व-वर्ग विचारक के गुण उसमें वर्त्तमान रहने चाहिए। अन्यथा सफलता प्राप्ति की संभावना नहीं रहेगी। और फिर सीमित वर्ग के लिए समाजवाद की स्थापना की आवश्यकता ही क्या है। अभाव के घर में रहनेवालों की फिक्र करनी चाहिए। मध्य-वर्ग की भी परिस्थिति दयनीय है। निम्न-वर्ग तो अपनी माँग के लिए बहुत कुछ घृण्य, अश्लील से अश्लील कार्य भी कर सकता है, इसलिए कि शर्म, हया नाम के शब्दों से प्रायः वह अपरिचित है।

छोटी-छोटी घटनाओं का वह महत्त्व नहीं देता। छोटे-छोटे दुःखों को व्यापक रूप में अधिक अनुभव नहीं करता। पढ़ने-लिखने से दूर रहता, अतः सोचने की शक्ति नहीं रखता। ठीक इसके विपरीत मध्य-वर्ग छोटी से छोटी घटनाओं का अधिक से अधिक महत्त्व देता है, छोटे-छोटे दुःखों से ऊब जाने की उसकी आदत-सी हो गई है। रात-दिन नहीं विचारनेवाली समस्याओं पर भी निदान के लिए सोचता-विचारता रहता है। माँगने के लिए हाथ नहीं खोल सकता। बिना उपधान के नींद नहीं आ सकती। इस तरह सब मिलाकर निम्न वर्ग की अपेक्षा अधिक दयनीय है। वेतन मिले तो प्राण बचे, अन्यथा उधार खाते में नाम चलते-चलते नौबत आ जाती है। प्रतिष्ठा का प्रश्न हर समय उठता है, कहाँ है, कहाँ के थे, का विचार सदा उसे उद्वेलित करता रहता है। अतः सर्व-वर्ग के उपयुक्त एक ही समाज की स्थापना हो जिसमें सभी का हित हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने में पूर्णता का समावेश देखे, आँखें ऊपर उठी रहनी चाहिए। भेद-भाव का अर्थ भी न जाने तो अच्छा है। निम्न-वर्ग को हम सोचने की शक्ति दे ही नहीं, यह मैं नहीं कहता। विचारक की भाँति वह भी अवश्य विचारे। चूँकि मनुष्यता का गुण उसमें नहीं रहेगा और न इसका अर्थ भी जानने का प्रयत्न करेगा। और इतना जो

न करे उसके लिए यह कर्त्तव्यपूर्ण संसार व्यर्थ है। खाने-पीने के अतिरिक्त और भी कितने प्रकार की सांसारिक समस्यायें हैं, जिनको सुलझाना उसीका कर्त्तव्य है। अकेले के स्वार्थ का पूरक मनुष्य नहीं, पशु है।

पूँजीवाद का गलत अर्थ लगाने का एवं उससे अधिक लाभ उठाने का अवसर न देना चाहिए। समाजवाद उसको संयत रखे, समय-समय पर अंकुश देता रहे। समूल यदि हम उसको विनष्ट कर देंगे तो शायद अपने कर्त्तव्य में भी सफलता न प्राप्त कर सकें। चूँकि इस युग में भी प्रत्येक की सार्थकता सिद्ध करने के लिए हम उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। वह भी एक बहुत बड़ी शक्ति है, साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण। परन्तु पहले भी सामाजिक सिद्धान्त के नियम में इसकी योजना थी। अर्थग्रहण करना सभी जानते थे। समाजवाद में आर्थिक योजना भी मूर्त्त-रूप से रहनी चाहिए। इस योजना के बिना कोई भी कार्य कार्यान्वित न होगा। इस दृष्टि-कोण पर अधिक सोचना-विचारना चाहिए। व्यक्ति इस पहलू पर भी अधिक ध्यान दे। पूँजीवाद की समाजवाद पूर्त्ति करे, यह मैं नहीं कहता। किन्तु इसकी अनिवार्यता सिद्ध है, अतः पूँजी को भी अपने समाजवाद में स्थान दे। वह ऐसा नियम रखे, जिसमें इसके अर्थ के अनर्थ की कदापि सँभावना न रहे। श्रम-पूँजी को एक ओर रखे, द्रव्य-पूँजी को एक ओर। बैंक का अध्यक्ष स्वयं वह व्यक्ति ही हो।

आवश्यकता से अधिक संग्रह पर कड़ी निगाह रखे, और उत्पादन साधन पर नियन्त्रण। समाजवाद का गलत अर्थ लगानेवाले व्यक्ति की सदस्यता कदापि स्वीकार न करे। निम्न-वर्ग की शक्ति का दुरुपयोग न होना चाहिए। परन्तु अपनी शक्ति का सञ्चय वे अवश्य करें। सम्भव है, क्रान्ति का बिगुल फूँकने के समय शक्तिरहित होकर वह कुछ नहीं कर सके। क्रान्ति का अर्थ खून, हिंसा, क्रूरता न होना चाहिए। आन्दोलन के कितने अनेक प्रकार हैं, जो खून से भी अधिक शक्ति रखते हैं। समय आने पर हमें खून का उत्तर खून ही से भी देना पड़ सकता है, इसके लिए हमें प्रस्तुत रहना चाहिए शान्ति-क्रान्ति दोनों का पोषक बनना चाहिये। परन्तु साम्य का प्रतिनिधि स्वरूप समाज का आधार सिर्फ रक्त न हो, इसका व्यक्ति को हर समय खयाल रखना चाहिये। ऐसा व्यक्ति, सब के हृदय में घर कर लेगा, घर कर लेने पर अनायास ही उसके 'सर्व' की पूर्त्ति हो जायगी। बिना आग्रह के ही सभी उसकी सहायता के लिए तत्पर रहेंगे। विशेषकर सर्वहारा वर्ग उसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखेगा। परन्तु व्यक्ति को उस वर्ग को यह शिक्षा अवश्य देनी चाहिए

कि अनेक न होकर, एक बनो, अन्योन्य विछिन्न एवं विभिन्न न रहने का बराबर प्रयत्न करो।

ऐक्य एक सैन्य-शक्ति है जिसके संग्रह का ध्यान उसे रखना चाहिये। वर्ग-निमित्तक चेतना के लिए साहित्यकार को जीवन-साहित्य का निर्माण करना होगा। परन्तु इस प्रवृत्ति का उसे आश्रय न लेना होगा कि सिर्फ सीमा में स्थित जन के लिए ही हमें सब कुछ करना है। सीमित साहित्य में स्थायित्व नहीं रहता। उसका प्रभाव भी इसीलिए क्षणिक ही पड़ता है।

आधुनिक प्रगतिशील साहित्यकार सामाजिक-साहित्य के निर्माण का यह अर्थ लगाता है, कि सिर्फ वर्गिक समस्याओं को सुलझाना ही, सामाजिक साहित्य का स्वरूप है। शेष अंग की पूर्त्ति का उसके जाने तो प्रश्न उठाना ही मूर्खता है। इस प्रकार की धारणा करते एक दिन यह परिणाम होगा कि साहित्य एक सस्ता, रोमान्स कहलायेगा। लोग समझने लगेंगे वाह्य परिस्थितियों को भी पकड़ने के लिए हिन्दी साहित्य का निर्माण हुआ है। अन्तर्जीवन की परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण इसमें नहीं है। युग से प्रभावित होने का शायद यह अभिप्राय नहीं है कि एकाङ्गी-साहित्य का हम निर्माण करें। व्यक्ति को जिस प्रकार समाज के प्रत्येक अंग की पुष्टि करनी चाहिए उसी प्रकार साहित्यकार को साहित्य के प्रत्येक अंग की पुष्टि के प्रयत्न में संलग्न रहना चाहिये।

समाजवाद: अन्तर्वृत्तिवाद

कुछ अध्ययनशील साहित्यकार अन्तर्वृत्ति पर अधिक जोर दे रहे हैं, उनके जानते इस पर भी साहित्य-रचना करनी चाहिये। समाजवाद में गम्भीर स्थितियों का स्वाभाविक चित्रण नहीं रहता। दूसरी बात यह कि मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व का जब तक चित्रण साहित्य में नहीं होगा, तब तक वह अधूरा ही कहलायेगा। समाजवाद में स्वार्थ असत्य, अहं, की विरोधमयी परिस्थितियों मात्र का ही चित्रण अधिकता से रहता है। मीमांसक की भाँति किसी भी समस्या के हल पर साहित्यकार को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए वर्ग के मस्तिष्क का मनोवैज्ञानिक आधार लुप्त है। इसको स्पष्टरूप से सबके समक्ष मूर्त्त भाव से प्रकट करना चाहिए। हृदय के उत्थान-पतन पर गति-अगति पर सूक्ष्मावलोकन करना चाहिए मानव-जीवन के विविधाङ्गों का विविध महत्त्व है। कल्पना का आश्रय लेकर, हम उसको मूर्त्त नहीं बना

सकते। स्वार्थ का दृष्टिकोण उसे सजग नहीं बना सकता। वर्ग-संघर्ष निमित्तक परिस्थिति उसमें जागृति भरने में निष्फल रहेगी।

मनोविज्ञान की तुला पर मानव को तौलना चाहिए। उसकी प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म और गहन हैं, इसलिए बिना मनोविज्ञान का सहारा लिए उसके कल-पुर्जों (शारीरिक) के बारे में अधिकारपूर्वक हम कुछ नहीं कह सकते। मानव की मनोवृत्ति परिष्कृत होनी चाहिए, कलुष, दूषण भावाभिभाव को उसमें स्थान नहीं देना चाहिए। इन्हें स्थान देनेवाला साहित्यकार साहित्य के साथ शत्रुता करता है। उपन्यास, काव्य, निबन्ध में मनोविज्ञान की पैनी दृष्टि रहनी चाहिए। अतः इसके उच्च-धरातल पर उच्च विचारों द्वारा प्रत्येक की निम्नता को उच्च-स्तर पर पहुँचाना अच्छा होगा।

सहजात भावना का आश्रय लेकर महत्त्वरहित व्यक्ति की जाँच मनोवैज्ञानिक, ढंग से होनी चाहिये। चूँकि व्यक्ति ही मनोविज्ञान पर खड़ा है। फिर उसकी वृत्तियाँ कैसे नहीं मनोवैज्ञानिक रहेगी। प्रगतिशील साहित्य में जिस व्यक्ति की स्थिति का उल्लेख रहता है, वह उच्च-मनोविज्ञान से आश्रित साहित्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त प्रमाणित होता है। समाजवाद के प्रत्येक वातावरण का उल्लेख रहता तो एक प्रश्न था, यहाँ तो महत्त्वरहित वातावरण का उल्लेख करना मात्र प्रगतिशील है। समाजवाद का सम्पर्क मनुष्य की बाह्य प्रकृति से है, अन्तर्प्रकृति से रहता तो जीवन में बल आने की अधिक आशा रहती। यही कारण है कि समाजवाद के सदस्यों को भी उसके सिद्धान्त से एक प्रकार से अपरिचित ही रहना पड़ता है। जिसका परिणाम यह होता है कि उसकी वास्तविक स्थिति का किसी को पता नहीं रहता और अनेक ऐसी दुर्घटनायें होती हैं जो वर्ग-संघर्ष का कारण बनती हैं।

समाजवाद के सदस्यों की गुप्त रखने की प्रवृत्ति नहीं रहती तो समाज के पक्ष में अच्छा होता, किन्तु वहाँ प्रत्येक सदस्य अपने लाभ पर ही ध्यान देता है, अतः प्राप्ति लोभ का सवरण नहीं कर सकता। अपने हृदय की बात कह देगा, तो उसे सफलता न प्राप्त होगी, अतः गुप्त क्रियाओं का विवशतावश आश्रय लेना ही पड़ता है। ऐसे सदस्यों की प्रवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययनकर, साहित्यकार को उसकी नाप-जोख करनी चाहिए। ऐसा करने से निम्न-वर्ग भी उनसे सतर्क रहेगा, और अपने हिताहित पर स्वयं सोचे-विचारेगा। सामाजिक प्रत्येक सदस्य पर शीघ्र विश्वास नहीं कर लेगा, अपनी बुद्धि का भी सहारा लेगा। मनोवैज्ञानिक ज्ञान-विज्ञान, युग को समझने में साथ देता है। अन्तर्वृत्ति, मनुष्य का सब पता, सङ्केत द्वारा दे देती है। प्रकृति-

प्रवृत्ति का समुचित पता प्राप्त कर लेने पर, मनुष्य को अन्धकार में ही मार्ग ढूँढ़ने की मूर्खता न करनी होगी। प्रकाश के प्रशस्त मार्ग की प्राप्ति सहज ही में उसे हो जायगी। समाजवाद-अन्तर्वृत्तिवाद की क्रियाओं से प्रभावित रहेगा तो उसकी शक्ति का, सिद्धान्त का ह्रास न होगा, बल्कि उसमें एक अद्भुत बल का संचार होगा, अतः समाजवादी पृष्ठपोषक को अन्तर्वृत्ति की यह कहकर अवहेलना न करनी चाहिए कि समाजवाद की समझ से यह परे है, अतः इसकी तनिक आवश्यकता नहीं है।

समाजवाद, समता का प्रचार चाहता है, जो सहज, सरल होना चाहिए मनोविज्ञान इसके प्रचार में बाधक प्रमाणित होगा। चूँकि इसका धरातल अत्युच्च है परन्तु कहनेवालों को सोचना चाहिए। धरातल की उच्चता पर ध्यान देंगे तो हम वहीं रह जायँगे जहाँ थे। ऊपर उठने की प्रवृत्ति न होगी। उन्नति के साधन ढूँढ़ने की आवश्यकता न समझेंगे। कठिन दुर्गम कोई भी वस्तु रहती है, इसलिए उसे छोड़ दें, यह अपनी अकर्मण्यता का परिचय देना है। मनोविज्ञान के युग में रहकर उससे दूर न रहने का यह अभिप्राय हुआ कि वह अपने समाज में प्रगति नहीं चाहता। फिर भी प्रगतिशीलता का ढोंग रचता है। प्रत्येक क्षेत्र की उन्नति और उसके सजग जीवन का नाम प्रगति होना चाहिए। रुक पड़ना, रुका रहना, अगति है, दूसरे शब्दों में मृत्यु। मनोविज्ञान के द्वारा समाज में सजगता लाकर उसकी प्रगति के साधन एकत्र करने चाहिये। भीतर की परिस्थितियों का चित्रण करने पर उन्हें यह पता होगा कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उग्रता, व्यग्रता, अशान्ति, असन्तोष का केन्द्र है, उसकी आकांक्षाओं की पूर्त्ति न होती है तो कितने प्रकार की आशङ्का युक्त भावनायें उसे विकल एवं विचलित करती हैं।

आन्तरिक स्थिति का चित्रण करने में उन्हें ही सफलता प्राप्त होगी, जिन्हें मनोविज्ञान का अर्थ मालूम होगा और जिनका अनुभव अध्ययन, गहन गुरुगम्भीर होगा। विशेष परिस्थिति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होने पर समाज और उसकी क्रियाओं में भी अन्तर पड़ जाता है। वैसी दशा में सहज कोई ऐसी रीति नहीं जो उसकी स्थिति स्पष्ट व्यापक बनाये। और जहाँ इसके स्वाभाविक विस्तार की आवश्यकता हुई, वहाँ और भी असफलता प्राप्त होगी। जीवन-तन्तु में उलझे मानव के लिए समभावना सापेक्ष्य है। इस दृष्टि से समाजवाद की जड़ मजबूत होनी चाहिये परन्तु मानव की वृत्तियों में जब असाम्य रहेगा, तब समाज का साम्य अधिक कमजोर पड़ जाय, ऐसी स्थिति में कौन-सा प्रयत्न वाञ्छनीय होगा, जो असँभले, असाम्य समाज के

लिए हितकर सिद्ध होगा। यों यदि अन्तर्वृत्तियों को ठीक रखा गया तो उस पर अधिक सोचने की आवश्यकता न होगी। मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य का आधार उसकी सत् वृत्तियाँ ही हैं, असत् वृत्तियाँ विनाश की सूचिका हैं।

समाज के विनाश में भी उनका साथ रहेगा। भावुकता से आश्रित मानव कह सकता है, वृत्तियाँ ठीक करने के पूर्व अपनी रक्षा के साधन ठीक करने होंगे। भूख यहाँ सबल बनकर पुनः उपस्थित हो जाती है, परन्तु देखना होगा, भूख की समस्या जिन लोगों ने हल कर ली है, क्या वे इसके पश्चात् वृत्तियों पर भी सोचते हैं। इस ओर ध्यान देना, उन लोगों ने कभी अपना कर्त्तव्य न समझा। आलस्य ने वृत्तियों में घर कर लिया फलतः उनकी वृत्तियाँ ज्यों की त्यों बनी रहीं। उनमें कोई परिवर्त्तन न हुआ।

जीवन की वृत्तियाँ, लौकिक कार्य में निपुणता प्राप्त कराती हैं, यदि वे दूषित रहीं तो मनुष्य का हृदय कैसे नहीं दूषित रहेगा। और हमेशा जब मनुष्य का हृदय दूषित रहेगा तो निश्चय है, लौकिक-पारलौकिक किसी भी कार्य में निपुणता नहीं प्राप्त हो सकती है। व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त, सांसारिक बोझिल समस्याओं के हल के निमित्त वृत्तियाँ परिष्कृत रहनी चाहिये। मेरे जानते सामूहिक प्रत्येक समस्याओं के निदान के लिए वृत्ति ही बहुत बड़ाँ सम्बल सिद्ध होगी। गाँधीवादी, परम्परा के अनुसार अग्रसर होनेवाला भी इसे स्वीकार करता है कि मानवीय वृत्तियाँ मनुष्य को कहीं से कहीं बहा ले जाती हैं। अपने सिद्धान्त पर अटल रहनेवाले, अपने विचारों पर दृढ़ रहनेवाले सफलता के उद्देश्य से अवश्य अपनी वृत्तियों पर ध्यान रखें। ये वृत्तियाँ मनुष्य के भीतर उठे द्वन्द्वों के परिचायक हैं, सागर-सी क्षुब्धता जो मनुष्य की रहती है, उसीके परिणामानुसार वृत्तियाँ अदलती-बदलती रहती हैं। समाज के बाह्य उपकरणों को गूँथने के समय मानवीय वृत्तियों पर दृष्टि न डाली गई तो समाज की भित्ति सुदृढ़ न होगी, न उसके उद्देश्य की सिद्धि ही होगी और न उसकी उपयोगिता ही सिद्ध होने को है।

सामाजिक शक्तियाँ, राष्ट्र के उद्बोधन की शक्तियाँ हैं। मनुष्य के विचार को राष्ट्रीय बनाने के लिए समाज को उसके उपर्युक्त प्रेरणायें देनी पड़ती हैं। स्पष्ट है, विचार कलुषित रहेंगे तो मनुष्य राष्ट्रीयता पर कदापि सोच नहीं सकता। उस पर सोचने के लिए समाज को सर्वप्रथम दूषित वातावरण से पृथक् रखना पड़ेगा। और उसका पृथकत्व तभी संभव है जब वह अपने अधीन रहनेवालों पर थोड़ा-बहुत नियंत्रण रखे पर उसकी स्वतन्त्रता पर भी ध्यान रखना होगा, अन्यथा वह उसकी क्रियाओं से सहमत न रहेगा।

इस प्रकार उसके अधीनों की वृत्तियों को भी स्वच्छ बना सकता है। परन्तु सामाजिक भित्ति सुदृढ़ करनेवालों का इस ओर तनिक ध्यान ही नहीं है। वे समाज के साथ इसका कोई सम्पर्क ही नहीं समझते। समाज में मानो इसका कोई महत्त्व ही नहीं। किन्तु समाज का सब स्वरूप कैसे निश्चित हो यदि निश्चित भी हुआ तो इनके औचित्य बिना उसका स्वरूप अनिश्चित ही कहलायेगा, चूँकि इसका उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। वृत्तियाँ मनुष्य को जागरूक बनाती हैं, कायर, आलस्य भी। सर्वमूलक चेतना में बल डालती हैं। फूँक-फूँककर रास्ता तय करने को कहती हैं, और अविचारे बढ़ पड़ने को भी बाध्य करती हैं। स्वच्छता रही तो प्रथम का अनुग बनना पड़ता है, दूषित रहीं तो द्वितीय का अनुसरण करना पड़ता है। सभ्यता-संस्कृति के विकासानुसार भी वृत्तियाँ परिवर्तित होती हैं, किन्तु भारतीय वातावरण भी इतना कलुषित हो गया है कि अपनी संस्कृति सभ्यता पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

सभी विदेशी से प्रभावित हैं, अतः सभ्यता का कोई प्रश्न नहीं उठाता। भारतीयजन जहाँ से प्रभावित हैं, वहाँ की संस्कृति-सभ्यता उच्चता की ओर लक्ष्य नहीं करती, और जहाँ की वृत्तियाँ दूषित एवं हेय हैं। उनके जानते, वृत्तियाँ कैसी भी रहें, मनुष्य को इससे क्या मतलब! मनुष्य को बनाने-बिगाड़ने में इनका कोई हाथ नहीं है, किन्तु उनकी यह गलत धारणा है। वृत्तियाँ, मनुष्य की हैंडिल हैं जिधर चाहें, उधर घुमा दें। और प्रायः विदेशीय वृत्तियाँ दूषित हैं, अतः उनका कोई अपना संस्कार नियत नहीं है। उनकी वृत्तियाँ विलास, ऐश्वर्य भोग से भरी हैं। यदि कर्म पर थोड़ी-बहुत आस्था न रहती तो जीवन-निर्वाह भी कठिन ही नहीं, असम्भव था। चातुर्य-शक्ति उनके लिए एक सम्बल ही है। असत्य, स्वार्थ-लोलुपता, धोखा, मक्कारी के सहारे उनके लिए सर्वकार्य सुकर हो जाते हैं। और इन्हीं भावनाओं को भारतीयों में भी भर दिया, अपनी शिक्षा द्वारा। धीरे-धीरे इनकी वृत्तियाँ उन्हीं की होती गईं, इनकी मनोवृत्ति में दासता आ गई।

आरम्भ में दास्ता इन्हें असह्य थी। परतन्त्रता भार थी, पर अब वृत्तियाँ परिवर्तित हो गईं, अतः रोम-रोम में दासता भर गई, इनके लिए अब यह अभिशाप नहीं बनी है। ये समझने लगे, हमारे रहतों की उन्हें अधिक चिन्ता है तभी तो हमारी रक्षा के लिए अनेक सेनायें एकत्र की गई हैं। अनाचार-अत्याचार को रोकने के लिए सरकारी औफिसरों की नियुक्तियाँ हुई हैं। अपराधी को सजा देने के लिए कारागार निर्मित किये

गये हैं। इस प्रकार की धारणा इन्हें भारतीयता से बहुत दूर भगा ले गई है। भारतीय हितों की रक्षा के लिए जब प्रश्न पर प्रश्न उठे, उचित माँग-पूर्त्ति के लिए जब आन्दोलन हुए और जब इन्हें परिणाम भुगतना पड़ा, तब कुछ-कुछ भाँपने लगे हैं, अन्यथा इनकी वृत्तियों में एक बहुत बड़ा विश्वास हो गया था।

अब भी इनकी वृत्तियों में विशेष परिवर्त्तन के लक्षण नहीं दीख पड़े हैं, फिर भी कुछ सूक्ष्म आवश्यक परिवर्त्तन अवश्य हुए हैं। कम से कम प्रत्येक विभाग के कुछ न कुछ शिष्टों में परतन्त्रता असह्य हुई है। विगत पर दृष्टि डालने के पश्चात् ज्ञात होता है, पाया नहीं गया, खोया ही अधिक गया है। परन्तु अभी अधिकांश की वृत्तियाँ पाश्चात्य से ही प्रभावित हैं। भारतीयता का ढोंग रचते हैं, यह देखकर कि इसमें भी बल है।

समाजवाद की वास्तविक भित्ति इसीलिए सुदृढ़ नहीं हो पाती कि इसके विधायकों की वृत्तियाँ योरप से अधिक प्रभावित हैं, जो दूषित हैं। बाह्य वृत्तियाँ देखने-दिखाने के लिए स्वच्छता, पवित्रता से भरी पड़ी हैं, किन्तु अन्तर्वृत्तियाँ इतनी दूषित रहती हैं कि एक दूसरे का गला दबाने को उद्यत रहती हैं। गबन की प्रवृत्तियाँ, विनाशोन्मुख वातावरण उपस्थित करती हैं। ध्वंसमूलक चेतना को जागरित करती हैं। अन्तर्प्रवृत्तियाँ मनुष्य को एकदम सबल और निर्बल, दोनों बनाती हैं, यहाँ स्वच्छता और दूषण, कल्मष का प्रश्न उठता है। समाजवाद के सब सिद्धान्त उपेक्षित हो जायँगे, यदि अन्तर्वृत्तवाद पर ध्यान न दिया गया। साहित्य (हिन्दी) में इतनी विकास की सामग्रियाँ एकत्रित हो जाने पर भी इस विषय पर दृष्टिपात नहीं किया जा रहा है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास और कहानी के वातावरण में इसको अवश्य उपस्थित किया, किन्तु आजकल वे भी कुछ शिथिल पड़ गये हैं। अन्तवृत्तिवाद को समझने के लिए गम्भीर विषयों का अध्ययन सापेक्ष्य है। अनुभव का भी अध्ययन अनिवार्य है। आँखों से हमेशा काम लेना चाहिये। देश-विदेश की संस्कृति-सभ्यता का स्वार्थरहित अध्ययन करना चाहिये। हिन्दी साहित्य में सिर्फ़ निम्नतल के योग्य समाज की स्थिति का चित्रण होगा तो विस्तीर्ण की जगह संकीर्ण की पुष्टि होगी, यद्यपि समाज का भी स्थान ऊँचा है, किन्तु भीतरी प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रबल हैं कि उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

यशपाल ने हिन्दी का सर्वाङ्ग अध्ययन किया है। उनका अध्ययन प्रौढ़ है। उनसे भी परिष्कृत अध्ययन पं० इलाचन्द्र जी जोशी का है। आन्तरिक

मनोवृत्तियों का उचित और अधिक विश्लेषण करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिल सकती है क्या मिली है। और शायद यही कारण है कि 'अन्तर्वृत्तिवाद' उन्हें स्वीकार है। समाजवाद में प्रौढ़ता एवं पूर्णता लाने के लिए 'अन्तर्वृत्तिवाद' को पुष्ट बनाना होगा।

साहित्य में इसको अधिक स्थान देना होगा। मनोविज्ञान अन्तर्वृत्ति को समझने-समझाने को सहायता का कार्य करता है। उसकी प्रत्येक स्थिति को मापने के लिए मनोविज्ञान का आश्रय लेना होगा। अवस्था का क्रमिक विकास भी अन्तर्वृत्ति को समझने में सहायक सिद्ध होता है। व्यावहारिक कुशल व्यक्ति भी सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की आँखें रखता हो तो इसकी उपयोगिता को समझ सकता है। और सम्पूर्ण ऊपर की योग्यता जिसमें है वह तो इससे रहित समाज पर किसी भी दशा में विश्वास करने के लिए प्रस्तुत नहीं रहता। किस मनुष्य में कब कौन सी वृत्तियाँ जाग्रत हैं, होंगी और कैसा प्रभाव डालेंगी, इसका परिणाम भो सोच लेनेवाले (मनोविज्ञान के सहारे) व्यक्ति हैं।

बिहार के वृहस्पति श्री आचार्य पं० कपिलदेव शर्मा एक ऐसे ही व्यक्ति हैं। समाज की स्थिति को वे अच्छी तरह समझ सकते हैं। अन्तर्वृत्तिवाद के प्रत्येक संयत विचार प्रौढ़ एवं प्रशंसनीय हैं। किसी भी मनुष्य को तुरत वे पहचान लेते हैं, सिर्फ मनोविज्ञान के बल पर कि कौन मनुष्य किस आधार पर टिका है, उसकी वृत्तियाँ कैसी हैं, भविष्य में क्या कर दिखायेंगी। इस समय समक्ष उपस्थित व्यक्ति के हृदय में कौन-कौन विचार चहल-कदमी लगा रहे हैं। इन सबको भाँपने की उनमें अपूर्व योग्यता है। माननीय-अन्तर्परिस्थितियों को वे अति शीघ्र पकड़ लेते हैं। परिस्थितियों को पकड़ लेने की उनमें विलक्षण शक्ति है। पंक्ति का लेखक एक समय उनके रोष के समय उपस्थित था। रोष का कारण मैं ही था। अपनी गुप्तवृत्तियों को उद्घाटित नहीं करना चाहता था कि उन्होंने कहा—"तुम्हारी वृत्तियाँ ऐसी-वैसी हैं, जो यह-वह कर दिखायेंगी। तुम वर्त्तमान स्थिति में यह सोच रहे हो।" मैंने बहुत देर तक सोचा, मैं क्या सोच रहा हूँ। निर्णय पर पहुँचने पर देखा, जो कुछ उन्होंने कहा, सत्य था। मैंने उसी दिन इस पर विश्वास किया कि मनोविज्ञान भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्य का, समाज का अङ्ग है।

आज से कई वर्ष पूर्व जब पाकिस्तान की विशेष चर्चा भी न थी, उसी समय इन्होंने बहुतों से कहा, गांधी जी अवश्य इस माँग की पूर्त्ति पर

सोचेंगे। वह आज किसी न किसी रूप में सत्य निकला। व्यक्तिगत गांधी जी का इन्होंने नोवैज्ञानिक अध्ययन किया था। उनकी वृत्तियों का परिचय अच्छी तरह प्राप्त किया था। उसी समय जबकि लोग कहा करते थे, गांधी जी महात्मा हैं, उनमें क्रोध नहीं है, इन्होंने कहा, वे भी क्रोध से रहित नहीं हैं। कुछ ही दिन बाद एक घटना घटी (छपरे में) रामखेलावन मिस्त्री की नीब की कल देखने गान्धीजी आये। देखने के पश्चात् उन्होंने कहा, इसकी क्या आवश्यकता थी। लोग कण्डे की कलम से भी लिखते। इस पर रामखेलावन ने कहा, आपके हाथ मोहम्मद ईसा और राम के सदृश हैं। इन्हें कटवा दें। भला इस युग में कण्डे की कलम से कार्य चल सकता है? इस पर उन्हें अत्यन्त क्रोध आया। आँखें लाल हो गईं। भौंहें तन गईं। फलतः उसे कहना पड़ा, बस, यही आप महात्मा हैं। ये महात्मा के लक्षण नहीं हैं।

अभी-अभी मैंने पेपरों में पढ़ा है, शिमले में एक फोटोग्राफर पर उन्हें बड़ा क्रोध आया जिसके फल-स्वरूप उन्होंने उसका कैमरा छीन लिया। ऐसी कितनी बातें या घटनायें हैं, जिनसे ज्ञात होता है, शर्माजी को अन्तर्वृत्तियों का ज्ञान कितना है। और इसीलिए समाज के निमित्त उचित सिद्धान्तों के प्रचार में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। समझता हूँ, मनोविज्ञान पर यदि वे चाहें तो एक बड़ा ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकते हैं, जिससे हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हो सकती है। उनके प्रत्येक निर्णय, निष्कर्ष के पीछे विचारों का तह पर तह रहता है।

इसी मनोविज्ञान के सहारे, अन्तर्वृत्तियों को लख लेने के कारण सामाजिक, सांसारिक प्रत्येक क्षेत्र के कार्यों में वे इतना अधिक व्यस्त रहते हैं कि लिखने की उन्हें फुर्सत नहीं। यदि शुद्ध-शुद्ध लिखनेवाला अच्छा विचारक हो, और हमेशा उनके साथ रहे तो अवसर और समय प्राप्त होने पर मनोविज्ञान का वास्तविक विश्लेषण उनके मुख से सुन सकता है, लिपिबद्ध भी कर सकता है। बौद्धिक ज्ञानार्जन, जो कुछ मैंने किया, उन्हीं के आश्रित होकर। निकट से मैंने उनके तर्कों, विचारों को सुना है। मुझसे उन्होंने कुछ नहीं कहा। पर किसी न किसी प्रकार सुनने का प्रयत्न करता रहा। पीछे चल-कर व्यक्तिगत रूप से भी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था। भविष्य का समस्त बौद्धिक बल उन्हीं पर अवलम्बित है। विचारों की सुदृढ़ नीव उन्हीं की डाली हुई है। अन्तर्वृत्तियों के वे अच्छे अध्यापक हैं, शायद इसीलिए समाज के प्रत्येक प्रश्नों का सहज ही में उत्तर देने का उन्हें प्रदान नहीं करना

पड़ता। समाजवाद के सिद्धान्त की व्याख्या (भारतीय) करने की उनमें पूर्ण योग्यता है।

पाश्चात्य संस्कार के वे अनुग नहीं, पर विशेष अवस्था में उसका अर्थ अपने में भी ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु दूसरों की जगह अपने ही संस्कार का परिष्कार उन्हें रुचिकर है, यदि उसमें अभाव दीखा तब, अन्यथा उसीका पृष्ठपोषक बनने को प्रेरित करते हैं। रूढ़ि को तोड़ते भी हैं, आवश्यकता आने पर। किन्तु अधिक मानते हैं। समाज के आधुनिक वातावरण में पलने पर भी अन्धों की तरह उसका अनुग नहीं बनते। स्वयं इस प्रकार वे समाज को देखते हैं मानो वे ही समाज के मूर्त्त रूप हों। व्यर्थ के ढोंग पर उन्हें घृणा है। आचरण की पवित्रता पर अधिक जोर देते हैं। सत्य को जीवन का सबसे बड़ा सम्बल मानते हैं। समाज के बाहर नहीं हैं, पर अपने प्रत्येक व्यवहारों द्वारा सिद्ध करते हैं, जहाँ तक समाज के सिद्धान्त सच्चे अर्थ में ढोंग से रहित हैं, वहाँ तक मेरे लिए मान्य हैं, जहाँ वह वहिष्कार के योग्य है वहाँ सहज ही में उसे वहिष्कृत कर देते हैं।

मैंने देखा है, समाज में उन्होंने ऐसे अनेक कार्य किये हैं जिसका बहुतों ने विरोध किया, पर लोगों की उन्होंने एक न सुनी। अपने भाई, पुत्री और पुत्र के विवाह में, भातृज के यज्ञोपवीत में समाज, ग्राम, नगर सबके विरोध करने पर भी वही किया, जिसे समाज में सुधार का ही कार्य कहा जा सकता है। फिर भी आज के शिष्यों की तरह उन्हें संस्कार पर अविश्वास नहीं, समाज के बन्धन अप्रिय नहीं। उनका कहना है, इससे बाहर रहनेवाला अवश्य दूषित वृत्तियाँ रखता है। समाज-नियन्त्रण में रखने की शिक्षा देता है जो अनियन्त्रित है, वह अनेक हेय स्वतन्त्र कार्य भी करने को विवश होता है। समाज के अन्तर्गत जीवन-यापन किया जा सकता है, यदि वृत्तियाँ अपनी और स्वच्छ हों। अन्तर्वृत्ति की ही स्वच्छता महत्त्व रखती है, बाह्य नहीं। एक व्यक्ति को उन्होंने पत्र में प्रसंगवश यह लिखा था :—'सत्य, सदाचार, ज्ञानोपार्जन, बलोपार्जन में लगे रहने के अतिरिक्त हृदय की वृत्तियाँ, समाज के नियम एवं बन्धन, सफलता के साधन हैं। वृत्तियाँ स्वच्छ रहेंगी, आत्मबल पर विश्वास रहेगा, तो स्वयं समाज तुम्हें बुरा न लगेगा।*

इस प्रकार धर्म-सम्बन्धी भी अनेक उनके विचार हैं, जिन पर चलकर पूर्व-पश्चिम किसी भी संयुक्त या विभक्त व्यवस्था की दृष्टि में व्यक्ति अमान्य

* उनके १७–६–३९ के एक पत्र से उद्धृत।

नहीं होगा, न उपहास की दृष्टि से ही देखा जायगा। और भी सम्मानित व्यक्तियों के विचार उदाहरण के लिए दिये जा सकते हैं। समाजवाद की अपेक्षा अन्तर्वृत्तिवाद में अधिक बल सन्निहित है। लौकिक-व्यवहार में कुशलता प्राप्त करने के लिए आन्तरिक वृत्तियाँ सबल से सबल शक्ति सिद्ध हो सकती हैं। सहज, स्वाभाविक रीति से जीवन में संदीप्ति लाने के लिए मानव, समाजवाद के विश्लेषण के साथ-साथ अन्तर्वृत्तिवाद की भी व्याख्या करे। मनोविज्ञान की तुला पर प्रत्येक विचारों को, निर्णयों को तौले, फिर सब के लिए प्रशस्त मार्गों का निर्माण करे। हृदय और अनुभूति, जीवन और चेतना, साधक और साधन क्रिया की शीलता, चढ़ाव और उद्वेग, ये सब अन्तर्वृत्तिवाद का केन्द्र विन्दु हैं। और समाजवाद में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती, ऐसा कहना अपनी अन्धप्रज्ञा की सूचना देना है।

समाजवाद सिर्फ शोषण को दूर कर सकता है, और क्रियाओं पर ध्यान देना, अपना कार्य नहीं समझता। यदि यह सच है तो उसकी नींव अदृढ़ एवं अधिक हितकर नहीं है। समाजवाद के अंगों की पुष्टि के लिए उसके संस्थापकों एवं सदस्यों को बाह्य उपकरणों पर भी ध्यान देना चाहिए। अन्यथा सर्वाङ्ग उन्नति की संभावना नहीं। रूस का समाजवाद, चूँकि औरों की अपेक्षा अधिक सफल एवं उद्योगशील है, अतः भले ही कुछ के लिए अनुकरणीय हो, किन्तु वह भी अपने आपकी उद्देश्यपूर्ति में अधिक सफल नहीं कहा जा सकता। चूँकि अन्तर्वृत्तवाद पर न कभी उसने सोचा है, न सोचने की आवश्यकता ही समझी है। उसके रूपों में, प्रकारों में भिन्नतायें हैं। वृत्तियों का प्रश्न उठानेवाला वहाँ कोई नहीं है। परन्तु आगे चलकर एक समय आयेगा, जो विवश करेगा, उन्हें यह समझने के लिए कि मानवीय वृत्तियाँ समाज के हिताहित पर किस प्रकार अपना स्थायी प्रभाव डालती हैं। आज इतनी विकासावस्था में रूस के समाजवादियों ने इस पर ध्यान न दिया तो उन्हें धोखा होगा, धराशायी होना होगा। भीतरी स्वच्छ वृत्तियाँ राष्ट्र को समझने में सहायता का कार्य करती हैं।

राष्ट्रीय उद्बोधन के ज्ञान का अभाव रह जायगा, इसके बिना। दूषित वृत्तियाँ रहीं तो राष्ट्र के उन्नायक कुछ भी स्थिर न कर पायेंगे, फलतः उसके जन समय आने पर धोखा भी दे सकते हैं। यों यदि सब की वृत्तियाँ स्वच्छ रहीं तो धोखे की भावना, उनमें घर करेगी ही नहीं। राष्ट्र सर्वप्रकारेण सबल रहेगा, अन्यथा कुछ का कुछ भी हो सकता है। भारतीय समाजवाद तो इसके आधार के बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। चूँकि यहाँ की वर्त्तमान

परिस्थितियाँ, यहाँ के संस्कार, यहाँ के सुनिश्चित विचार ऐसे हैं जो किसी भी समय प्रवञ्चना शक्ति का आश्रय ले सकते हैं। विभिन्नता, विच्छिन्नता, व्यक्तिगत, पारिवारिक-कलह, सभी मिलकर यहाँ उपद्रव मचा रहे हैं। किसी भी संस्था के उद्देश्य में सफलता मिलने की बहुत कम आशा है।

जन-आन्दोलन बल पकड़ नहीं सकता। स्वार्थ और लोभ में सभी अन्धे हैं। यदि यहाँ की वृत्तियाँ स्वच्छ न हुईं, पाप अनाचार से दूर न रहीं तो शायद ही विश्वास की भावना का प्रवेश हो। कदाचित् ही अनेक बड़े से बड़े प्रयत्न के पश्चात् रूस के समाजवाद की यहाँ स्थापना हो। समाजवाद भावुकता और उत्तेजना का कोई खिलवाड़ नहीं कि जब चाहा, जैसा निर्माण कर लिया। यदि ऐसा है तो प्रत्येक मनुष्य समाज है। इसका भी विश्लेषण है, इसकी भी विधियाँ हैं। इसमें भी नियम-नियन्त्रण है। भौतिकवाद में विचरनेवाला शायद यह सोचता है कि समाजवाद कोरा अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है, नहीं, जहाँ इसकी स्थापना हुई है, उसी पर यदि वह ध्यान देगा तो ज्ञान हो जायगा। इसके बैक ग्राउण्ड में क्या है। इसकी पृष्ठभूमि क्या है। बिना इस पर विचारे समाजवाद पर कुछ भी कहने का वह अधिकार नहीं रखता। द्वन्द्व परिस्थिति में पलने के कारण समाज के किसी अंग पर सोच ही नहीं सकता। प्रज्ञावाद कदाचित् सर्वप्रथम अन्तर्वृत्तिवाद पर विचार करे, और तदनंतर समाज वाद की पृष्ठभूमिका पर दृष्टि डाले। अन्य वाद को इन पर दृष्टि डालने आती ही नहीं। दूर से देखने पर इसमें कुछ नहीं प्राप्त होगा। निकट से हाँ, अति निकट से आँखे फैलाकर देखने पर बहुत कुछ मिलने की सम्भावना है। इसकी संयोजक-शक्तियाँ अति कठोर एवं अति करुण दोनों हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'हौक्सले' ने अपनी एक वैज्ञानिक समस्या में वृत्तियों को भी रखा है।

औद्योगिक-क्रियाशीलता में भी वृत्तियों की आवश्यकता होती है। स्वामी की पूँजी की वृद्धि नहीं हो सकती, यदि उसके जन की वृत्तियाँ स्वच्छता एवं सत्यता पर आश्रित न हों। नेता की सफलता भी उसके अनुगों की वृत्तियों पर निर्भर करती है। समाज के संस्थापक की वही दशा है। इस प्रकार सब क्षेत्र की सफलता मानवीय वृत्तियों पर ही निर्भर करती है। समाजवाद के मापक अन्तर्वृत्तिवाद अपने में पूर्ण है। साहित्य के साधकों की समाजवाद के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तुओं पर दृष्टि जानी चाहिए और अन्तर्वृत्तिवाद के प्रत्येक अंगों पर भी। अन्यथा सिर्फ़ समाजवाद के बाह्य उपकरणों पर ध्यान देंगे तो उसमें बल नहीं रहेगा। मानव की स्वभावतः प्रकृति आध्यात्मिक होती है। परन्तु परिवर्त्तन के नियमानुसार उसमें भावों की क्रियात्मक शक्तियाँ कार्य करने

लगती हैं। निम्न-वर्ग शिष्ट, मध्य-वर्ग अतिशिष्ट के उच्च वर्ग, सबकी प्रकृति आरम्भ में आध्यात्मिक रहती है, किन्तु चली आती हुई सामाजिक परम्परा सबको अलग-अलग विभक्त कर देती है। मस्तिष्क विभाजन, कार्य-विभाजन अनिवार्य हो जाता है, समाज की दृष्टि में। चूँकि वह जानता है, ऐसा नहीं करने से उसकी स्वार्थ-साधना में विफलता आयगी।

समाजवाद की यह स्वार्थ-प्रकृति सबके लिए घातक है। आज भी भारत में यह वर्त्तमान है, इसके बहिष्कार का आन्दोलन स्तुत्य है, परन्तु साहित्यकार सिर्फ इसीको लेकर चलेगा तो और शेष सभी बहुत पीछे पड़ जायँगे। पुनः अनवरत महान् से महान् प्रयास पर भी विगत की आवृत्ति संभव नहीं अतः और अंगों पर भी उसका ध्यान जाना चाहिए।

सीमित वर्ग के लिए सीमित समाज की नीति का अध्ययन अनिवार्य नहीं है। यदि समाजवाद की स्थापना के लिए ही उसे इस समय प्रयास करना है, तो वह समस्त वर्गीय समाज का अध्ययन करे और अपनी विचारधारा के अनुसार प्रथक् समाज का निर्माण करे। और अनुभव का भी बल उसमें रहना चाहिए। समाजवादी प्रचारक अपने अनुभव पर ही कुछ बोल या कह सकता है। परन्तु यहाँ का समाजवादी साहित्यकार अनुभव से कोसों दूर है।

मजदूर, श्रमिक कृषक पर आँसू बहाना जानता है। उनको परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए न उन्हें समय है, न इस पर ध्यान है। परन्तु ठीक इसके सामने दूसरी जगह के समाजवाद को समक्ष रखा जाय तो उसके निर्माता (साहित्य के) अनुभवी दीखेंगे। रूस के समाजवादी-साहित्यकार चाहे जिसको समक्ष रखें, टाल्सटाय, गोर्की जो भी हों, अनुभव प्राप्त हैं। मार्क्स को इस विषय का अधिक ज्ञान इसलिए है कि सब कुछ कार्य के रूप में परिणत करने के लिए उसे अध्ययन की ही ज़रूरत हुई। प्रत्येक क्षेत्र का उसे पूर्ण ज्ञान था। इसीलिए उसके प्रत्येक सिद्धान्त ठोस थे।

फ्रान्स के रूसो और भोल्टेयर भी अनुभव-आधार पर अपने क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रश्रय देते थे। सामाजिक स्तर छूने का महान् प्रयास उन लोगों ने किया, परन्तु आरम्भ ही में उत्तेजना में इतनी अधिक तीव्रता थी कि क्षेत्र में सफलता न प्राप्त हुई। यदि क्षणिक क्रोध न रहता तो अनुभव के बल पर ही समाजवाद की स्थापना स्वयं वे कर लेते। विद्रोह की भावना ने ज़रा थोड़ी देर के लिए परिणाम पर गम्भीरता से सोचने का अवसर नहीं दिया। परन्तु रूस की तरह समाजवाद पर ही उन लोगों ने भी ध्यान दिया, अन्तर्वृत्तिवाद पर उन लोगों ने भी ध्यान नहीं दिया।

भारतीयों को समाजवाद के साथ-साथ अन्तवृ त्तिवाद पर भी अधिक ध्यान देना चाहिये। अन्यथा उन्हीं की तरह ये अपूर्ण सिद्ध होंगे। भावुकता में सहृदयता रहने का यह अभिप्राय नहीं कि नींव मजबूत पर किसी की दृष्टि न टिके। सस्ती भावुकता भारतीयों में भर गई है, जिसके फलस्वरूप उचित-अनुचित पर, अच्छी-बुरी पर इनका ध्यान नहीं जाता। अपनी अन्धप्रज्ञा से काम लेते हैं, अन्त:चक्षु बन्द रहता है। इसीलिए साधारण समाज की स्थिति दयनीय एवं निन्दनीय है। भावना में सत्यता नहीं है। असत्य के सभी आश्रयभूत विशिष्ट अङ्ग हैं जिनमें ध्वंस की क्रिया अधिक कार्य करती है। विनाशमूलक प्रवृत्ति की वृद्धि चरम सीमा पर पहुँच गई है। अत: यहाँ किसी भी समाज की व्यवस्था अच्छी नहीं रह सकती है। समाजवाद के वास्तविक सिद्धान्त में निर्बलता रहेगी, यदि हृदय की स्थिति का उचित चित्रण नहीं रहेगा। समाजवाद में धर्म को भी प्रश्रय देना चाहिये, चूँकि भारत में इसके छाँटने पर लाभ की जगह हानि ही उठानी होगी। वृत्तियों की स्पृच्छता पर जब ध्यान देना होगा, तब धार्मिक-व्यवस्था को भी एक तराजू पर तौला जायगा। चूँकि विशेष वृत्तियों में धार्मिक वृत्ति भी प्रबल है।

इसको दूर नहीं हटाया जा सकता। इसको दूर करनेवाले को पश्चाताप करना होगा। जीवन में भी धर्म का ऐकिक महत्त्व है। आडम्बर और ढोंग-रहित धर्म, रक्षा का कार्य करता है। परन्तु धर्म का आश्रय लेकर लोगों ने इसे जीविका का साधन बना दिया, अत: छल, प्रपंच, असत्य सब कुछ इसमें भर गये थे किन्तु सुविचारक चाहता तो इसमें भी परिवर्त्तन-परिष्कार कर सकता था, और अपनी जगह पर उसे ला छोड़ता। जीवन में स्वच्छता या पवित्रता आ सकती थी, परन्तु भारतीय आधुनिक युग एक ऐसी दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है, जिसमें अपना कुछ नहीं है, और बौद्धिक ह्रास भी अधिक है। धार्मिक आचरण से वृत्तियाँ निर्मल और स्वच्छ बनती हैं। अन्तर्वृत्ति की शुद्धता भी धर्म का एक अंग ही है, धार्मिक-वृत्ति भी प्रकृति की विशिष्टता का द्योतक है।

समाजवाद में अन्तवृ त्तिवाद व्यापकता, सजगता एवं स्थायित्व ला सकता है। मनोवृत्ति की मलिनता किसी भी कार्य को सुचारु रूप से चलने-चलाने में अक्षम रहती है। किसी भी संस्था की उन्नति के बजाय अवनति होती है। कर्ममय-जीवन यापन के लिए जहाँ समाजवाद शिक्षा देगा, वहाँ अन्तवृ त्तिवाद की सबलता रहनी चाहिये। भारतीय समाजवाद को तो इस पर विशेष ध्यान देना होगा, चूँकि साम्प्रदायिक कलह में वह सोद्देश्य कुछ नहीं कर सकता,

न उसे सफलता ही प्राप्त होगी। दोनों से सम्मिश्रित यदि सर्ववर्ग निमित्तक समाजवाद की जड़ का भारत में आरोप हो तो अच्छा है, किन्तु उपस्थित समस्याओं को पुनः सुलझाने का प्रयास न करना पड़े, अन्यथा कलह, द्वेष, ईर्ष्या, असत्य ज्यों के त्यों पहले ही की तरह अपनी-अपनी जगह पर अड़ा रहेंगे। और वर्ग-वर्ग को विशेष-विशेष हानियाँ उठानी पड़ेंगी।

समाजवाद में सम्पत्ति

सम्पत्ति पर अधिकार रखने के लिए ही शोषण नीति का उच्च, शिष्ट-वर्ग आश्रय लेता है। और व्यक्तिगत सम्पत्ति एकत्र करने का समाजवाद प्रबल विरोध करता है। वह व्यक्ति की प्रधानता किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकता। आर्थिक तत्त्व का प्राबल्य अवश्य प्रदर्शित करता है, किन्तु सार्वजनीनों के लिए। सम्पत्ति, सामूहिक होनी चाहिये, और जो व्यक्तिगत सम्पत्ति है, उसके समूलोन्मूलन का वह अधिक से अधिक प्रयत्न करेगा। सम्पत्ति उसके लिए एक अभिशाप है। कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एञ्जिल्स ने समता के प्रचार के लिए समाजवादी-साम्यवादी-पत्र (Communist manifesto) में समाजवाद की आर्थिक योजना में उसके तत्त्वों पर प्रकाश डाला है, जिसमें एक की सीमा में स्थित सम्पत्ति के विनाश के लिए बहुत कुछ कहा है।

सम्पत्ति पर अधिकार स्थापित करने के लिए जमीन्दार या पूँजीपति अपने पूर्वजों के प्रदर्शित मार्ग पर अग्रसर होते हैं। और उनके पूर्वजों ने शोषण और चातुर्य के बल पर अनेक ऐसे साधनों एवं अपने प्रशस्त अनुभवों को इनके सम्मुख रखा, जिनसे व्यक्तिगत उन्होंने पर्याप्त लाभ उठाया। सम्पत्ति जनों में वैषम्य लाती है, यह इन्हें स्वीकार न था, फलतः समाजवाद में पूँजी की ही प्रबलता बढ़ती गई, और जो हानियाँ होनी चाहिये थीं, सो हुईं! मैनेजर, प्रोप्राइटर का लोभ बढ़ता गया, साथ ही दमन-क्रिया बढ़ती गई। जिन लोगों ने इसके विरोध में आवाज उठाई, उन्हें ऐसी सजा भुगतनी पड़ी कि हृदय में तूफान और बवण्डर लिए पुनः सभी, सब अपने कार्य में निमग्न हो जाते और फिर ऐसी आवाज उठाने की दुस्साहस नहीं करते।

सम्पत्ति के स्वार्थ ने उसे अन्धा बना दिया। सहृदयता एकदम विलुप्त हो गई, मजदूर निर्माण के कार्य में लगे ही रहे, सम्पत्ति पर उनका ध्यान नहीं गया, गया भी तो चुप के सिवा वे कुछ कर सकते नहीं। अधिक दमन,

अधिक शोषण ने आगे चलकर विस्फोट का कार्य किया। विद्रोह की आग की लपटों ने सबको भस्मीभूत करने के लिए चारों ओर सम्पत्ति से निर्मित वस्तुओं को जला देना चाहा, पर साधन के अभाव ने पुनः एक बार उसी प्रकार धोखा दिया। किन्तु अब इतना हो गया है कि पूँजीपति उनकी आँखों में धूल झोंकने का व्यर्थ प्रयास नहीं कर सकते। फिर भी महत्त्वरहित व्यक्ति (भारतीय) अपनी सम्पत्ति के बल पर निम्नवर्ग को कभी भी कुचल सकता है। भय या आशंका उसके मन में अवश्य है, किन्तु इस साधन से कि पूँजीबल मेरे पास है, सब कुछ करने के लिए उद्यत हो जाता है। सम्पत्ति अनधिकार चेष्टा या प्रयत्न के लिए स्वामियों को विवश करती है। सम्पत्ति का उपयोग वे ही कर सकते हैं। इनका सम्पत्ति के अङ्ग पर थोड़ा भी अधिकार नहीं।

अधिकार शब्द से उन्हें अपरिचित रखने के सम्पत्तिशालियों ने बहुत प्रयास किये, पर वे सब इस समय व्यर्थ और महत्त्वरहित सिद्ध हुए। आज भी इस प्रवृत्ति को उभारा जाता है, किन्तु तुरत समेटकर उन्हें सँभल जाना पड़ता है, अधिक उग्रता देखने पर।

भारतीय निम्न-वर्ग सर उठाकर चलने का प्रयास कर रहा है। माँग के लिए इसकी जीभ हिलने-डुलने लगी है, किन्तु शोषण या दमन अभी जारी है, इसका प्रधान कारण बृटिश साम्राज्यवाद है। भारतीय स्वार्थी स्वामियों को एक प्रकार से इसके द्वारा बड़ी सहायता प्राप्त होती है, अपनी स्वार्थ साधना में। साम्राज्यवाद की वे पूजा करते हैं। जानते हैं, इसकी जड़ उखड़ते ही हमारी संचित समस्त सम्पत्ति एकदम लुट जायगी, संग्रह का कोई प्रश्न नहीं उठेगा।

सम्पत्ति बुरी नहीं है, पर व्यक्ति भी सम्पत्ति कलह का केन्द्र है, वह शोषण में बल देती है। समाजवाद सम्पत्ति का सदुपयोग करने को बाध्य करता है। वह उत्पादन-साधन पर सबका समान रूप से अधिकार समझता है। श्रम-परिश्रम के पश्चात् निर्मित वस्तुओं पर यह कहने का किसी का अवसर नहीं देता कि यह मेरी है। स्वामी—श्रमिक सब उसका समान रूप से उपयोग करते हैं। यों सर्वपूरक की दृष्टि से सम्पत्ति विनाश की भित्ति है, जो कभी न कभी एक दिन ढह कर ही रहती है। इस लोभ की दृष्टि न रखनी चाहिए। इस पर अधिकार का जब प्रश्न उठे तब निर्णायक को सम-विभाग पर ही अधिक पैनी दृष्टि रखनी चाहिये। जीवन की सम्पत्ति शरीर भी है, पर अनेक दोनों में विभिन्नतायें हैं।

इसी तरह सम्पत्ति कई प्रकार की होती है, शारीरिक, बौद्धिक, क्रियात्मक, श्रमिक, जिनमें अन्तिम सम्पत्ति ही उग्रता-उदग्रता का कारण है। इसका समुचित रूप से प्रयोग हो तो हानि की संभावना नहीं। प्रयोग में ही त्रुटियाँ होती हैं और जब तक होती रहेंगी, तब तक साधारण व्यक्ति भी समाज का प्रतिनिधित्व करता रहेगा। जो व्यक्ति, व्यक्ति से उठकर समाज का बन जाता है, वह सम्पत्ति के प्रयोगों की विधियाँ बता सकता है, चूँकि त्याग, तप, बल भी उसमें रहता है। पर ऐसे व्यक्तियों का सर्वथा अभाव है। इन व्यक्तियों में पं० जवाहरलाल नेहरू का नाम लिया जा सकता है। व्यक्तिगत उनकी अपनी कोई सम्पत्ति रहती हुई भी है ही नहीं है। परन्तु ऐसे व्यक्तियों को ढूँढ़ना होगा, और आज ढूँढ़ने-खोजने की फुर्सत नहीं। इससे अच्छा है, व्यक्ति का प्रश्न छोड़कर समाजवाद की स्थापना का ही प्रश्न उठाया जाय। भारत में सम्पत्ति की विधियाँ विविध प्रकार की हैं। अतः उनके उपयोग के तरीके भी अनेक हैं। समाजवाद की स्थापना के पूर्व यह अवश्य सोच लेना होगा कि भारतीय श्रमिकों को सम्पत्ति का अर्थ ज्ञात है कि नहीं। जमींदार, स्वामी, प्रभु अथवा मैनेजर, सम्पत्ति से जिस प्रकार का जितना लाभ उठाते हैं उनके उपयोग की क्या विधियाँ हैं। बाहर और यहाँ के Active workers में क्या अन्तर है। यदि इनकी भी स्थिति बाहर के सदृश रही है तो उसके अनुरूप ही समाजवाद की स्थापना होगी। अन्यथा उसकी भारतीयता को लेकर पूर्ण समष्टियुक्त समाजवाद की स्थापना होगी।

सम्पत्ति के साधन, भूमि के उत्पादन एवं श्रम के आधार हैं। समाजवाद का वास्तविक रूप स्थिर हो जाने पर उसके प्रत्येक सदस्य सम्पत्ति को सार्वजनिक समझेंगे और उसकी सहायता से एक बड़ा सहयोग समझकर निर्माण-कार्य में लग जायँगे। समाजवादियों ने कहीं-कहीं पर सम्पत्ति को चौर्य-वृत्ति का परिणाम कहा है। प्रूधों (Proudhon) ने तो इसे स्पष्ट चोरी कही है: Property is the theft। कुछ अंशों में है भी ठीक, चूँकि आखिर जिस प्रकार इसका संग्रह होता है, इसके साधन-प्रसाधन क्या हैं। असत्य के आधार पर यह अवलम्बित है; लूट-खसोट के परिणाम में संपत्ति का आगमन होता है।

आजकल इसके मुख्य साधन कल, कारखाने, और कुछ दिन पूर्व भूमि विशेषतः, पर अब अतिमुख्य कल-कारखाने ही हैं। पूँजीपतियों का जो विरोध करते हैं, वे इसको भी समझते हैं कि स्वामियों की वृत्तियाँ भी बदलनी होंगी। अन्यथा अपनी निजी अधिकृत संग्रहीत सम्पत्ति द्वारा पूँजीपति हों। और यह

भी सच है, कल-कारखाने नष्ट भी हो सकते हैं, उनकी उपयोगिता नहीं भी सिद्ध हो सकती है, किन्तु भूमि की उपयोगिता सदा स्वतः सिद्ध है। यह प्राण-रक्षा का प्रबल साधन है, अतः इसके अधिकार से किसी को वंचित नहीं रखना चाहिए। समाजवादी सिद्धान्त का कोई भी पुष्ट-पोषक भूमि के किसी भी भाग को अपना कहने का दुस्साहस नहीं कर सकता। परन्तु 'पूँजी' का विरोध करना, अपनी मूर्खता का परिचय देना होगा, चूँकि पूँजी ने श्रमिकों या मजदूरों को चने-चने का मुँहताज नहीं बनाया, बल्कि 'पूँजी' उनकी भूख की समस्या का निदान है, पूँजीपतियों का विरोध अपेक्षित है। सम्पत्ति का कार्य साधन जुटाने का है, जो यह कार्य उससे नहीं हो सकता।

पूँजीशाहियों को मस्तिष्क था, मिला, पर स्वार्थवृत्ति ने निम्नों को मस्तिष्क देने का निषेध किया। लोगों ने देखा, इसके परिणाम में मेरी सम्पत्ति छिन जायगी। श्रमिक चारों ओर की परिस्थितियों को समझने लगेंगे और अपने अभावों की पूर्ति के लिए मार्ग निकाल लेंगे। इस विचार ने उन्हें भयभीत कर दिया। इस स्वार्थ-लोलुपता ने तनिक देर भी भविष्य पर सोचने का अवसर नहीं दिया। अन्यथा भविष्य उन्हें सजग कर देता।

सम्पत्ति की प्रचुरता ने उनकी आँखों की रोशनी छीन ली। आन्तरिक स्थिति में निर्बलता आ गयी। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण समाजवाद में उपेक्षित न होने चाहिये। यदि इसको भी साथ ही विकास-पथ पर अग्रसर कराया जायगा तो श्रमिकों को सर्वविषयक ज्ञान-संचय में सहायता मिलती। किसी प्रकार का अभाव उन्हें नहीं रहेगा। परन्तु भारतीय समाजवाद किसी की नकल करने की कोशिश न करे, अन्यथा उसे सफलता शायद नहीं ही प्राप्त होगी। नकल में भय और पतन अधिक है। यहाँ वहाँ की परिस्थितियों में विभिन्नता अधिक रहती है। इसलिए एक दूसरे का अनुग बनना अनुचित एवं हानिकर ही होगा।

अपने आस-पास के वातावरण को देखना आवश्यक है। जीवन में गति लाने के लिए अपने आप पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। दूसरों के अनुकरण में गति नहीं, अगति की अधिक सम्भावना है। हाँ, समय या अवसर आने पर जहाँ आवश्यकता होगी, उनसे हम कुछ ले सकते हैं, लेंगे भी। पृथक्-पृथक् सम्पत्ति की विवेचनायें हो सकती हैं, देश-काल का उन पर प्रभाव पड़ता है। अनुकरण में धोखे की संभावना अधिक है। विचार-स्वातन्त्र्य से काम लेना चाहिये। यह ठीक है कि रूस को ही क्रान्तिकारी आन्दोलन में सर्वप्रथम सफलता प्राप्त हुई है। समाजवादी सम्पत्ति का उसने

सदुपयोग करना सीख लिया है। सम्पत्ति को उसने व्यक्ति के लिए नहीं रख छोड़ा है। अधिकार शब्द से सभी को परिचित कराया है। और यही कारण है कि उसके यहाँ वर्ग-संघर्ष शायद नहीं रहा, जिसके फलस्वरूप उसने जन-वर्ग को एक बहुत बड़ी सेना समझकर संगठित किया है और शत्रुओं के युद्ध में विजय प्राप्त की है। रूस अपने विकास-पथ में रोड़ा नहीं चाहता, शान्ति-पूर्वक अग्रसर होना चाहता है। जो कुछ उसे करना पड़ा, जार के अनाचार के प्रचार से ऊबने पर ही। विकलता-उद्विग्नता उसी समय चरम सीमा पर पहुँची। बाद जैसे आँधी-वर्षा की बादवाली परिस्थिति हो गई। फिर इतना सच होते हुए भी अनुकरण की प्रवृत्ति निन्दनीय है। परिवर्त्तन में संस्कृति-सभ्यता भी अनेक ऐसे कार्य करती है, जिनका जनवर्ग पर पर्याप्त-प्रभाव पड़ता है। देश-विदेश की संस्कृति-सभ्यता में वहाँ की परिस्थिति के अनुरूप पृथकत्व रह ही जाता है। अतः अन्धप्रज्ञा का आश्रय लेकर अविचारे अनुग बनना अनुचित है :—

'कोई दूसरा देश दूसरे की ठीक-ठीक नकल नहीं कर सकता। पूँजीपतियों और जमीन्दारों की ताकत प्रजा की शिक्षा, कृषि और व्यवसाय की उन्नति आदि के कारण पृथक देशों की परिस्थितियाँ पृथक् होंगी।'*

और कहना नहीं होगा कि भारत का समाजवादी दल ठीक रूस की हू-बहू नकल करता है। दूसरों को भी नकल करने को वाध्य करता है। जो वास्तव में भारत के उपयुक्त हितार्थ समाजवाद का प्रचार चाहता है, वह है जयप्रकाश नारायण। उसका प्रत्येक क्षेत्र का अध्ययन पूर्ण है। महान् से महान् उसने प्रयास किये हैं, कष्ट उठाये हैं, समस्त जीवन की आहुति उसने दी। अनुकरण प्रवृत्ति का वह भी विरोधक है। वही अन्तर सुभाष बाबू के दूसरे प्रकार का हो गया है। समाजवाद की स्थापना वे भी चाहते हैं। दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। जयप्रकाश बाबू समाजवाद में अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, साम्यभाव लेकर, परन्तु सुभाष के आगे सिर्फ स्वतन्त्रता का प्रश्न है। साम्य वैषम्य का नहीं।

इन पर उन्होंने शायद कभी सोचा ही नहीं। और क्षमाशील गम्भीर मानव वे नहीं कहे जा सकते। सम्पत्ति-साधन का उचित उपयोग भी नहीं जानते। जयप्रकाश बाबू इसका सदुपयोग अच्छी तरह जानते हैं। समाजवाद चाहता है, राजनीतिक अधिकार भी सहज ही में मुझे प्राप्त रहे। उसका यह

* समाजवाद, २४६ पृ०।

विचार कुछ हद तक अच्छा ही है। परन्तु आज जो राजनीति के दायरे में ही उसे रखना चाहते हैं वे कुछ भूल अवश्य करते हैं। सिर्फ का जहाँ प्रश्न उठा कि उसका यह मतलब हुआ कि सीमान्त रेखा में ही विचरो। राजनीति, सम्पति का उपयोग नहीं सिखा सकती। कहीं-कहीं वह पूँजीवाद को बल भी देती है। इस दृष्टि से समाजवाद के पक्ष में कहीं-कहीं हानिकर भी सिद्ध होगी। समाजवाद और अंगों को ठीक करे, तदनन्तर राजनीति के आधार पर भी विचार करें। सम्पत्ति सर्वमूलक परिस्थितियों को सँभालने की अपूर्व शक्ति रखती है; वह चतुर्दिश की व्यापकता का अर्थ जानती-समझती है। उसमें सर्व-कार्य-साधन की पूर्ण क्षमता है। राष्ट्रीय विचारधारा अपना पृथक् प्रतिकूल कार्य भी कर सकती है यदि उसके अन्नायक समाजवाद के सिद्धान्तों से अलग रहें। बाह्य उत्पादन-साधन यहाँ की सम्पत्ति-शक्ति को अपने यहाँ ले जाते हैं, इस शक्ति का अधिकांशतः वे ही उपयोग करते हैं। समाजवादी राष्ट्रीय उन्नायक एक पृथक स्वंय अपनी सरकार बना ले, और यदि वह सब साधनों को स्वागत या अधिकृत कर ले तो निम्नवर्ग की आत्मिक समस्याओं का सहज ही में हल हो सकता है।

इसके लिए जो नई समाजवादी राष्ट्रीय सरकार होगी, उसे सबके अधिकारों को हटाकर अपना सम्पूर्ण अधिकार रखना होगा। व्यवसाओं के प्रत्येक भाग पर आधिपत्य रखना होगा। निजी व्यवसायियों और विदेशियों के हाथ में आज जितने काम के साधन हैं, उन पर जब तक राष्ट्रीय सरकार अधिकार न कर ले तब तक वह भूखे लोगों को काम नहीं दे सकती। उस साधनों पर अधिकार करने के लिए राष्ट्रीय सरकार को खुद राष्ट्रीय भू-स्वामी, राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष और राष्ट्रीय व्यवसायी बनना होगा।* राष्ट्रीय व्यवसायिक सम्पत्ति का भाग समरूप से सभी कर सकते हैं। भारतीय समाजवाद में सम्पत्ति का मूलरूप प्रायः भूमि ही है। अब जब से यहाँ भी कल-कारखानों की वृद्धि हुई है तब से श्रम-द्वारा सम्पत्ति विकास की ओर अग्रसर हुई है। परन्तु द्वितीय सम्पत्ति में स्थायित्व नहीं है। इसने पूँजीपतियों का निर्माण अवश्य किया है।

भूमि ने जमीन्दारों की संख्या अवश्य बढ़ाई, और इसने पूँजीपतियों की। भूमि-सम्पत्ति अजेय है। इसके उत्पादन-साधन यद्यपि श्रम द्वारा ही आयोजित होते हैं; फिर भी दोनों श्रम में अन्तर है। भूखवाली समस्या का निदान, दोनों श्रम द्वारा होता है। सम्पत्ति की विभक्तावस्था दोनों के लिये एक ही प्रश्न उठाती है। परन्तु भूस्वामियों की प्रकृत्ति शोषण पर ही

---

*समाजवाद-पूँजीवाद, पृ० ७२

अवलम्बित है। वह अत्यन्त उग्र और कठोर है। नोच-खसोटकर दमन नीति से पीड़ित, शोषित दलितों से श्रम कराती है। मैनेजरों की प्रवृत्ति इतनी शोषक नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये कुछ मस्तिष्क से भी सम्बन्ध रखते हैं। और उन्हें जैसे इससे कोई मतलब नहीं। यद्यपि दोनों का स्वार्थ, लोभ घृणा है, पर अत्याचार-अनाचार से कम काम लेते हैं और जो अत्याचार है भी वह गुप्त है, भीतर मार के लिये। इसी सम्पत्ति को लेकर हमारे यहाँ साम्प्रदायिक युद्ध हो रहा है।

जाति व्यवस्था भी बड़ी उग्रता से अपना घातक कार्य किये जा रही है। साम्प्रदायिक समस्या भारत के लिये अति कठिन है। यद्यपि यह समस्या वस्तुतः धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक, आर्थिक लड़ाई है जो यदि हल हो जाय तो संसार के लिए भारत एकत्रीकरण का आदर्श हो जाय। हिन्दुओं के पक्ष में जाति-व्यवस्था, धार्मिक, राजनीतिक, और सामाजिक, आर्थिक स्वरूप में इतनी अग्रसर हो गई है कि इसमें अलगपन का सिद्धान्त एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से अलगपन के सिद्धान्त से कुछ भी कम नहीं है। जैसी व्यवस्था है हर एक अल्पसंख्यक-सम्प्रदाय, जातिरहित है। और वे जाति के सिद्धान्त को नहीं मानते।

स्वभावतः यह हिन्दू-समाज-व्यवस्था को एक धमकी है। सिख-सम्प्रदाय और ब्रह्म-समाज में जाति व्यवस्था नहीं है। शताब्दियों पहले भक्ति-प्रथा ने भी, जो समाज-सुधार का बीड़ा उठाया था, जाति-प्रथा को कुचलने की कोशिश की थी। जाति-प्रथा के नष्ट हो जाने पर साधारण जनता को दबाकर रखना सम्भव नहीं होगा और जिन लोगों को जाति को दबा देने से अधिक लाभ होता होगा, वे लोग अधिक क्षति-ग्रस्त होंगे। साथ ही साथ पुरोहित नष्ट हो जायगा। जाति-प्रथा नष्ट करने की धमकी ईसाइयों और मुसलमानों की समता के कारण और भी विशेष उग्र हो जाती है। आर्य-समाज का प्रयत्न हिन्दुओं की संख्या-वृद्धि की ओर जो हो रहा है उससे हिन्दुओं को सन्तोष नहीं है, क्योंकि आर्य-समाज भी जाति-प्रथा को नहीं मानता।*

सम्पत्ति सम्प्रदाय की विभिन्नता में छिन्न-भिन्न होकर रहती है। जाति-व्यवस्था भी अनुचित होने के कारण उसकी स्वाभाविक अवस्था में प्रतिकूल परिवर्त्तन लाती है। आंगिक क्रियाशीलता, प्रयोगशीलता में सम्पत्ति आधार-स्तम्भ का कार्य करती है। जीवन की संदीप्त में सहायिका सिद्ध होती है।

---

*Cyril Modak, India's Destiny, P. 63.

समाज की सीमा को हटाकर प्रशस्ति का चिह्न सामने खींचती है। प्रजावर्ग का हितैषी या उसका अनुकूल शासक, सम्पत्ति का सदुपयोगकर समाजवाद के सिद्धान्त में प्रौढ़ता लाता है, उसका चतुर्दिक प्रचार करता है। साधारण व्यक्ति सम्पत्ति का दुरुपयोग भी करता है, परन्तु नेतृत्व ग्रहण करने की शक्ति रखनेवाला व्यक्ति सदैव उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है। चूँकि प्रत्येक क्षेत्र में वह अद्भुत, अतुलनीय विकास चाहता है। विशेषकर समाजवाद की सामयिकता पर जोर देने के लिये और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सम्पत्ति की वह नितान्त आवश्यकता समझता है। और जबकि सर्वत्र उसके विरोधक हैं, वैसी दशा में स्वार्थ अधिकार की माँग के लिए जब युद्ध करेंगे तब उस सम्पत्ति की पग-पग पर उपयोगिता सिद्ध होगी। उसके जानते, समाजवाद जनवर्ग की प्राणदायिनी-शक्ति है। अतः इस शक्ति की रक्षा के लिये सदैव सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिये। चाहे वह जैसी भी हो, अन्न, जन ये सभी सम्पत्तियाँ रहनी चाहिये।

मानव-जीवन की कर्मठता पर अधिक जोर देने के लिये भी इसकी सख्त जरूरत है। इसे एक प्रकार से सर्व-साधिका समझनी चाहिये। एकता या सबको एक सूत्र में बाँधने के लिये लेनिन ने प्रचुर प्रयास किया, इसलिये कि ऐक्य भी एक बड़ी विशेष सम्पत्ति है। विचारों के केन्द्र-विन्दु पर जीवन का मोल बहुत बड़ा उतरता है। परन्तु साम्राज्यवादी सदस्य ने इस प्रकार जीवन को विभक्त कर दिया है कि लगता है, मानव-जीवन के प्राण पृथक-पृथक हैं, उसके रक्त पृथक हैं। मध्यवर्ग के जीवन, प्राण, रक्त पर भी पृथक-पृथक अग्रसर हुए हैं। अत्युच्च शिष्ट-वर्ग में उपर्युक्त दोनों से कोई तुलना नहीं। परन्तु समाजवाद सब के जीवन, प्राण, रक्त को एक ही सा मानता है।

सबकी इच्छायें या मनोदशायें एक हैं। परन्तु भारतीय समाजवाद के आगे इनका बड़ा विकट जटिल प्रश्न है। जिसके उत्तर के लिये दूसरे समाजवाद का मुँह जोहना बेकार, व्यर्थ, सिद्ध होगा। चूँकि रूस ही का समाजवाद क्यों न हो, उत्तर देने में समय कदाचित् लग ही जायेगा। जाति-व्यवस्था के विषय में, जिसमें पृथकत्व अधिक है, व्यक्ति-व्यक्ति का मत-भेद है। धर्मगत संस्कार, कर्म, रूढ़ि ये सब इतने सुदृढ़ हैं कि बाह्य समाजवाद की जड़ इनके लिये घातक सिद्ध होगी। रूस ने धर्म, जाति, संस्कार, रूढ़ि, इन सबका कभी प्रश्न नहीं उठाया, न इसकी जरूरत समझता है। परन्तु प्रत्येक पग पर यहाँ इनका प्रश्न उठेगा, जिनका उत्तर न पाने पर अनर्थ की आशंका उठ खड़ी होगी।

इनकी रक्षा में ही वस्तुतः यहाँ की उन्नति भी है। संस्कार में परिष्कार हो सकता है, रूढ़ि में सुधार, कर्म में परिवर्त्तन, जाति में एकता, धर्म का परिवर्त्तित रूप होने पर भी उसके स्वत्व की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनका समूल उन्मूलन, अधिकांश भारतीय शायद ही चाहें। और समाजवादी सदस्यों को चाहिये भी नहीं, इन्हें उखाड़ फेंकना या इनकी अनुपयोगिता सिद्ध करना। यदि ऐसा करेंगे तो निश्चय है, सफलता पाना, कठिन हो जायगा। भारतीयता की प्रत्येक सामग्री की उन्हें रक्षा करनी होगी, विनाश नहीं। संस्कृति, सभ्यता, जाति, धर्म सबके लिए भारतीयों का दृष्टिकोण माननीय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। निश्चयात्मक दृष्टि से देखने पर व्यक्ति इनमें संभव है, कुछ न प्राप्त कर सके, पर गम्भीरावलोकन पर इनकी पृथक्-पृथक् महत्ता या सत्ता महत्व रखेगी। प्रगतिशीलता की आड़ में इनका ध्वंस नहीं हो सकता। समाजवाद के सिद्धान्त की समस्त भित्ति इन्हीं पर टिकी है।

समाजवादी साहित्य निर्माण करने वाले सस्ती भावुकता प्रदर्शित कर, अपनी बुद्धिमत्ता नहीं प्रकट करते, मूर्खता ही। चूँकि यह भावुकता किसी भी परिस्थिति का परिचय नहीं दे सकती। सच्ची अनुभूति, साहित्य की विभूति है, सम्पत्ति है, इसकी विशिष्टता उन्हें स्वीकार करनी होगी। साहित्य की यह बाह्य सम्पत्ति नहीं, आन्तरिक सबल सम्पत्ति है, इस पर उन्हें ध्यान देना ही होगा। जीवन और उसके निगूढ़ तत्त्व का प्रतिष्ठापन समाजवाद में होगा तो बाह्य और आभ्यन्तरिक सम्पत्ति संजीवनी-शक्ति प्रदान करेगी, साहित्य में।

खोखलापन को लेकर, सर्व-वर्ग-निमित्तक समाजवाद का अध्ययन, अनुभूति का आधारभूत 'सम्पत्ति' को त्याग कर बाह्य कृत्रिम उपसामग्रियों से युक्त समाजवाद की स्थापना अहितकर ही बताएगा। बङ्गीय ब्रह्म-समाज ने कुछ दिनों तक रायमोहन के पूर्व इन्हीं उपसामग्रियों का प्रयोग किया, फलतः वहाँ भयङ्कर उथल-पुथल मची।

यद्यपि यह सर्व-वर्ग निमित्तक समाज नहीं था फिर भी इन सामग्रियों की उसमें खपत न हुई। एकाङ्गिकता में भी कृत्रिम 'शो' युक्त अव्यवस्थित सामग्रियों की कहीं भी, किसी ओर भी उपयोगिता सिद्ध करने के मार्ग नहीं दीखते। जाति-व्यवस्था का प्रश्न दूर फेंक दिया गया था, जो पीछे ज़ोर देकर उठा; उस समय समाज के बीच दीवार खड़ी हुई। उसमें छुट-पुटे व्यक्ति बिहार में भी फैले या अन्यत्र भी, पर आरम्भ में ही उसकी सुदृढ़ नींव न पड़ी, उसकी व्यवस्था ठीक न हुई, अतः सफलता में सिद्धि नहीं ही प्राप्त हुई।

उसी प्रकार यदि आरम्भ में उसकी व्यवस्था में दोष ही रहा तो आगे उसका निपटारा नहीं हो सकता। भारतीय जन, द्रव्य-सम्पत्ति से अधिक सत्य पर अवलम्बित यथार्थ आदर्श, ढोंगरहित धर्म, मार्ग प्रदर्शक संस्कार-सम्पत्तियों का अधिक महत्व देते हैं। उनके जानते, इसी की रक्षा के लिए उनका जीवन है। यद्यपि आधुनिक मध्यवर्ग पूर्ण रहने पर भी इन सम्पत्तियों की रक्षा पर ध्यान नहीं दे रहा है, पर सैकड़े अभी पच्चासी इन सम्पत्तियों की रक्षा के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं, और जब इस युग में भी वे इनके विरुद्ध में अधिक कुछ नहीं कर सके तो शायद आगे एकदम उनसे कुछ नहीं होगा।

समाजवाद में इन सम्पत्तियों की रक्षा हुई तो भारत में उसकी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कोई आरगूमेण्ट ढूँढ़ने की जरूरत न होगी। मानवता का प्रचार करने की आवश्यकता न होगी। वर्ग-संघर्ष न होगा। स्वामी, मैनेजर, कृषक, मजदूर किसी में विभिन्नता न रहेगी। उचित कर्त्तव्य-पालन में मानवता की रक्षा के साथ-साथ सम्पत्ति की भी रक्षा को नहीं भूलना चाहिये। चूँकि सम्पत्ति की रक्षा होगी तो मानवता की रक्षा सहज ही में हो सकती है। जीवन की सम्पत्ति, मानव की सम्पत्ति का मस्तिष्क है, ज्ञान है, इसके उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। द्रव्य-सम्पत्ति इसके विकास में भी सहायता कर सकती है। परन्तु कहीं-कहीं उसका अपव्यय हो जाता है। श्रमिक वर्ग के पास अभी इतना ज्ञान नहीं है कि वे सम्पत्ति का उचित उपयोग कर सकें।

इस समय सब से पहले सम्पत्ति द्वारा भूख की ज्वाला को शान्त करेंगे। इसके लिए वे अधिक आकुल-व्याकुल हैं। परन्तु कृषक-श्रमिक, भूमि-सम्पत्ति का उपभोग, उपयोग दोनों जानता है, परन्तु दोनों में से किसी का उसे अधिकार नहीं प्राप्त है। जमीन्दार लगान की एक-चौथाई को भी माफ कर दे, तो उन्हें शान्ति मिलेगी, कम से कम उनका पेट भर जायगा। उपभोग नहीं कर सकते, न उन्हें इसकी कोई विशेष इच्छा ही है। वे जानते नहीं हैं कि कर्मठता क्या है, पर सच्चे अर्थ में वे कर्मठ पुरुष हैं। त्याग, तप, बल उनके जीवन में पूर्ण हैं। किन्तु इस प्रकार दीन-हीन जीवन उन्हें बिताना पड़ता है कि उनका उपभोग करने का भी अवसर नहीं प्राप्त होता। ज्ञान का अंकुर उत्पन्न करने के लिए पहले किसी ने प्रयत्न नहीं किया, फलतः इससे वे कोसों दूर रहे। आज जब बाह्य परिस्थितियों का उन्हें परिचय प्राप्त हुआ, कर्त्तव्य-पालन का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होने लगा तो शिक्षा-सम्पत्ति, द्रव्य-सम्पत्ति का एकदम अभाव होने के कारण, वे कुछ कर नहीं पा रहे हैं।

समाजवाद की क्रियायें यदि उनका साथ दें, तो सफलता मिलने की सम्भावना है। समाजवाद इन सब श्रमिकों के श्रम द्वारा सम्पत्ति का संग्रह करे, और उन्हीं में उसका उपयोग करे। अन्यथा उसे भी अपने सिद्धान्तों की रक्षा में कदाचित ही सफलता प्राप्त हो। परन्तु सम्पत्ति-संग्रह का यह अभिप्राय नहीं कि श्रमिकों की उदर-पूर्त्ति भी न हो। सर्वप्रथम उनके श्रम का मूल्य उदर-पूर्त्ति है, इसके बाद मानवीय इतर गुणों का भी उनमें समावेश होना चाहिये। भूख की चिन्ता से मुक्ति पाने के पश्चात् वे श्रम अधिक क्या बहुत अधिक करेंगे, फलतः समाजवाद को सम्पत्ति की वृद्धि की चिन्ता न करनी पड़ेगी या उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। और इस संग्रह से उन्हें ईर्ष्या, घृणा भी न होगी। वे समझने लगेंगे, समाजवाद के लिए और मेरे लिए भी यह आवश्यक है।

---

३. मार्क्सवाद की सर्वमूलक व्याख्या

मार्क्सवाद के दार्शनिक आधार

आध्यात्मिक जीवन-यापन के लिए मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, ईश्वर का अस्तित्व, सब को स्वीकार करना होगा। दर्शन, मनस्थिति का मापक तथा बुद्धि के स्थल-विकास का साधन है, इससे कोई परे नहीं रह सकता, किन्तु सृष्टि की विभक्त क्रियाओं का परिणाम, जो व्यष्टि-समष्टि का कार्य-कारणारोप करता है; अपनी विलक्षणता का परिचय देने का मनुष्य को अवसर नहीं देता। जीवन-तन्तु के हमेशा उलझे रहने के कारण मानव अपने जीवन-दर्शन पर अधिक नहीं विचार सकता। विचारक, जो अब तक साधारण परिस्थितियों का दिग्दर्शन करा सके हैं, उसमें दार्शनिक उच्चतम, शिष्ट सिद्धान्तों के विश्लेषण का सर्वथा अभाव रहा है। संस्कृति-सभ्यता को इष्ट महान अंग मानकर जो जीवन-तत्व के पोषक-दार्शिनक हुए, वे अवश्य उच्च विचारों को वाणी में गूँथ कर मान्य तात्विक सिद्धान्तों पर स्थित किया।

इस प्रकार के दार्शिनक भारतीय मान्यताओं के आधार पर चले, किन्तु सांसारिक गति की तीव्रता की परख में कुछ के मतानुसार उन्होंने भूलें की, मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं। साधारण नियमों के निर्माण भी दर्शन के आधार पर हुए जो भविष्य को सफल प्रशस्त मार्ग पर ले चलने में पूर्ण सिद्ध हुए। लौकिक विचारों की व्याख्या में सर्वत्र मानव की अनुकूलता पर ध्यान दिया।

सार्वभौम कल्याण के लिए अपने ठोस सिद्धान्तों का प्रचार करना, अपना श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझा। वर्गिक अन्तर या विभिन्नता का प्रश्न लेकर दर्शन को उलझाया नहीं, व्यक्ति को दर्शन में नहीं बाँधा, समस्त संसार के सम्पूर्ण मानव के लिए उन्होंने अपने मूलगत दर्शन-तत्वों को स्थिर किया। जीवन को पृथक् नहीं स्वीकार किया, दर्शन के अंगों के रूप में इसे स्वीकार किया। मानव की प्रवृत्तियाँ, मानव के कर्त्तव्य, मानव के उद्देश्य, सिद्धान्त सबकी तार्किक और स्वाभाविक, सत्य व्याख्या करने के सदैव वे पक्ष में रहे फलतः अपने भी उसी श्रेणी के हैं, जिसमें दूसरों का रहना उनके लिए इष्ट था। समाज के विधान भी दर्शन पर ही अवलम्बित रहे, परन्तु धीरे-धीरे बौद्धिक ह्रास एवं

आध्यात्मिकता का अभाव एवं संस्कृति-सभ्यता के शीघ्र-शीघ्र क्षणिक परिवर्त्तन ने उनके वास्तविक ठोस दर्शन-विश्लेषण में निर्बलता ला दी। भौतिक महत्ता का अर्थ आडम्बर के रूप में स्वीकार किया गया, और आधुनिक भौतिकवाद, जो पाश्चात्य की अनुकृति मात्र है, की क्रियात्मक सत्ता को सबल स्वीकार किया गया। पूर्वीय-दर्शन इतना गम्भीर और महत्व-पूर्ण था कि 'अरस्तू' को भी उसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु यहाँ भारतीय आधुनिक विद्वान इसकी मूल भित्ति को अदृढ़ बनाने, सिद्ध करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

यहाँ का दर्शन, आदि-भौतिकता की श्रेष्ठता स्वीकार करता है, मानव की प्रत्येक गति-विधि का उसे इतना अधिक सत्य ज्ञान है कि उसके स्वरूप-निश्चय में कहीं भी कोई भूल दिखाने की किसी में सामर्थ्य नहीं। उसका आधार भी यहीं का है, उसके मूल में भारतीय दृष्टिकोण सन्निहित है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति इतनी प्राचीन है कि दूसरों की अनुकृति का उसे अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। मानव के विकास के अनुसार स्वार्थ-प्रकृति बढ़ती गई और परिणाम में श्रेणियाँ, वर्ग, विभाजन निर्मित होते गये। युद्ध का प्रसार होता गया, मनुष्य के निवेश-उपनिवेश में भी अन्तर पड़ता गया. उसीके अनुसार देश, समाज-जाति की विभिन्नता, विच्छिन्नता बढ़ती गई, और और पृथक-पृथक् प्रांत-विप्रान्त, देश-विदेश निर्मित हुये। परन्तु इतिहास के प्रथम पृष्ठ के आधार पर सबको समान रूप से स्पष्ट ज्ञात है कि भारत कहाँ तक अपनी अति प्राचीन सनातनता का आंशिक अंग है. अनन्तर दूसरे देशों का नाम आता है, अतः अनुकृति का दूसरों को अवसर मिला, इसे नहीं। यही कारण है कि इसकी मौलिकता के आधार पर अन्यों ने अपने उपयुक्त समाज का स्वरूप निश्चय किया, सिद्धान्त स्थिर किया। बौद्धिक विकास इतना चरम पर पहुँच गया था कि प्रत्येक विद्वान को दर्शन का पण्डित होना आवश्यक समझा जाता था। मानव-जीवन को व्यावहारिक बनाने के अनेक दार्शनिक सूत्र प्रचल होते थे।

इसकी प्रत्येक स्थितियाँ दर्शन और मनोविज्ञान की तुला पर तौली जाती थी, फिर भी अस्वाभाविकता नहीं थी। जिस प्रकार सृष्टि और मानव एक सम्पूर्ण कहानी है, उसी प्रकार इनके सब निर्माण और आधार-आधेय दार्शनिक हैं। प्रकृति का प्रत्येक प्रान्त, संसार की सम्पूर्ण कृतियाँ चाहे विकृतियाँ ही क्यों न हो, वे दर्शन के विश्लेषण में महत्वपूर्ण अंग मानी गई हैं। पञ्चतत्त्व के विचार, दृष्टिकोण मानव की दार्शनिक प्रकृति का ही परिचय

दे रहे हैं। गम्भीरता अधिक है, इसलिए इससे कोई लाभ न उठा सके यह दूसरी बात है, परन्तु इसके लिए वही निम्नस्तर पर आये, यह आवश्यक नहीं। अपनी बौद्धिक निर्बलता, प्रतिशब्द में मूर्खता की अधिकता के कारण कोई उन प्राचीन पूर्वीय सांस्कृतिक दर्शनों को नहीं समझने की वजह उसे अव्यावहारिक एवं निकृष्ट सिद्ध करे तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वही दोषपूर्ण है।

भाष्यकार पातञ्जलि के सुदृढ़ दार्शनिक विचार तो मानव के आत्मिक-विकास के अच्छे सोपान हैं। और इनकी मौलिकता के विरोध में किसी की आवाज नहीं उठ सकती। अनुभूति का कहीं प्रश्न नहीं उठता। मनस्मृति के नियम विवेचन, धार्मिक-विश्लेषण में सभी मानव-जीवन की दार्शनिक-समष्टियाँ हैं, हिन्दू-धर्म की मनोवैज्ञानिकता इन्हीं से सिद्ध हो सकती है। इनका गर्व-गौरव, अहं, त्वम् निज: अपरः, इदम्-एतत्, तत् की तात्विक व्याख्या मानव को एक कल्याणकर शिक्षा देती है। इस प्रकार के ज्ञान देने वाले अन्य दर्शनों में सामर्थ्य नहीं।

समाज की विधियाँ बनाने के लिये जो मार्ग प्रदर्शित किये गये हैं, उनके दार्शनिक आधार मान्य हैं। मनुस्मृति के प्रत्येक श्लोक, उपनिषद् की सूक्तियाँ दर्शन के अवगुंठन, आडम्बर में नहीं स्थित हैं, दूसरों ने दर्शन को इस प्रकार के विचारों, सिद्धान्तों में बाँध दिया है। परन्तु भारतीय विद्वान, प्रौढ़ दार्शनिक इस दोष से सर्वथा वञ्चित रहे। उनकी मान्यतायें इतनी सबल और मानव सुमुदाय के लिये हितकर थीं कि दूसरों को अनुकृति के लिये विवश होना पड़ा। उनके प्रत्येक प्रदर्शित मार्ग अनुकरणीय प्रमाणित हुये। जीवन की सत्ता की विरोधात्मक प्रवृत्तियाँ कुछ का कुछ दिखाने के लिये आईं किन्तु दर्शन ने उन्हें आत्मसात कर लिया, और अपने अनुकूल चलने को विवश किया।

विदेशियों ने इनके विरोध-स्थल में एक जगह इस पर अधिक कहा कि ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने का भारतीय दार्शनिकों ने मूर्खतापूर्ण प्रयास किया है, बुद्धि की प्रधानता पर ईश्वर के अस्तित्व को छोड़ देना चाहिये था। परन्तु यहाँ वे भूलते हैं कि धार्मिक आधार की सबलता के कारण ही उन लोगों ने ऐसा किया। धर्म की प्रबलता में ईश्वर की सत्ता या अस्तित्व स्वीकार किया गया है। धर्म के साधारण अर्थ धारण करना की व्यापकता को वे हटा नहीं सकते थे। जीवन-दर्शन का सा धारण अर्थ या सिद्धान्त मार्क्स को भी स्वीकार है। महान् अन्तर यहा हो जाता है कि ईश्वर-अनीश्वर की व्यवस्था से भी वे औरों की तरह दूर भागने में ही सफल हुये हैं।

जीवन के जो प्राण तत्व हैं, वे भौतिकवाद के पोषक-तत्व हैं, कहने वालों के विरोध में भारतीय दर्शन है। जीवन-रक्षा के प्रश्न के उत्तर में जो भारतीय दर्शन के मत हैं, वे कुछ मर्क्स के दर्शन से मिलते-जुलते हैं। उनके भी दर्शन भविष्य के निर्माण में भूल नहीं कर सके हैं। यहाँ भारतीय-दर्शन समता स्वीकार की जा सकती है, किन्तु अन्धप्रज्ञा या अपनी अज्ञता की सूचना देने के लिये हम यह नहीं कह सकते कि मार्क्स की अनुकृति के आधार पर यहाँ का दर्शन अवलम्बित है। अनुभव-अध्ययन के साथ-साथ पुस्तकी अध्ययन भी मार्क्स का प्रशंसनीय था। सर्वत्र की परिस्थितियों का ज्ञान कर ही उसने कुछ स्थिर किया, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु भारतीय दर्शन की अपेक्षा उसने आधुनिक भौतिकवाद के सिद्धान्त स्वीकार किये हैं, जो अव्यावहारिक एवं अस्वाभाविक हैं।

कुछ का भारतीय दर्शन पर यह आरोप है कि वह आकाश-पथ गामियों के लिये ही अनुकरणीय है, धरती पर चलने वालों के लिये नहीं, परन्तु यह आक्षेप एक उपहास मात्र है। मार्क्स के जीवन-दर्शन की यथार्थता उसमें भी व्याप्त है। भारतीयों का जीवन-दर्शन अपने आप में पूर्ण है, अन्य देशों के सिद्धान्तों ने अति यथार्थता प्रदर्शित करने के लिये उसके स्वरूप को विगाड़ दिया। जनबल के अनुपात से जीवन-दर्शन को मार्क्स ने स्थिर किया है, और यह जीवन-दर्शन सबके लिये अनुकरणीय नही प्रमाणित हो सकता। परिश्रम पूर्वक अध्ययन नहीं करने के कारण, सस्तापन के लिये इस दर्शन का प्रचार भारत में भी लोग इसलिये चाहते हैं कि उसे अपनाने के लिये प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ के दार्शनिक विचारों में अन्य दर्शन के विचारों के साथ समता होने पर कुछ लोग यह भी कहते हैं यह अन्य दार्शनिक-विचारों की अनुकृति पर पला है।

ऐसा कहने वाले लोक के शब्दों में विद्वान अवश्य हैं, किन्तु प्रचारशास्त्र के ज्ञाता होने के कारण वे जान गये हैं, आधुनिक युग में मनुष्य तभी अपने विचारों को दूर तक फैला सकता है, जब अधिक आक्षेपपूर्ण विलक्षणता पूर्वक कोई बात कह देता है। परन्तु उनका यह वास्तविक ज्ञान लुप्त हो गया होता है कि प्रचारशास्त्र इतना अस्थायी, इतना अस्थिर है कि किसी भी अपने अनुग को क्षण में ही ध्वस्त भ्रस्त कर सकता है। अलङ्कृत असत्य बातों को कहने वाला कभी इस संसार में नहीं टिक सकता। उसके सिद्धान्त में बल नहीं रह सकता। विश्व के आगे उसे हार स्वीकार करनी होगी, यदि अपनी हार उसने

न भी स्वीकार की, गर्व की प्रबलता के कारण, तब भी हेय उपेक्षणीय अवश्य होना पड़ेगा। अस्तित्वरहित हो उसे जीना होगा।

यद्यपि वर्त्तमान युग उसका पोषक या समर्थक होगा, किन्तु झूठ के विकास पर पला यह युग स्वयं निर्बल और महत्त्वरहित है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इसके साथ हम चलें नहीं। सर्वत्र की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, असत्य-सत्य को मापने के लिये, सच की आँखें प्राप्त करने के लिये, इस युग के साथ चलना होगा, परन्तु अपने को खोकर नहीं, अपनी रीढ़, अपनी नींव का ख्याल रखना चाहिये। दूसरों की अनुकृति में अपने को खोने की सम्भावना अधिक है। यह समझे बैठना कि वर्त्तमान युग विकास का केन्द्र है, गलत है, एक ऐसी हवा में हम बह रहे हैं जो हमारे अपने को विनष्ट करने पर तुला है। प्रचार के लोभ में पड़कर ही किसी भारतीय विद्वान ने यहाँ के दर्शन के विषय में लिखा है :—'भारतीय दर्शन ग्रीक दर्शन पर अवलम्बित है।'

इसके प्रमाण के लिए आरगूमेण्ट भी दिये हैं, किन्तु तर्क और कोटेशन के बल पर किसी की अवास्तविकता नहीं सिद्ध होगी। ऐसा भी समय आ सकता है क्या आयेगा जो ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न करेगा, जो भारतीय दर्शन का वास्तविक सत्य ज्ञान प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ होगा, वैसी दशा में प्रचारशास्त्र की स्थिरता, सत्यता का पोल खोलेगी। अस्तु, मार्क्स के सामाजिक-विधान में जो दर्शन-सिद्धान्त का काम करते हैं, वे अपनी दृष्टि में सर्वथा अनुकूल एवं मान्य हैं। सर्वसाधारण की वहाँ तक पहुँच बड़ी सुविधापूर्वक हो सकती है। ईश्वर में आस्था-अनास्था के विश्लेषण में अवश्य उनके दार्शनिक विचार भारतीयों के लिए त्याज्य हैं।

रूस की स्थिति सुलझाने में भले ही उन्हें सफलता प्राप्त हो जाय, किन्तु यहाँ की किसी क्रिया के लिये अनुकरणीय नहीं प्रमाणित हो सकते। मानवता की व्याख्या में वर्त्तमान रूस के वर्ग को सन्तोष प्राप्त हो सकता है, परन्तु भारतीय मानव की परिस्थितियाँ उससे सर्वथा भिन्न हैं, अतः उसकी व्याख्या, इनके लिये असङ्गत होगी। आध्यात्म के इस निरपेक्ष्य में जहाँ उन्होंने व्यक्त किया है, आत्मा-परमात्मा का साम्बन्धिक संयोग व्यर्थ और भ्रान्तमूलक है, वहाँ मानव के मनोविज्ञान पर सस्ती दृष्टि डाली है।

शाब्दिक अर्थ मात्र की दृष्टि में भी आत्मा-परमात्मा का संयोग सापेक्ष्य है। हृदय की सजग अनुभूतियाँ मस्तिष्क की उपज-शक्तियाँ, आन्तरिक-ज्ञान, ये सभी आत्मिक अंग हैं, जिनका आत्मा से गहरा सम्बन्ध है। प्रेरकविचार

के उद्वेलित होने पर मानव का यह स्वाभाविक गुण हो जाता है कि वह अपने किसी निष्कर्ष पर पहुँचने को विवश हो। साधन का अभाव उसे और अस्थिर, डाँवाडोल परिस्थिति में ला छोड़ता है। आत्मा की सूझ ही उस समय उसे ऐसे ज्ञान-प्रकाश में ला सकती है, जो साधारण स्तर पर भी सन्तुष्ट, और स्थिर रखने में सक्षम होगा। समय का ज्ञान करा कर उचित दिशा की ओर प्रवाहित कराने के उसके पास अनेक साधन हैं। परन्तु विश्वास-बल की दृढ़ता रहनी चाहिये।

भौतिकवाद के सिद्धान्त के समर्थकों में आत्मा के प्रति विश्वास या निष्ठा नहीं है, फलतः आत्मा की कोई क्रिया इनके लिये प्रयास नहीं करती, जिसकी वजह परिस्थिति की असत्य परिधि में वे मड़राते हुये एक दिन अस्तित्वरहित जीवन-यापन करने के लिये विवश होते हैं। अपने को समझने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि आत्मा के हाँ-ना, हमें किधर ले जाते हैं। हठ, जिद की सबल शक्ति के आधार पर प्रतिकूल को अपने अनुकूल बनाकर एक की ओर हम अग्रसर होंगे, तो असफलता हाथ आयगी। गम्भीरतापूर्वक आत्मा निश्चित सङ्केत पर अपने को अनुकूल मार्ग पर ले चले तो सफलता के लिये शायद प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ सकती है। परमात्मा को अज्ञात नाम से अभिहिकतर आत्मा के विचार-सामञ्जस्य पर ध्यान देंगे तो एक निश्चित मार्ग पर पहुँचेंगे। व्यक्तिगत आक्षेपपूर्ण स्वतन्त्रता की क्रियायें साथ नहीं देंगी। आत्मा-परमात्मा की भावना प्रत्येक क्षति को रोकने का ज्ञान देगी। अस्वाभाविक और असत्य, त्याज्य वातावरण की ओर अग्रसर होने से वह बचायगी। व्यक्तिगत पूर्ण स्वतन्त्रता, इन्द्रीय सुख-प्राप्ति के लिये अधिक उद्वेलित करती है। पतन, गर्त्त, अन्धकार, विनाश की वह निर्माण-सामग्री है। अपनी प्रत्येक पूज्य इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये विवश करती है। परन्तु आत्मा-परमात्मा का संयोगिक ज्ञान इतनी पूर्ण अस्वाभाविक स्वतन्त्रता नहीं देता, जिससे वह अपने को सँभालने में असमर्थ हो।

वर्त्तमान वातावरण में चरित्र बल की उतनी महत्ता नहीं जितनी होनी चाहिये। यह कर्म, सिर्फ कर्म के लिये प्रेरित करता है। चरित्र-बल का कर्म के आगे कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। इन्हीं की इच्छाओं की पूर्त्ति का मानव को वह व्यक्तिगत अधिकार देता है, परन्तु सत्-कर्म का ज्ञान दिलाने में आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध ही सहायक होता है। एक सीमा में रहने को सिखाता है, ऐसी सीमा नहीं जो ज्ञान की गति को रोकती है। पूर्ण स्वतन्त्रता स्वार्द-प्रवृत्ति को जगाती है, लोभ अति उत्तम आकांक्षा और मात्सर्य का आवेग

करती है, जो दानवीय-प्रकृति की पोषिका शक्ति हैं। जीवन को जीवन बनाने में सहायक नहीं सिद्ध हो सकती। धार्मिक प्रकृति का प्रयोग हम नहीं जानते, अतः उसकी निष्प्रयोजनता सिद्ध करते हैं। मनोविज्ञान के विचारानुसार धर्म, मानव का तात्विक विश्लेषक है।

इसकी उपेक्षा करने पर मानव में मानवता का सञ्चार नहीं हो सकता। प्रश्न हो सकता है, विदेशीय मानव इसकी उपेक्षा करने पर सभ्य मानव शब्द से सम्बोधित नहीं हो सके? चतुर्मुखी प्रतिभा के बल पर प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने उन्नति और सफलता नहीं प्राप्त की? उत्तर होगा, उनके जितने भी विकास हैं, धर्म, ईश्वर-सत्ता की उपेक्षा पर ही नहीं हुये। इसका कोई प्रमाण नहीं कि इनकी उपेक्षा करने वालों ने ही सब उन्नतियाँ कीं। अपने को वाद के प्रदर्शन में सम्मिलित करने के लिये उनमें से कुछ ने अपने को अधार्मिक और अनस्तित्व को मानने वाला घोषित कर, वैसे अनेक कर्त्तव्य किये, जिनसे ज्ञात हुआ, वे अधार्मिक होकर उन्नति कर सके। परन्तु उनकी आन्तरिक स्थिति को मापने का ऐसा कोई यन्त्र है नहीं है, जो बता सके बाह्य आधार ने उनका कहाँ तक साथ दिया। और आन्तरिक क्रिया-बल ने कहाँ तक।

प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक परिस्थिति में मानव का आन्तरिक विचार ऐसी वैसी भावना को स्थान देता है, जो स्वाभाविक और सत्य होती है। आन्तरिक ज्ञान ईश्वर-सत्ता को कम से कम कुछ देर के लिये भी अवश्य स्वीकार कराता है। मार्क्स ने वर्ग को ऐक्य का ध्यान देने के लिये यह आवश्यक समझा कि मानव-धर्म ईश्वर से दूर रहे। अत्याचार के अति से पीड़ित होने के कारण साधारण जनता ने इस सिद्धान्त को सिर्फ़ मान लिया, इसमें उनकी मूढ़ता ने अधिक कार्य किया।

ऊपर के उनके नेता शिक्षित और बुद्धि पर पले थे, अतः विश्वास की भावना भर दिया, तुम्हारे कल्याण के लिये ही हम सब कार्य करने जा रहे हैं, अतः हम जो कुछ कहें, स्वीकार करना चाहिये। ऊबी हुई मजदूर-जनता के पास कुछ भी सोचने की न शक्ति थी न फुर्सत। उनकी सफलता के कारण मार्क्स के ये दार्शनिक सिद्धान्त नहीं हैं, और कई विधियों एवं प्रेरणाओं के परिणाम में उन्हें सफलता मिली। आर्थिक, सामाजिक, दृष्टिकोण में जहाँ मार्क्स की मनोवैज्ञानिक क्रिया ने अपनी शक्ति दिखाई है, वहाँ स्तुत्य या प्रशंसनीय है। जीवन-रक्षा के लिये व्यवहार-जगत की शरण लेने की बुद्धि का ज्ञान होना जहाँ अनिवार्य बताया है, वहाँ भी धर्म, रूढ़ि-परम्परा के विरोध पर उन्होंने जोर दिया है। साम्यवाद की बौद्धिक क्रिया पर ही उन्होंने बल-

पूर्वक कहा है। बुद्धि यदि विनाश को भी मानव का विकास-स्थल निर्दिष्ट करे तो उसके अनुसार उसे स्वीकार कर लो, यह मार्क्स का बुद्धि-प्रधान दर्शन उद्घोषित करता है।

वर्ग-संघर्ष को उत्तेजित करने के निमित्त जो साहित्यिक हुंकृतियाँ हुईं, वे सैन्यबल को सुदृढ़ बनाने में अवश्य सहायक हुईं, परन्तु मानवीय स्थिति को सुधारने में वे सहायक नहीं हुईं। सभी उच्च, शिष्ट के विरोध के लिये धार्मिक व्यवस्था की जड़ उखाड़ फेंकने पर भी उनकी कोई विशेष हानि नहीं हुई, ऐसा कहना अनुचित है। चूँकि वर्त्तमान क्रिया के परिणाम में जो हानियाँ होती हैं, वे शीघ्र वैसा कुछ नहीं दिखाती हैं, जिससे मानव समझ जाय कि यह मैंने किया, जिसके परिणाम में ऐसी हानियाँ हुईं। भविष्य में ऐसा अवसर उपस्थित होता है, जो पूर्ण होने पर भी एक अपूर्व अभाव की उत्पति करता है, जिसकी पूर्त्ति का साधन, शक्ति रहने पर भी नहीं प्राप्त होता। अधिक सम्भव रहता है, अतीत की क्रिया के परिणाम में इस अभाव की सृष्टि समझ शक्ति की सूझ, स्मृति दिलाने में विशेष सहायता नहीं करती, फलतः हानि का कारण भी विदित नहीं होता। अतः यह कहने का हमें अधिकार नहीं प्राप्त है कि धर्म, ईश्वर-सत्ता की उपेक्षा के परिणाम में हमारी कोई हानि नहीं हुई। सम्भव था, इनकी नहीं उपेक्षा करने पर वे वर्त्तमान से और अधिक उन्नत अवस्था को प्राप्त हुये होते। उनकी आवश्यकता एकदम नहीं रहती, किसी भी विघ्न-बाधा का अवसर नहीं आता।

मेशीन की उन्नति में परिश्रम का उपयोग सराहनीय है, परन्तु सामाजिक जीवन-यापन करने के लिये और वास्तविक मानवता के घर में बसने के लिये किसी धर्म-अवलम्ब की भी आवश्यकता थी। परिश्रम के मूल में मार्क्स के विचार जो अर्थ से सम्बन्ध रखते हैं, दर्शन के किसी पथ का समर्थन नहीं करते। यहाँ उनके दार्शनिक सिद्धान्त एक क्रान्तिपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हैं, जो आडम्बरता को ग्रहण करने के लिए निम्न वर्ग को उत्साहित करता है।

मार्क्स जहाँ गम्भीर दार्शनिक था, वहाँ साधारण सामाजिक व्यवहार में भी चतुर। बाह्य ज्ञान की अधिकता थी। परन्तु कहीं-कहीं उनके व्यावहारिक दार्शनिक सिद्धान्त प्रयोग के लिये अनुचित हुये। अधिकांश का कहना है, उनके जो कोई भी सिद्धान्त थे, व्यवहार पर ही आधारभूत थे, किन्तु सर्व-साधारण का जब उपयोग काल आया, तब अव्यावहारिक भी प्रमाणित हुये हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि केवल विचारक थे न थे, कर्म को

प्रधानता स्वीकार कर विचारों को प्रयोग में भी लाते थे। विश्वास और दृढ़ता पूर्वक निष्कर्ष पर प्राप्त विचारों को जनता के आगे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते थे। व्यावहारिक ज्ञान के लिये अनिवार्य रूप से जनता को प्रेरित करना प्रत्येक नेता का श्रेष्ठ कर्त्तव्य है, ऐसा हमेशा के लिए उनकी अपनी उक्ति थी। अपने दार्शिनक दृष्टिकोण को शब्दों के आडम्बर में बाँधने के प्रयास को, आत्म गोपन-क्रिया-कला में कुशल से अभिहित-करना, उन्हें इष्ट था।

भौतिकवाद की साधारण क्रिया की अभिव्यक्ति, जीवन का पुष्ट अंग के रूप में उन्हें स्वीकार थी। विज्ञान-कला की उन्नति के श्रेष्ठ सबल-साधन भौतिकवाद की ऐच्छिक क्रिया है, इसका मूल आधार जीवन की सुप्त आकांक्षायें थीं, किन्तु हाड़-माँस की प्रधानता देकर उन्हें उन लोगों ने जाग्रत, जागरूक सिद्ध किया। मार्क्स का दर्शन जो जीवन और उसके युद्ध पर अवलम्बित है, अपनी पृथक् सत्ता रखता है, इस अर्थ में कि वह निम्नों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस जीवन में कर्म की सर्वत्र व्यापकता है। या यों कहिये जीवन, कर्म का नाम है और कर्म, जीवन का। और कहना नहीं होगा कि ये ही भौतिकवाद के आधार हैं। हाँ-ना की परिस्थिति में रहने वाला मानव व्यक्तिगत विकास-क्रम के अनुसार निरन्तर अपनी प्रतिकूल स्थितियों से लड़ता है, अपने आप से भी उसे युद्ध करना पड़ता है, जिसे द्वन्द्व कहते हैं। भौतिकवाद इस द्वन्द्व युद्ध को मानव-जीवन का सूत्रधार समझता है। उसके जानते, मानव-विकास का यह प्रथम सोपान है। परन्तु क्रान्ति में पड़े रहने और व्यर्थ के अपने आप के युद्ध से, मेरे जानते मानव-विकास सम्भव नहीं। बाह्य-जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सांसारिक-उन्नति के निमित्त कर्त्तव्य करना, मानव-विकास का आधार होना चाहिये।

भौतिकवादियों ने जिन-सबजेक्ट-मैटरों को अपना आधार माना है, वे सब स्वार्थ से पूर्ण हैं और जिनमें लगा रहने वाला व्यक्ति अवनतमुखी-विकास पर अग्रसर हो सकता है। प्रत्यक्ष मूर्त्त यथार्थ की परिस्थितियों को पकड़ लेने की शक्ति रखने वाला ही अपना विकास कर सकता है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह भौतिकवाद के अंचल में पले। भौतिकवाद का आधार अदृढ़ और नितान्त निर्बल है, वह बाह्य परिस्थितियों का ज्ञान करा सकता है, परन्तु आन्तरिक प्रवृत्तियों का ज्ञान कराने में वह अक्षम ही सिद्ध होगा। और बिना आन्तारिक प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त किये कोई बाह्य ज्ञान प्राप्त कर नहीं सकता। प्रदर्शन के लिये प्राप्त कर भी ले तो व्यर्थ प्रमाणित होगा।

'आधुनिकता का बाना पहन कर भौतिकवाद के निर्माण-विज्ञान की बहुलता देना, मस्तिष्क की विचार शक्ति की निर्बलता सिद्ध करना है। मेशीन के प्रधान विशिष्ट इस युग में कल्पना की प्रधानता नहीं देनी चाहिये, यह मैं मानता हूँ किन्तु यथार्थ को छिपा कर व्यक्त करने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। मार्क्स के दर्शन, भौतिकवाद की जागरूक क्रिया का जहाँ पक्ष लेते हैं, वहाँ किसी भी वर्ग के मानव को जीवन के सरल नियम बनाने में असाधारण प्रेरणा मिलती है, किन्तु सांस्कृतिक-सत्ता को ढाहना अच्छा नहीं, कम से कम भारतीयों के लिये। अधिकार-माँगने के समय संस्कृति, सामने विरोध के रूप में उपस्थित हो तो उसे अपने पथ से हटाया जा सकता है, किन्तु उसका बहिस्कार अवांछनीय होगा। जीवन और चेतना का भौतिकवाद में मार्क्स ने जहाँ प्रश्न उठाया है, वहाँ मानवता के प्रचार में उनके दार्शनिक-सिद्धान्त सफल हुये हैं। चिन्तन, एकाग्रता, सतत अध्ययन को अपने दर्शन में उन्होंने विशेष रूप में जगह दी। सर्वसाधारण उनके दर्शन से अवश्य लाभ उठा सकता है, इसे सभी स्वीकार करेंगे, किन्तु कोमल मस्तिष्क को प्रथम ही दीप-शिखा में यह ज्ञान देना कि क्रान्ति, उत्तेजना, उग्रता, उमंग ही व्यक्तिगत अधिकार माँगने में सहायक होंगे और ये ही मानव के विकास-साधन हैं, उनके पथ में अहितकर होगा। इसके प्रतिष्ठान से बुद्धि में एक प्रकार से उदार-विकार का समावेश होगा, जो स्वार्थ का अंकुर उत्पन्न करेगा दर्शन का महत्त्व भी घट जायगा। इतना सस्तापन लाना, दर्शन के लिए अच्छा नहीं।

निम्न वर्ग को उच्चज्ञान प्राप्त हो जाने पर इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये, एकान्त का प्रश्रय लेकर चलते-फिरते चित्रों को देखने में जिस मनोरञ्जक वातावरण की शरण लेते हैं, उसी वातावरण को स्वागत कर उन्हीं मित्रों की तरह दार्शनिक विचारों को हमें नहीं देखना होगा। साधारण स्तर से ऊपर उठ कर उच्च गम्भीर व्यापक अध्ययन के बल पर दर्शन को हम अच्छी तरह समझ सकते हैं. इसके विपरीत आश्रयीभूत दर्शन को दर्शन कहना अच्छा नहीं। इसलिये एक प्रकार से मार्क्स का जीवन-दर्शन अत्यन्त संकुचित है। वह हमें स्वार्थ-प्रवृत्ति को जगाने में ही विशेष सहायक सिद्ध होगा। जीवन को समझने और सँभालने के पूर्व एक बार गम्भीरता पूर्वक इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोच लेना हमारी बुद्धिमत्ता का द्योतक है। खाने और जीने मात्र को दर्शन का आधार मानना अच्छा नहीं।

सर्वमूलक-चेतना के मूल में अन्तरिक ज्ञान जानने जिस परिस्थिति का

खाका खींचता है, वह हमारे लिये दर्शन के रूप में मननीय है। गम्भीर विषयों को समझने के लिये गम्भीर वातावरण की शरण लेनी होगी। तब कहा जा सकता है, ऐसे गम्भीर विषयों का प्रश्न भी क्यों उठता है। उसके निर्माण की आवश्यकता ही क्या है! इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रकृतिसिद्ध जो विषयान्तर रूप से नहीं, वस्तुत: गम्भीर तन्तु में उलझे निगूढ़ विषय हैं, यथा प्रकृति, जन-साधारण प्रकृति (मानवीय) विश्व सृष्टि, मानव, उसके विधान, मनोविज्ञान, मस्तिष्क इन विषयों के प्रतिपादन में सिर्फ़ मेशीन, मज़दूर, अधिकार, क्रान्ति से ही कैसे काम चल सकता है। मानव की इतनी ही-सी तो कोई सीमा नहीं, वर्त्तमान युग में इनकी आवश्यकता नहीं, यह मैं कभी नहीं कहता।' परन्तु ऊपर के विषयों की उपेक्षा कर, नीचे के विषयों को भी हम अपेक्षित नहीं बना सकते। आधार-आधेय में द्वन्द्व भौतिकता की प्रक्रियात्मक शक्ति को मार्क्स का दर्शन मानव-जीवन के मूल में स्थान देता है, वह प्रशंसनीय है, किन्तु कालान्तर होने पर भौतिकता की महत्ता घट जाने पर ऐसे दर्शन का भी महत्व नहीं रहेगा। और मार्क्स ने इसे ही अपने दर्शन का आधार माना है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्सवाद के दार्शनिक आधार के अनुसार सम्पूर्ण विश्व गतिमान है, और वह बराबर आगे की ओर बढ़ रहा है। भौतिकता को लेकर 'हीगेल' ने भी दर्शन की भित्ति खड़ी की, सफलता भी उसे मिली, किन्तु उसके भी दर्शन में बल का अभाव था। उसके भी आधर अदृढ़ थे। मार्क्स के दर्शन के साथ उसकी तुलना में यह विशेष अन्तर हो जाता है कि मार्क्स का जीवन पक्ष वाला दर्शन सर्वसाधारण परिस्थिति को लेकर चला है और 'हीगेल' का व्यापक सम्पूर्ण विश्व-भावना से अभिभूत परिस्थिति को लेकर।

उन्हीं विषयों का उसने विश्लेषण किया है, जो मानवता का विकास अंग हैं। मेशीन के वातावरण को ही लक्ष्य कर उसने सब कुछ नहीं लिखा। मार्क्स ने उसके दर्शन को अशिष्ट और अव्यावहारिक समझा। उसके आधार में उन्हें विश्वास नहीं। इसी कारण वह कहता है :—'हिगेल का दर्शन, सिर के बल खड़ा था, मैंने उसे सीधा कर पैर के बल खड़ा किया है।"*

अभिप्राय स्पष्ट है कि मार्क्स की दृष्टि में 'हीगेल' का दर्शन अस्वाभाविक था। सर्वसाधारण की स्थिति की ही उसने व्याख्या नहीं की, यही मार्क्स के लिये असह्य था। वर्ग-संघर्ष को विशेषरूप से प्रश्रय मिलना चाहिये, यह

* हुंकार, १९—३—४४

मार्क्स की हमेशा के लिए घोषणा थी। इसका कारण, निम्न मजदूरों की दयनीय दशा थी। ऐसा वातावरण ही उपस्थित था, जिसके लिये यह कहना असंगत नहीं है। परंतु दर्शन का रूप देना, अनुचित है। किसी भी स्थिति में पलने वाले व्यक्ति का जीवन, दर्शन की तुला पर तौला जा सकता है, किन्तु मोती, हीरे की तराजू पर गुड़ का तौला जाना मेरी समझ में अच्छा नहीं। उसकी सार्थकता निम्न वातावरण में नहीं सिद्ध हो सकती। आन्तरिक चक्षु स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त जिज्ञासु भाव से जो प्रेरित होकर दर्शन का प्रश्रय लेगा, उसे इस सङ्कुचित जीवन से पूर्ण दर्शन में सन्तुष्टि मिलने की सम्भावना नहीं। बल्कि 'अरस्तू' के कर्त्तव्य पक्ष के दर्शन, जो मानव के ज्ञान-स्वरूप अन्धकार में प्रकाश के लिये प्रशस्त और सबल हैं, मार्क्स के दर्शन से अत्युच्च और श्रेयस्कर, एकदम स्थायी हैं। इसका स्थायित्व मार्क्स के दर्शन में नहीं। मानव के प्रत्येक अंग की उसने व्याख्या की है। प्रत्येक अवस्था की सांघातिक मूल चेतना के विश्लेषण से किसी भी देश के मानव को विद्यार्थी के रूप में अधिक शिक्षा मिलती है। 'शङ्कराचार्य' के भाष्य का आख्यान उसमें प्राप्त होता है। जीवन को सीमा में बाँटकर पृथक विश्लेषण में नहीं लाया गया। परन्तु असीम परिधि में मड़रानेवाली दार्शनिक अभिव्यक्ति भी हुई है।

परतन्त्र-स्वतन्त्र किसी भी देश की प्रत्येक श्रेणी के मानव 'अरस्तू' के दर्शन से लाभ उठा सकते हैं। सम्पूर्ण में मार्क्सवाद का दर्शन संकुचित है, जिसकी अनुकृति के निश्चित मार्ग पर अग्रसर होना, भारतीयों के लिये अहित-कर और विनाशक है। हाँ, यहाँ के निम्न वर्ग अपनी क्रान्ति में उससे सहा-यता ले सकते हैं—सिर्फ जीवन-रक्षा के पक्ष में।

मार्क्स और व्यवहार

लौकिकता का ज्ञान रखना, आज प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक हो गया है। साधारण शिष्टाचार में भी इसकी गणना है। परतन्त्र देश के परतन्त्र व्यक्ति के लिये तो यह अनिवार्य है। निम्न स्थिति में पलने वाले व्यक्ति को कब किसके साथ कैसा बरतना चाहिये, यह व्यावहारिकता ही बता सकता है। मध्य वर्ग के व्यक्ति किस परिस्थिति में, किस रूप में रहें, प्रदर्शन के और प्रचार के साधन उनके पास हैं या नहीं! किसी की किसी स्थिति का अनुकरण तो नहीं कर रहे हैं। सदाचार, उनके लिए उचित है या नहीं; ज्ञानदेव को सफलता का सबसे बड़ा साधन माना या नहीं, मानवता के मूल में मूल सत्य सदन है, यह स्वीकार किया या नहीं। इन सब पर ध्यान देना कर्तव्य

हो गया है। वर्त्तमान युग के मध्य वर्ग के व्यक्ति के लिये ये व्यावहारिक लाक्षणिक सिद्धान्त हैं। नौकरी के ये ही साधन है और विना नौकरी, विना वेतन के जी सकना भी उनके लिये एक दुःखद स्वप्न मात्र है। निम्न उनसे इस अर्थ में अच्छे हैं कि अपनी शक्ति पर वे किसी तरह जी सकते हैं, भले ही उम्र में एक सीमा की रेखा ही क्यों न खींच दी जाय। पर वे जीना जानते हैं, अन्तर इतना ही है कि वे दुःख पीड़ा की जिन्दगी बसर करते हैं। आँसू, उपेक्षा, तिरस्कार की और ये बौद्धिक मेहनत पर, जी हुजूर की रट लगा कर 'डिट्टो पर्सन' बन कर, इमान, आत्मा बेच कर, आडम्बर को घर बना कर। परन्तु इनकी आन्तरिक मनोदशा, उनसे अधिक दयनीय और विवश है।

वे करना अधिक जानते हैं और ये सिर्फ अधिक से अधिक कहना। निर्माण उनका, सिर्फ प्रयोग इनका। इन्हें तकिये पर नींद आती है, उन्हें अपनी बाँह, धोती के छोर पर, वृक्ष के सोर पर। उन्हें अपने ऊपर सन्तोष है, इन्हें असन्तोष। वे मूक हैं, ये वाचाल। व्यावहारिकता यही है कि दमन, शोषण, राजनीति की सिर्फ सतरंज की चाल में अभ्यस्त हैं। विनाश की, निर्माण की सामग्री एकत्र करने में, कुशलता प्राप्त करने में ये सफल हुये, व्यावहारिकता का ज्ञान रखना, वर्त्तमान जगत के लिये अवश्य ही अनिवार्य है। आज उन्हें ही जीने का अधिकार प्राप्त है, जो व्यवहार में कुशल हैं। बड़े होने और बड़ों से बात करने की तमीज होनी चाहिये। प्रशंसा में वाचाल और राजनीति की गोद में शान्ति से सोने की ऐक्टिङ्ग आनी चाहिये।

ऐसी व्यावहारिकता में स्थिरता और मानव की उन्नति नहीं समझी जा सकती। परन्तु शिष्टाचार का जहाँ प्रश्न उठता है, बौद्धिक-विकास के अनुसार व्यवहार का जहाँ शिष्ट अर्थ है, वहाँ उसकी संस्थिति स्वीकार होनी चाहिये। सद्भावना से प्रेरित हो कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये, साथ ही युग से नहीं पिछड़ा हुआ प्रमाणित करने के लिये, व्यावहारिक होना उचित और श्रेयस्कर है। योरप में विशेषकर साम्राज्यवाद सिद्धान्त के पृष्ठपोषकों की दृष्टि में या शब्दों में व्यावहारिकता की व्याख्या ऊपर हो चुकी है।

रूस में व्यवहार का अर्थ कार्य में कुशल होना मात्र है। अपने-दूसरे की परख की आँखें रखना भी, व्यवाहारिकता का द्योतक या सूचक है। जीविका-निर्वाह के लिये भी यह आवश्यक है। भौतिक विचार-पथ का अनुसरण कर निम्न को एक दूसरे को समझने की शक्ति देने के लिये मार्क्स ने जीवन का स्वरूप निश्चित किया। रोष, तिरस्कार पर पला निम्नवर्ग अपने जीवन के स्वरूप पर न कभी सोच सकता था, न उसे सोचने आता था। रक्तधारा

चढ़ाने की जहाँ जरूरत हुई, वहाँ उसने बलि अवश्य चढ़ाई, किन्तु परिस्थिति को समझने की बुद्धि का सर्वथा अभाव था। व्यवहार का अर्थ भी वे नहीं जानते थे। परिश्रम के अनुसार जहाँ मजदूरी देने और पाने की बात हुई, वहाँ भी व्यवहार की प्रधानता रही। साम्यवाद के चातुर्यपूर्ण प्रचार की क्रिया के लिये समाजवाद की स्थापना का एक प्रकार से प्रलोभन देने का प्रयास किया गया, जहाँ वे असफल नहीं प्रमाणित हुये। 'एञ्जिल्स' मेरे जानते मार्क्स की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक था, किन्तु इन लोगों का व्यवहार निम्न मूर्ख वर्ग के लिये ही श्रेयस्कर हो सकता है।

मध्यवर्ग की जनता पर इनके व्यवहार का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। व्यावहारिक होने की अपेक्षा, व्यक्तित्वशाली होना अच्छा है। व्यवहार का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ता जितना व्यक्तित्व का। परन्तु मानव स्वतः अपना व्यक्तित्व नष्ट कर सकता है। वाद-विशेष के पचड़ों में पड़कर जिन लोगों ने मूर्खतापूर्ण अनुकृति का प्रयास किया, वे अपने व्यक्तित्व से लाभ नहीं उठा सकते। साधारण या किसी भी वर्ग की जनता पर उनका पर्याप्त प्रभाव नहीं पड़ सकता। कर्त्तव्य-पालन, त्याग, तपस्या, बल ये व्यक्तित्व-निर्माण की ईंटें हैं, इन ईंटों से जो परे हैं, उनका न कोई व्यक्तित्व है, न जीवन। व्यवहार में उनका मार्क्स ने स्थान नहीं दिया। विद्रोह की भावना ने उग्रता भरी, आवेश-उत्तेजना भी आई, किन्तु मानवोचित गुण भरने के कोई प्रयास नहीं किये गये।

जीवन के विश्लेषण में अर्थ, अधिकार के व्यवहार में सम्मिलित किया गया, परन्तु उन बौद्धिक-क्रियाओं की सजग प्रकृतियाँ नहीं भरी गईं, जिनसे मानवता की भित्ति सुदृढ़ हो सकती थी। अधिकार, उपेक्षा के महत्त्व को नहीं स्वीकार करता, ऐसी बात नहीं, परन्तु मानवीय परिस्थितियाँ किसी भी प्रान्त-विप्रान्त के वर्ग को एक शिक्षा देती हैं। यद्यपि रूस के नेताओं ने ऐसी शिक्षा की जरूरत नहीं समझी है, किन्तु भारत में ऐसे शिक्षक, ऐसी शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। शोषण, दमन को दूर करने के लिए जिन व्यावहारिक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है, वे मानवता के प्रसार में सहायक होते तो उनका विरोध अनुचित था। किन्तु उनसे मानवता का ह्रास होता है। वर्तमान अवस्था में इन व्यावहारिक सिद्धान्तों के बल पर मानव, भोजन प्राप्त कर सकता है, कर सकेगा, किन्तु भविष्य में भोजन प्राप्त करने में ये साधन काम आयें शायद ही करें, जीवन-दर्शन के साथ जहाँ अधिकार-भावना, अर्थ-विश्लेषण की तुलना है, जहाँ व्यवहार में इन सबकी सर्वमूलक व्याख्या है,

वहाँ मार्क्स के व्यावहारिक सिद्धान्त सबल हैं और वे प्रेरणा देते हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

विचारों में उग्रता, भावों में अति आवेश के कारण मार्क्स की प्रकृति भी उग्र कही जा सकती है। यह उग्रता व्यवहार में भी उग्रता ही लायेगी। अपने आपके जीवन में भी वह अत्यन्त क्षुब्ध था। आर्थिक कष्ट बराबर उसे सताता रहा। बल्कि उसके मित्रों की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। 'एञ्जिल्स', 'वुल्फ' दोनों सम्पन्न मित्रों ने उसकी आर्थिक सहायता की। अपने विचारों को उग्र एवं उसे क्रान्ति का रूप देने के कारण जब जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम से मार्क्स को निर्वासन दण्ड दिया गया, तब वह बृटिश-म्युजियम में जाकर लगातार अध्ययन करता रहा। भूख की आग में दहकते रहने पर भी वह अर्थशास्त्र के अध्ययन में सतत संलग्न रहा। कितनी बार वह चेतना-शून्य अवस्था में गिर जाने पर उठाया गया। फिर भी वहाँ के मजदूरों में आन्दोलन की क्रियात्मक-भावना का आरोप करता रहा। समाजवाद के दृष्टिकोण को समझाता हुआ, उनके अनुकूल अर्थ की व्याख्या करता रहा।

यह मार्क्स की कर्मठता का द्योतक है। करुणा, ममता से प्लावित भी उसका हृदय था, किन्तु किस विचार-कार्य कलाप के कारण उसके व्यावहारिक सिद्धान्त को स्थान नहीं प्राप्त हुआ, आश्चर्य है। उग्रता, कठोरता से पूर्ण व्यवहार की नींव भी उग्र और कठोर ही हुई। यों सहृदयता और करुणा की इतनी प्रबलता थी कि अपनी पत्नी 'जेनी' की मृत्यु के समय (१८८३) वह भी आत्म-हत्या करने पर तुला था, किन्तु परिस्थितियों ने उसे बचा लिया। अदम्य साहस आवश्यक संयम की समाविष्टि ने उसकी बुद्धि-शक्ति को संचित रखा, फलतः पुनः उसने आर्थिक दृष्टिकोण में बल देना आरम्भ किया, जिसकी पूर्त्ति मृत्यु के पश्चात् एञ्जिल्स ने की।

सम्पूर्णता पर विचारने के समय मानवीय-विकास के उपयुक्त, जिस व्यवहार की उसने आवश्यकता समझी, वह अव्यावहारिकता का लक्षण था। यद्यपि अपने प्रत्येक समसिद्धान्तों को उसने व्यावहारिकता की तुला पर तौला है, परन्तु इतना होने पर भी पूर्ण व्यावहारिक वह नहीं सिद्ध हो सका। बल्कि उसके जीवन को लेकर जो दार्शनिक सिद्धान्त था, वह व्यावहारिक सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण था। मानव वर्त्तमान युग में इसके जीवन-दर्शन से लाभ उठा सकता है, परन्तु व्यावहारिक सिद्धान्त से उतना नहीं। उसके व्यवहार, आन्दोलन मात्र करने वाले मजदूर सैनिकों के लिये कुछ सीमा तक साथ दे सकते हैं, परन्तु नित, हमेशा आन्दोलन हो तो हमें

नहीं करना है, उसके लिए प्रस्तुत रहना चाहिये, किन्तु इसके अतिरिक्त क्षेत्र के विकास के साधन भी एकत्र करने चाहिये। अपने व्यावहारिक सिद्धान्तों का विभाजन, श्रेणी के अनुसार किया होता, तो वर्ग के लिए वह श्रेयस्कर प्रमाणित होता। साम्यवाद का सार्वभौम सिद्धान्त, वर्गिक-अन्तर को प्रकारान्तर से दूर कर बौद्धिक-क्रिया द्वारा मानव के विकास के सर्वथा उपयुक्त व्यवहार-शिला का आधार दृढ़ करता, परन्तु उसका भी मार्क्स ने सैद्धान्तिक ही रूप दिया। मजदूरों में सामयिकता लाने के निमित्त साम्यवाद को भी उसने सैद्धान्तिक रूप देना अच्छा समझा था। व्यवहार के पक्ष में अधिक सम्भव है, यह अच्छा ही हुआ हो, परन्तु साम्यवाद के वास्तविक दृष्टिकोण में कुछ भ्रान्तिपूर्ण भिन्नता आ जाती है।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों की विवेचना में मार्क्स ने सिर्फ प्रयोगिक अवसर देने का सफल प्रयास किया है। वह एक गम्भीर तात्विक विश्लेषक था। उसकी प्रकृति मेरे लिए अनुकृति न हो, फिर भी शोषित समस्त दास मानव के आन्दोलन के लिए, जो विचार उसने स्थिर किये, वे श्रेय के निमित्त हैं, उनका कोई शाब्दिक अर्थ में विरोध नहीं कर सकता, किन्तु व्यावहारिक अर्थ में भले रूस का मध्यवर्ग विरोध करे। भारतीय मध्य वर्ग विरोध नहीं करेगा। रूस की अपेक्षा भारतीय मध्यवर्ग अधिक दयनीय और शोचनीय है। यहाँ का निम्न वर्ग अच्छी दशा में नहीं है, किन्तु इतना है कि मूक परिस्थिति में भी जीविका के साधन वह ढूँढ सकता है, मध्यवर्ग बौद्धिक-केन्द्र बिन्दु पर ही अवलम्बित हो सकता है, उसके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं, जिस पर चल कर वह अपने प्राणों की रक्षा कर सके। चूँकि पाश्चात्य का 'शो' उसमें घर कर गया है, अतः प्रदर्शन में निपुण होने के कारण निम्न वर्ग को वह आज अच्छी परिस्थिति में प्रतीत हो रहा है।

यदि उसकी आन्तरिक मनोदशा पर अच्छी तरह ध्यान देगा, तो उसके आडम्बर और प्रदर्शन का पता पा सकता है। बाहर अच्छी कुर्तियाँ रहेंगी, धोतियाँ फटी, सी हुई भी परन्तु परिष्कृत, जिसके परिष्कार के पैसे अभी धोबी के शेष ही होंगे। किन्तु घर में फाके की ही नौबत आती होगी। साम्राज्यवाद के विशाल प्रबन्धक-भवन में साढ़े दस से, साढ़े चार-पाँच तक कलम घसीटता हुआ क्लर्की करता रहेगा, जिसके परिणाम में महीने को उसे पैंतालीस या पचास प्राप्त होंगे। यह पचास-वेतन उसके जीवन का आधार, प्राण है। और इन्हीं पचास पर उसे समस्त परिवार को पालना है। उधर युद्ध जनित परिस्थिति का वज्र प्राण का हेतु-आधार 'अन्न' में महँगी है।

क्लर्की परिवार में दो-तीन व्यक्ति हुये तो कुछ बात भी थी। यदि बारह, पन्द्रह व्यक्तियों का सम्मिलित परिवार हुआ तो न्यूनातिन्यून प्रति व्यक्ति के हिसाब से एक मास में एक व्यक्ति के लिए तीस रुपये व्यय करने पड़े। और डेरे का किराया आज बीस या पन्द्रह से कम नहीं, पन्द्रह ही रुपये मान लें, तो कुल मिला कर तीन सौ पचहत्तर रुपये हुये। इस बौद्धिक-परिश्रम के द्वारा एक परिवार का पोषण करने में भी वह असमर्थ है। किस प्रयत्न, किस व्यवहार-आचरण द्वारा वह इतना बड़ा व्यय सँभलता होगा, सोचना भी कठिन है। उसमें भी कलुषित वृत्तियाँ, आधुनिक व्यावहारिक ज्ञान उसे प्राप्त हुये, तब क्लर्की मिली, बिना सिफ़ारिश के वह भी नहीं मिलने की। ऐसी अवस्था में सौ में कुछ ही को जीवन के साधन मिले। शेष आत्महत्या कर। लाइन में कट कर। गंगा में डूब कर, विषपान कर इहलीला समाप्त करते हैं।

यह भी नहीं हुआ तो अनेक चिन्ताओं से आक्रान्त-विक्रान्त रहने के कारण बुरी आधि-व्याधियों से ग्रस्त जीवन-यापन करते रहे हैं। वैसी स्थिति में 'शो' और योरप का व्यावहारिक ज्ञान उनकी शायद ही रक्षा कर सके। ठीक इसके विपरीत निम्न वर्ग के व्यक्ति अपनी भुजशक्ति पर विश्वास कर कड़ी से कड़ी मेहनत कर उपेक्षा, झिड़कियाँ सह कर भी जीविका के साधन एकत्र कर लेते हैं, उनके प्राण के आधार सिर्फ़ परिश्रम हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनके बच्चे दवा के बगैर नहीं मरते, अन्न के अभाव में नहीं मरते। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से निम्न वर्ग के व्यक्ति उनसे अधिक सन्तुष्ट और अपने आप में पूर्ण हैं।

रूस का निम्न वर्ग अति दयनीय था, उसकी-हित-साधन में मार्क्स के व्यावहारिक सिद्धान्त सम्भवतः काम आये हों, किन्तु अन्य वर्गों के लिए वे सापेक्ष्य नहीं हैं। सत्ता के विनाश के निमित्त जो व्यावहारिक सिद्धान्त उसने निर्माण किये, उन लोगों ने संस्कृति और धर्म का ध्वंस किया। भाव स्पष्ट है कि एक के विध्वंस पर एक के विनाश की नींव पर दूसरे की सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है, जो विनष्ट से कदाचित ही अधिक महत्त्व रखता हो। भाव-भूमि के प्राङ्गण से यद्यपि पूर्व वर्त्तमान नितान्त विनष्ट नहीं हो सका है। कुछ कालान्तर हो जाने पर तुरंत उसकी सुप्त प्रवृत्तियाँ जागेंगी, चूँकि उन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण विश्व के समस्त वर्ग के निवासी मानवों का विकास स्थिर हुआ है। व्यवहार, इतना सबल सुदृढ़ नहीं है कि उसकी जड़ को एकदम उखाड़ फेंकने में समर्थ होगा। विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियाँ विनाशोन्मुख हैं, और कहना नहीं होगा कि व्यवहार उन्हीं की सजगता का परिणाम है। निम्न वर्ग

का अधिकांश व्यक्ति विज्ञान के विकास के साधन में निरत हैं अतः उन्हें मार्क्स के व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने चाहिये। परन्तु इन सब के मूल में यह विस्मरण नहीं होना चाहिये कि वैज्ञानिक विकास में मानवीय विकास कदापि सम्भव नहीं। मानवीय-विकास की जगह का विनाश निश्चित है। बौद्धिक क्रियाशीलता के परिणाम में विज्ञान की उन्नति, हमारी सांस्कृतिक निधियाँ नहीं लौटा सकती हैं, न निर्माण ही कर सकती हैं। और इसे खोकर विज्ञान का आश्रय लेकर, हम कुछ पा सकने की आशा नहीं रख सकते। बौद्धिक क्रियायें इतनी उग्रता को लेकर आयीं कि प्रत्येक प्राकृतिक निर्माण, पतन, विनाश के महाअतल गर्त्त में विलुप्त-सा होने लगा है, विज्ञान इसकी रक्षा की जगह विनाश पर तुला है।

मार्क्स का व्यवहार भी ध्वंस की क्रियात्मक शक्ति को उभाड़ने के पक्ष में है। क्रुरता के उत्तर में क्रुर होना, उसकी व्यावहारिकता की, उग्रता की सर्जन क्रिया का प्राथमिक लक्षण है। मजदूरों के आन्दोलन में इस व्यवहार क्रिया ने उनकी पर्याप्त सहायता की, परन्तु अन्य क्षेत्र एकदम सीमित दायरे में घिरे रहे, अतः व्यवहार की एक क्रिया सब ओर की परिस्थिति को सँभालने में असमर्थ रही, जो स्वाभाविक ही था। जीवन की व्यापकता सिद्ध करने के लिए मार्क्स ने जिन विचारों में बल दिया, वे अपनी जगह पूर्ण नहीं, सम्पूर्ण हैं, वहाँ उनकी बुद्धि की पराकाष्ठा है। विचारक के समस्त गुण, उनमें वर्त्तमान हैं, किन्तु सामूहिक रूप से सब के लिए जो उन्होंने सब किया, अच्छा खरा नहीं उतरा। विचारों में अनुभूति थी, जिसमें सत्य अधिक था। झूठ को स्पष्ट उसने अस्वीकार किया है। वस्तु-निर्माण में बाँधने का उसने कोई प्रयास नहीं किया है, यह सत्य है। क्रान्तियों के विश्लेषण और साधन ही नहीं जुटाये स्वयं क्रान्तियाँ की। आन्दोलन में बल पकड़ने की विधियाँ बताईं। परन्तु यह कहना—'अपने सिद्धान्तों को वह तब तक सिद्धान्त का रूप नहीं देता था, जब तक वह व्यावहारिक रूप से सिद्ध नहीं हो जाता था।'*

मेरे लिए मान्य नहीं है। हाँ, इतना किसी भी अवस्था इन्कार नहीं कर सकता कि 'मार्क्स' सिर्फ विचारक ही नहीं, अपितु एक बड़ा क्रान्तिकारी भी था। व्यावहारिक और क्रान्तिकारी होने में महान् अन्तर है, दोनों की दो विधियाँ, शक्तियाँ, प्रकार हैं। आन्दोलन से उनका कोई सामञ्जस्य नहीं।

* '[illegible] १९-३-११

व्यवहार में कृत्रिमता सफलता प्राप्त कर सकती है, किन्तु क्रान्ति में सत्यता ही सफल सिद्ध हो सकती है। कृत्रिमता को एकदम प्रश्रय नहीं मिल सकता। यद्यपि मार्क्स के व्यवहार में कृत्रिमता या असत्यता का विशेष स्थान न था, किन्तु वह अनुपयोगी अधिक था। रूस के लिये ही वह भी निम्न वर्ग को ही अधिक सहायता दे सकता था, अन्य वर्ग की सहायता मिल सकने की कम उम्मीद थी, विशेष भावना से अनुप्राणित हो, बुद्धि को बल मानकर उसकी मान्यताओं के आधार पर चल कर बुद्धिवादी उसकी उद्देश्य-सिद्धि में असफल होंगे। मार्क्स के जीवन-दर्शन में यद्यपि गम्भीरता नहीं, पर जहाँ तक उसमें व्यावहारिकता का समावेश है, वहाँ तक उपयोगी सिद्ध हो सका है।

व्यवहार पर अलग पूर्ण सबल-साधन मानने के लिये जहाँ उसके विचार प्रेरित करते हैं, वहाँ सम्पूर्ण व्यवहार पर अवलम्बित होने का यह अर्थ होगा कि व्यक्ति उसमें पहुँचकर अपने ठहरने मात्र की भी जगह ढूँढ़ने पर पाने में व्यग्र और असफल रहेगा। बल्कि जीवन-दर्शन का कुछ लोग उपयोग कर सकते हैं, किन्तु उसमें भी अपनी स्थिति का ख्याल करना होगा। बुद्धिवादी अपनी भावुकता के प्रवाह में यहाँ जी सकते हैं। उन्हें अपनी भाव-भूमि को माप कर, साथ ले कर चलना होगा। वैसी स्थिति में वे उसके जीवन-दर्शन से पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। उसके जीवन-दर्शन में व्यवहार जिस स्थिति में खड़ा है, वह नैतिक अधिकार का ज्ञान कराने में सफल है। बुद्धिजीवी की भावुकता में जिसमें सहृदयता अपना कार्य करे तो क्रमिक विकास में बहुत बाधा न होगी, किन्तु अति भावुकता काल्पनिक जगत की सृष्टि करती है, अतः उसका स्वप्न व्यर्थ सिद्ध होगा। विज्ञान जहाँ बौद्धिक विकास का द्योतक है, वहाँ उसका इस समय हम दुरुपयोग कर रहे हैं, विलास-सामग्री का एक महत्त्व-पूर्ण अंग बना रहे हैं। वैसी अवस्था में मार्क्स का जीवन-दर्शन कर्त्तव्य की प्रेरणा दे सकता है, किन्तु वहीं व्यावहारिक सिद्धान्त निस्कर्म की भावना की उपज करता है।

भारत का आधुनिक राजनीतिक वातावरण योरप से प्रभावित होता जाता है अतः वहीं की व्यावहारिकता का अनुग बन रहा है। परन्तु रूस का व्यवहार किसी की समता में नहीं आ सकता। जीवन के साथ जहाँ तक उसका सम्पर्क है, वहाँ तक वहाँ के लिये औरों से अच्छा है। मानवता के निर्माण में रूस का जीवन-दर्शन साथ दे सकता है, व्यवहार वाला अंग परिहार्य हो जाय तब! अन्यथा उसका पूर्वपक्ष ही सबल सिद्ध होगा। और उत्तर, नितान्त निर्बल। मजदूरों का साम्यवाद का आदि भौतिक आधार, बुद्धि

पर अवलम्बित होगा तो व्यवहार का प्रयोग, मध्य वर्ग के अतिरिक्त, निम्न वर्ग भी अच्छी तरह कर सकेगा। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि वह भी चातुर्य के घर में रहने का प्रयत्न कर रहा है। व्यवहारकुशल का जहाँ साधारण अर्थ समाज के साथ चलना और उसके उपयुक्त अपने को बनाना है, वहाँ व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के अनुसार उसका साथ दे तो उसकी हानि की सम्भावना नहीं।

भारत के वर्त्तमान समाज की ऐसी परिस्थिति है कि उसका साथ देना कठिन है। समाज के साथ चलने के लिये यहाँ हमें वैसे साधन प्राप्त होने चाहिये जो उसके एकाधार आनन्द में उल्लास का कार्य करे। उसकी व्यवस्था भी ऐसी है कि मध्य वर्ग उसमें जी नहीं सकता। और सीमा में रहकर भी जीना उसके लिये कठिन है। समाज के साथ रह कर जो चल नहीं सकता, उसकी कोई पूछ नहीं, यद्यपि यह पूछ हमें न रोटी, न उसका साधन, न सांस्कृतिक विधि ही देती है, फिर भी उसके साथ रहना अनिवार्य है। यदि आत्मबल आत्मविश्वास है तो उसका साथ नहीं दिया जा सकता है, परन्तु इसके लिये साहस, धैर्य, बौद्धिक क्रिया में सफल होना चाहिये। अन्यथा बड़ी बुरी हार खानी होगी। समाज हमें झूठ, और अत्याचार सिखाता है। उसकी दृष्टि में प्रदर्शन अनिवार्य है। यहाँ भारत रूस से वर्त्तमान परिस्थिति में अच्छा है। उसका समाज किसी वर्ग को उबने की परिस्थिति नहीं लाता। मानो सबके अनुकूल उसके विधान हैं। किसी को विरोध करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। उसके समाज में जीवन-दर्शन संकुचित होता हुआ भी उसके लिये बुरा नहीं है। व्यावहारिक उपयोग की शिक्षा अच्छी नहीं है, जिसके प्रयोग में किसी को सफलता मिल सकने की आशा नहीं। समाज इस स्थिति को उत्पन्न करेगा कि उसके साथ चलने को साधन ढूँढ़ने होंगे, तब उसे सबका सम्मिलित सहयोग प्राप्त हो सकना कठिन है। और यह भी निश्चय है कि बिना सहयोग-प्राप्ति के समाज की भित्ति दृढ़ नहीं रह सकती।

इसकी भी नींव की ईंट कच्ची साबित होगी। ऐसे ही समाज का परिणाम हुआ कि आज मध्य वर्ग का कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि हम एक दूसरे सम-स्थिति पर रहने वाले परिवार के साथ सम्बन्ध रखें, इसलिये कि जीवन की रक्षा के संचित सीमित अल्पद्रव्य दूसरों ओर खर्च हो जायेंगे, फलतः एक शाम की नौबत आयगी। समाज के विधान में त्रुटि न होती तो ऐसी सम्भावना न थी, एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखकर, हम अपना बौद्धिक विकास कर सकते हैं। आतिथ्य-स्वीकार भी समाज का एक अव्यवहारिक

अंग हैं। हम इसलिये दूसरे के यहाँ न जायँ, न खाँय कि वह मेरे यहाँ आयेगा, खायेगा प्रवृत्ति को कलुषित बनाने में ये विचार सहायक प्रमाणित होते हैं, और यह प्रवृत्ति अनार्यों की है। ऐसी प्रकृति को अपने यहाँ घर नहीं देना चाहिये। बदले में उपकार के भय से अनार्य शत्रु हो जाता है :—
'अनार्यः प्रत्युपकारभयात् शत्रुर्भवति।'

व्यवहार, समाज के विकास में बाधक न प्रमाणित हो। साम्राज्यवाद की परिस्थित को अपनाने का प्रलोभन भविष्य के सोपान को विनष्ट करने की सूचना देता है। हजारों वर्ष पूर्व का भारतीय समाज भले ही आधुनिकता के साथ चलने में कोई प्रेरणा न दे, किन्तु ऐसा अवसर उसने नहीं उपस्थित होने दिया जो वैसी कलुषित प्रवृत्ति को आरोप करने को बाध्य हो सके। मानवता के विकास के अनुकूल समाज का निर्माण करने के पक्ष में वह था। व्यक्ति का समाज से विशेष भय नहीं प्रतीत होता था। देश-विदेश के साथ भी पारस्परिक सम्बन्ध रखने की उसे सुविधा था। व्यापार के विस्तार की जगह न थी, वैज्ञानिक उन्नति के कारण, यह मैं मानता हूँ। पर आज की अपेक्षा उसकी स्थिति अच्छी थी, समाज की व्यवस्था भी बुरी न थी। मध्य-काल में आकर वह स्थिति बुरी बना दी गई, स्वार्थ की प्रबल प्रकृति के कारण, और धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों झूठ के विकास का प्रसार होता गया, त्यों-त्यों उसकी अवनति होती गई। समाज की व्यवस्था में कालुष्य आता गया। और इस मूल कारण को खोते जाना, दूसरों को अपनाते जाना था। वैज्ञानिक वास्तविक विकास की चरम सीमा पर पहुँचता जाता, और सामाजिक व्यवहार भी उपयुक्त बनाता जाता तो भारतीय स्थिति में कोई गड़बड़ी नहीं होती। दासता थी, मूढ़ता, अन्ध परम्परा भी, किन्तु सामाजिक स्तर इतने अनेक आडम्बर युक्त नियमों से नहीं घिरा था जो मानव को दानव बनाने को बाध्य करता।

व्यावहारिक शिक्षा का अर्थ, असत्य वातावरण का निर्माण करना नहीं होता। वर्ग की गतियाँ विभिन्न थीं। उनके स्वरूप विभिन्न थे। फ्रेंच क्रान्तिकारी साहित्यकार 'रूसो' और 'भाल्टेयर' के विचारों की जो अभिव्यक्तियाँ हुईं, वे मानव के मनोवैज्ञानिक स्थितियों का मापक तो नहीं थीं, किन्तु समाजवाद की स्वरूप-निश्चयता में व्यवहार का जो स्थान आया था, उसकी व्याख्या में भ्रान्तियाँ नहीं आने दीं। साधारण जनता उनका आश्रय लेकर आगे बढ़ सकी थी, परन्तु मार्क्स के जीवन दर्शन में पूर्णता का अभाव था। इस प्रकार एक दूसरे के अभाव के पूरक, एक दूसरे थे, व्यावहारिकता की

दृष्टि से मार्क्स की अपेक्षा वे अधिक व्यावहारिक प्रतीत हुए प्रमाण के लिए तो मार्क्स के पक्षपाती कहेंगे, सफलता मार्क्स के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ही मिली. परन्तु नैतिक अधिकार-प्राप्ति के लिये जो कठिनाइयाँ उन्होंने प्राप्त की, उन्हें रूस वाले नहीं। वस्तु-मूल का अभाव उनकी असफलता का कारण हुआ। पर जहाँ उन्होंने सफलता प्राप्त की, वहाँ मार्क्स के व्यवहार ने उनकी सहायता नहीं की। स्वयं उनके व्यावहारिक आधारों ने मार्ग-प्रदर्शित किया। यह उद्घोषणा सुसंगत है कि व्यवहार और जीवन-दर्शन के विश्लेषण और उसके मूर्त्त रूप ने रूस की वैज्ञानिक उन्नति में कोई बाधा नहीं दी और फ्रेंच वालों की कोई विशेष वैज्ञानिक उन्नति नहीं हुई। यद्यपि फ्रांस का साहित्य रूस की अपेक्षा अधिक उन्नत और प्रशस्त है।

अन्य लाक्षणिक उपयोग जो जनता के लिए हुये, उन सबका दिग्दर्शन साहित्य में अच्छी तरह कराया गया है। सर्वसाधारण की सामाजिक-व्यवस्था भी उससे भिन्न ही रही। बौद्धिक क्रियाशीलता की विधियों में इस पर अधिक जोर दिया गया कि भौतिक अधिकार-प्राप्ति का प्रकार अनेक के लिये एक ही हो; राजनीतिक अधिकार की प्राप्ति के लिये जो मार्क्स का व्यवहार था, वह अवश्य निश्चित सफल हुआ। राष्ट्र की बागडोर सँभालने के लिये विरोधियों की किसी क्रिया की आवृत्ति न हो, इसके लिये किसान और मजदूरों के सम्मेलन के व्यवहार अच्छे औषध थे। बिना राजनीतिक अधिकार के मजदूर नेता समाजवाद की नींव डालने और साम्यवाद का प्रचार करने में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते थे।

हठपूर्वक क्रान्ति अपनी आग सुलगाती जाती थी। अनाचार जारी ही था, फिर भी चातुर्य-शक्ति से पृथक् रहने पर अपने उद्योग में सफलता प्राप्त करना कठिन था। राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर लेने का यह अर्थ हुआ कि विरोधियों को फिर से जगने देने के अवसर से वञ्चित रखना। अन्यथा अधिक सम्भव था, पुनः सहारा पाकर दमन और शोषण की नीति को दीये की लौ के समान काठी से वे उकसाने के प्रयास करने लगते। और रूस की जनता को युद्ध के लिये फिर मैदान में जुटना होता, तब समाजवाद की नींव में अधिक देर हो जाती। राजनीतिक शक्ति ही तो जार की शरण थी। प्रत्येक विरोधी आन्दोलन को शान्त कर देने में वह सफल थी। यद्यपि यह लेनिन की सूझ थी, किन्तु मार्क्स के सिद्धान्त, प्रचुरता से काम न लाये जाते थे। राजनीतिक अधिकार के विश्लेषण में व्यवहार की प्रौढ़ता थी।

मार्क्स की आर्थिक व्याख्या

उत्पत्ति के साधनों की सुविधापूर्वक प्राप्ति के लिये अर्थ की व्यापकता सिद्ध हुई, परन्तु इस व्यापकता में मलिक या स्वामियों का सबसे बड़ा हाथ रहा, इसलिये कि उनके मूल में अर्थ की प्रधानता थी। और इसी कारण समाज विधान का पूर्ण अधिकार उन्हें ही प्राप्त था। निम्न या मध्य वर्ग उनके संकेत पर चल मात्र सकता था, इससे अधिक के लिये उनकी स्वीकृति सब परिस्थिति में अपेक्षित थी। दुःख, व्यथायें उनका घर थीं, अभावपूर्ण परिस्थितियाँ, उनका प्राङ्गण। अपने को आगे बढ़ाने में सदैव उन्होंने निर्बलता पाई। साधनों की सीमा अनेक मार्ग का रोड़ा थी।

उग्रता व्यग्रता में पले हुये मानव की क्षुब्धता चरम पर पहुँचने की हुई तो फ्रांस और रूस के निम्न वर्गों ने विरोध के लिये अपनी आवाजें उठाईं, जिसके फलस्वरूप हिंसा-क्रूरता की नींव पर समाजवाद की स्थापना हुई। उसी समय सम रूप से जीविका के साधनों में आर्थिक बँटवारा हुआ। समाजवाद में इसकी जड़ थी, उसकी निश्चयता में इसका स्वरूप सुनिश्चित होना अनिवार्य था। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने इस पर विचार किया और समाजवाद के अनुकूल इसका विश्लेषण भी किया। मिल-मजदूरों की अधिकार-माँग में प्रधानता इसी अर्थ की थी। वर्ग की अनेकता में एकता लाने के पश्चात् रूस के विधायकों ने आर्थिक इस विश्लेषण से पर्याप्त लाभ उठाया।

सामन्तों और कृषकों के वैषम्य दूर हो जाने पर परिश्रम से अन्न की उपज के भागों का कौन कितना ग्राही होगा, वह अन्न-अर्थ किस प्रकार द्रव्य के साथ समता रख सकता है, और उसका उपयोग हम किस रूप में कर सकते हैं, आदि आदि गूढ़-आर्थिक समस्याओं का समाधान हुआ। साम्यवाद की क्रिया का ऐसा विभाजन-स्वरूप था कि उसके अर्थ का कोई स्वरूप निश्चित होना कठिन था, किन्तु बौद्धिक अर्जित, व्यापारिक अनुभूत शक्ति ने मार्क्स को इसके स्वरूप-निश्चय में अभूतपूर्व सफलता दी। आज से बासठ, तिरसठ वर्ष पूर्व कही हुई बातें सम्पूर्ण-विश्व के मजदूर-आन्दोलन के लिये अनुकरणीय प्रमाणित हो रही हैं। मार्क्स प्रौढ़ विचारक था, इसमें किसी को आपत्ति न होगी। यों विचारों, दृष्टिकोण में विभिन्नता तो रहती ही है। उद्योग-धन्धों के

बढ़ने के परिणाम में मजदूरों की दशा बिगड़ती गई। इसलिये समाजवादी-व्यवस्था में आर्थिक-योजना का सार्वभौम रूप स्थिर होना आवश्यक था। फ्रांस के 'प्रूधों' की अराजकता जहाँ व्याप्त हो अपना कार्य कर रही थी, वहाँ उसके मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा अर्थ अपनी क्रिया में उसको परेशान किये हुये था। समाजवाद का साम्यवादी स्वरूप यद्यपि 'प्रूधों' को भी स्वीकार था, किन्तु अराजकता प्रत्येक निर्माण के मूल में अपनी प्रधानता स्वीकार करने को उसे वाध्य करती थी।

मशीनों ने मजदूरों के परिश्रम में घाटा का,—(माइनस) चिह्न लगाया, ऐसी उसकी समझ थी। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में उद्योग की वृद्धि ने निम्न वर्गों का आर्थिक शोषण किया। भूमि-कर सर्वत्र बढ़ता ही गया, उधर जमीन्दारों के अति ने उन्हें वाध्य किया, भूमि से विमुक्त होने के लिए। और बाहर आने पर अथक परिश्रम के परिणाम में भी पसीने के रूप में कुछ आने ही प्राप्त होते थे, जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए अपर्याप्त ही थे। सहस्रों मजदूरों की जगह एक मशीन उनका अकेले कार्य करने लगी तो मिल-मालिकों को उनकी जरूरत न थी। एक ही बार एक ही समय सहस्रों मजदूर बेकार, व्यर्थ जीवन भार होने लगे।

साम्यवाद की बौद्धिक-शक्ति ने अभी इतनी जड़ नहीं पकड़ी थी कि अपने को सँभालने के लिए उन्हें मार्ग या कोई अच्छी सूझ दे सकती थी। अर्थ उनका गला घोंटने लगा। 'प्रूधों' का व्यक्ति-प्रधान आर्थिक सिद्धान्त निर्बल हो गया, फलतः समूह और जनता का प्रश्न उठा, और उसे आर्थिक-सिद्धान्त में परिवर्त्तन अपेक्षित प्रतीत हुआ। विशेष सफलता इस ओर उसे न प्राप्त हुई, चूँकि सर्वसाधारण का, उसमें विचारों और निष्कर्षों में पहले विश्वास न हुआ।

इसका कारण अराजकतावाद के प्रति लोगों की भ्रान्तिपूर्ण धारणा थी। उनके जीवन के अन्य, अतिरिक्त प्रश्न का उत्तर जब उसने प्रयोग व्यवहार द्वारा दिया, तब जनता का सहयोग भी अधिगत हुआ फ्रांस की क्रांति को बल देने वाले विचारों का निर्माण हुआ, प्रूधों की विचार-शक्ति ने एक प्रकार से आदर्श रूप को ही अपने यहाँ स्थान दिया, यद्यपि प्रकार में भिन्नता थी। परिस्थिति के अनुकूल वातावरण के स्वरूप ने आर्थिक-व्यवस्था को व्यावहारिक और स्वाभाविक बनाने में सहायता दी, 'प्रूधों' को जनता की कठिनाइयों को समझने का इसी ने अवसर दिया। अन्तर्निहित स्वरूप के उपयुक्त करने आर्थिक-[illegible] को समुचित रूप से निम्न के प्रभावों [illegible]

दूर करने के लिए स्थिर करने के साधन ढूँढ़ने में अध्ययन (पुस्तकी और अनुभव दोनों) की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक अनुभव-अध्ययन उसे प्राप्त था, किन्तु पुस्तकी अध्ययन के लिए क्रान्तिकारी विचार अवसर नहीं देते थे। आत्मिक-बल जो बौद्धिक बल था, उसके साथ था, जिससे उसने अपने क्षेत्र के कार्य में सफलता पाई, स्पष्ट भावों को व्यवहार का रूप दिया होता तो लोगों को अराजकतावाद का पोषक कहने का अवसर नहीं मिलता।

जमीन की व्यवस्था में लाभ के शेष भाग को प्राप्ति के विषय में उसके निर्णय समूह के कल्याण में सहायक नहीं प्रमाणित होते थे, जिसकी वजह उसके प्रति किसानों को सन्तोष नहीं था। जनता का यह संकेत कि प्रूधों के विचारों में अराजकता की व्यापकता है, कुछ अंशों में ठीक भी था। किसानों की विवशता, जमीन की सीमा में प्रधान थी। फिर भी जमींदारों की क्रिया में विरोध की भावना भरने के विपक्ष में कभी कभी अपने कार्य प्रारम्भ कर देता था, और विद्रोही विचारों को उकसाने की प्रकृति अल्प मात्रा में हो जाती थी, जिसके लिये कभी वह सोचता था, अराजकता की प्रधानता उचित समाजवाद के पुष्टि में बाधक साबित होती है। जीवन में समता की जगह विषमता भरती है। भूमि का केन्द्रीकरण, किसान-मजदूरों पर अवलम्बित हो तो इनका पक्ष सुदृढ़ हो सकता है। अधिकार बल की आतुरता और गर्वपूर्ण व्यावहारिकता जमींदारों की प्रवृत्ति की विशेषता है। किसानों के अधिक परिश्रम के परिणाम में उनकी स्वार्थ-साधना अधिक होती हैं। वे अन्न को बेच कर आमद की वृद्धि के अनुसार अर्थ संग्रह करते हैं, जिसका उपयोग स्वयं और उनकी तथागत पीढ़ि करती है।

उन्हीं की आकांक्षाओं की पूर्त्ति होती है। किसानों की मनोगत भावनाओं का वे प्रश्न भी उठने नहीं देते। मेशीन की दिनोदिन उन्नति के कारण किसान-मजदूरों को पुन: बाजार से वापस आकर उन्हीं की शरण लेनी पड़ती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें दूना कष्ट और घाटा सहना पड़ता है। मजदूरी कम कर दी जाती है। उसकी अल्पता जीविका के साधन में इतनी कमी ला देती है कि मरते-मरते भी भूमि जोत कर जमींदारों के अर्थ-भूख की प्यास बुझानी पड़ जाती है। भूमि एक प्रकार से सबसे अधिक अर्थ-संग्रह का साधन है।

आहार-व्यवहार की सामग्री प्रस्तुत करने में निमग्न रहने वाले, अन्न की फिक्र कर लेते हैं और इसमें अर्थ की चिन्ता स्वाभाविक है। किन्तु उन्हें उसकी चिन्ता प्रायः नहीं करनी पड़ती। बाह्य आडम्बर की वस्तुओं की बिक्री

जो स्वामी की आय होती है, उस आय का कई भाग अन्न खरीदने में जाता है। घुमा-फिरा कर यही प्रतीत हुआ कि अन्न, अर्थ का पर्याय है। जमींदारों को अर्थ-संग्रह की समापिका-क्रिया-भूमि ही लगी। किसान-मजदूर अपनी मेहनत के लिये जो पाते हैं, प्रायः द्रव्य के बदले अन्न जो उनकी भूख मिटाने में असफल रहता है, उन्हें उतना ही भर्त्सनापूर्वक प्राप्त होता है, जितना में मुश्किल से एक शाम भी खाने पाते हैं।

अर्थ का स्वरूप उनके लिए निश्चित हो तो अन्न-अर्थ का सम-विभाजन पक्षपात रहित हो। फ्रांस की आर्थिक-व्यवस्था का यह प्रकार था, किसान-मजदूर और जमींदार शब्द से अभिहित होंगे, अपनी अपनी जगह, किन्तु विधान की दुनिया में अन्तर होता था। किसान-मजदूर श्रम करते थे, जमींदार भूस्वामी होता था, सम्पत्ति उसी की कहलाती थी, परन्तु श्रम-परिणाम में जो अन्न की उपज होती थी, उसके बँटवारे की क्रिया में समाज का अधिकारी व्यक्ति किसान-मजदूर के पारिवारिक प्रत्येक व्यक्ति के निमित्त वर्ष भर का अन्न दे देते थे, और जमींदारों के परिवार के लिये भी यही होता था, अन्न इतना पर भी शेष होता तो उसका उपयोग जमींदार ही करता था, यहाँ भी किसान-मजदूर को कुछ कठिनता होती है। दोनों शाम की उदर-पूर्ति के अतिरिक्त बाह्य आवश्यक वस्तुओं के क्रय में जीविका के निमित्त संचित अन्न का विक्रय करते, फलतः अभाव का स्थान ज्यों का त्यों तो नहीं, फिर भी बना रहता है। जमींदार को अन्य आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने में यह सुविधा या कठिनता नहीं होती, चूँकि भूख की आवश्यकता से अधिक के लिए शेष भाग संचित रहता ही है।

इस प्रकार समाज की स्थापना हो जाने पर भी यह प्रबन्ध अनुचित था। यद्यपि आगे चलकर धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी होते गये किन्तु अनुभव के अभाव में इस प्रकार की आर्थिक-व्यवस्था कुछ दिनों तक अपना कार्य करती गई। फ्रांस की बौद्धिक-क्रान्ति का निर्माण ही ऐसा था कि मस्तिष्क-शक्ति ने अपना सफल कार्य किया। विद्रोहात्मक भावना की व्यापकता या प्रबलता वहाँ न थी। रूस की क्रान्ति, बुद्धि को गौण रखती थी, और शारीरिक शक्ति को मुख्य।

फ्रांस की अपेक्षा रूस का आर्थिक-स्वरूप सम्यक् और कुछ अंशों में दृढ़ भी था। नेपोलियन के मजदूरों की दशा दयनीय थी। किन्तु फ्रांस के समाज-वादियों ने उनका भी कोई सुनिश्चित मार्ग स्थिर किया। नेपोलियन के युग में क्रान्ति की आधार-भित्ति वही मजदूर था। परन्तु अत्यन्त वृद्धि के कारण [illegible]

कार्य की स्वाभाविक उन्नति के लिये कल-कारखानों की सर्जना अधिक होती गई और कुछ मजदूरों को स्थान मिलने लगा। चूँकि विज्ञान-शक्ति को कन्ट्रोल करने वालों की भी वृद्धि होती गई। अतः उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी। इसके अतिरिक्त सामान्य धातु की कलों में मिस्त्री जैसे मजदूरों की जगह बनी की बनी रही। इनके लिये मजदूरी की पूर्त्ति की व्यवस्था के लिये आर्थिक स्वरूप दूसरे ढंग से निश्चित किया गया। किन्तु कुछ ऐसी त्रुटियाँ इतना पर भी रह ही गईं जो औद्योगिक-निर्माण के मजदूरों की पूर्त्ति के लिये अर्थ की वास्तविक-व्याख्या के रूप को स्थिर करने में असफल हुई। मार्क्स के आर्थिक-सिद्धान्त में ये त्रुटियाँ नहीं थीं। किसान-मजदूर और जमींदार, दोनों को उनके परिवार के अनुसार वर्ष भर के लिये अन्न की ऐसी व्यवस्था कर दी, जिसने किसी को अभाव में नहीं रखा। इसके बाद अवशिष्ट अन्न से अर्थ बना कर, राष्ट्र के कोष में संग्रह करने का अधिकार सूत्रधारों को दिया गया था, यह कोष सर्वसाधारण की रक्षा के निमित्त रहता था।

उद्योग-धन्धों में इसका उपयोग होता था। उद्योग, व्यापार, मेशीन के क्रय-विक्रय द्वारा जो आय होती थी, तदजनित अर्थ का भी यही प्रकार था। आवश्यक व्यय के पश्चात शेष अर्थ राष्ट्रीय कोष में जमा कर दिया जाता था। मार्क्स के मनोवैज्ञानिक आर्थिक-विश्लेषण से जर्मनी ने लाभ नहीं उठाया। वैज्ञानिक युग में उसके आर्थिक सिद्धान्त सार्वभौम वर्ग या जनता के कल्याण में बाधक न थे। समाजवाद की जड़ में क्रियात्मक आन्दोलन को सफलता प्राप्त करने-कराने में उसके सिद्धान्त अवलम्ब, सम्बल का कार्य करते थे।

धार्मिक भावनायें, सांस्कृतिक मान्यतायें इस आर्थिक सिद्धान्त को नहीं मानती थीं, चूँकि इनके लिये कोई प्रबन्ध न था। मार्क्स के अर्थ सिद्धान्त में इनको स्थान नहीं प्राप्त था। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में निश्चय ही वैज्ञानिक आर्थिक-विवेचना की आवश्यकता थी, परन्तु सांस्कृतिक मान्यतायें इसमें रोड़ा प्रमाणित नहीं थी, फिर भी उनकी उपेक्षा हुई। साधारण निम्न-वर्ग की पूर्वकालिक क्रिया वर्त्तमान भौतिकवाद का इस प्रकार समर्थन करने लगी कि वे सब मान्यतायें विलुप्त होने लगीं, जिनका मानवता के निर्माण में एक बड़ा हाथ था।

नवीन औद्योगिक-आर्थिक योजना में मानवता के प्रचार-साधन का अभाव था। बुद्धि की प्रधानता के लिये उन माननीय मान्यताओं को महत्त्व नहीं दिया गिया, वे आडम्बरयुक्त प्रतीत हुईं, किन्तु थोड़ा बहुत परिस्कार हो जाने पर सब क्षेत्र की ओर सफलता प्रदान करने में वे सहायक सिद्ध होतीं।

साम्यवाद की बौद्धिक क्रिया में इनसे क्षति नहीं पहुँचती। बुद्धि-प्रधान व्यक्ति ईश्वर की सत्ता नहीं मानता था, धर्म की महत्ता उसे स्वीकार न थी। आर्थिक योजना में उसके जानते इनके परित्याग से विशेष सुविधा प्राप्त हुई। किसान-मजदूर में पूर्व वर्त्तमान की एक ऐसी सम्भावना थी जो तथागत पर विश्वास करने को प्रेरित करती थी।

व्यक्ति में अन्ध-प्रज्ञा भी थी, परन्तु गोचर-तत्वों में इनका स्थान था। मार्क्स के आर्थिक-सिद्धान्त में एक ही वर्ग का जोर देकर प्रश्न उठता था, सिर्फ मेशीनी-निम्न वर्ग का। किसानों की परिस्थिति में भी अच्छा सुधार हुआ, किन्तु सर्वत्र प्रधानता उन्हें ही दी जाती थी। इसका सबसे कारण यह था कि रूस के विधायकों की दृष्टि में ये किसान-मजदूर, सैन्य की वृद्धि के लिये विशेष कार्य नहीं करते थे। परन्तु इसमें उनका दोष नहीं। उनकी मूढ़ता का दोष था, जिसका परिणाम सर्वथा सम्भव था, यद्यपि मेशीनी मजदूरों की मूढ़ता के लिये भी कोई बौद्धिक उद्योग नहीं किये गये। किन्तु किसान-मजदूरों की अपेक्षा साधारण चालू बुद्धि का उनमें अभाव न था, नागरिक-वातावरण का वे परिचय रखते थे, अपनी आवश्यकताओं, परिस्थितियों को समझने का उन्हें अच्छी तरह ज्ञान था। और उन्हीं के उपयुक्त सर्वप्रथम आर्थिक-सिद्धान्तों का निरूपण भी हुआ। आगे चलकर जब विशेष रूप से किसान-मजदूरों की सहायता अपेक्षित हुई तो उनके लिये भी आर्थिक-योजना के कुछ नियमों में वृद्धि हुई जो उनकी परिस्थितियों के सुधार में प्रयत्नवान् हुई। साधारण के लिये जो अर्थ का निरूपण था, उसमें कुछ भिन्नता थी, और उद्योगशील मेशीनी मजदूरों के आर्थिक-निरूपण में अन्य प्रकार का विभिन्न रूप से प्रश्रय लिया गया।

यद्यपि ये दो विभिन्न निरूपण एक दूसरे के बाधक नहीं थे, फिर भी इनके प्रकार में विशेष और कुछ अल्प का प्रश्न उठ सकता था, परन्तु इस आर्थिक रूप में लोगों का विश्वास इतना अधिक था कि कोई विरोध में अपनी आवाज नहीं उठा सकता था। ये आर्थिक निरूपण समाजवाद को बल देने और जनमत का सहयोग प्राप्त करने का अनेक सुविधायें देते थे। प्रजा-वर्ग की स्थिति को पूर्ण वैज्ञानिक बनाने के लिये जो आर्थिक व्यय का रूप स्थिर हुआ, उसके लिये कर लगाने का प्रश्न उठने वाला था। इस सम्बन्ध में एङ्गिल्स ने सुधार के विचार किये; जिसमें कहा गया था, कर लगाने के विचार दूषित हैं, पूर्व आवृत्तियाँ होंगी, और जनता को हमारे समाजवाद में विश्वास नहीं होगा। वस्तुत: उस समय ऐसा हुआ होता तो समाजवाद की

शक्ति सुदृढ़ न होती, मजदूरों की सच्ची सहानुभूति उसे प्राप्त न होती। पीछे अनुभव प्राप्त कर लेने पर समाजवाद के कोई भी नियम स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं होती, किन्तु जब परिस्थिति अभी डाँवाडोल ही थी, वैसी स्थिति में उनके मस्तिष्क में सन्देह, शङ्का की भावना का उठना, स्वाभाविक था। बुद्धि का आरोप भी न हुआ था, अभी वह भावना सिर्फ इस लिये विधायकों को पहचानती थी कि आगे बढ़ने की उन्होंने प्रेरणा दी थी, साथ ही हमारा नेतृत्व भी किया था।

उनके निर्मित किसी भी बाद पर तुरत विश्वास करने के लिये उन्हें ऐसी सुविधा देनी आवश्यक थी जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होती, अविलम्ब क्लान्त मजदूरों के लिये कर या चन्दा माँगना, अभी अनुचित और अपने पक्ष में अहित कर था। साम्यवाद की बौद्धिक क्रिया का प्रचार ही इस समय सबके पक्ष में अच्छा था। मध्यवर्ग के अवशिष्ट जनों के लिये आर्थिक सिद्धान्त का यह रूप था कि हाथ-पैर हिलाने पर आवश्यक वस्तुओं के क्रम के लिये द्रव्य दिये जाते थे, परन्तु ऐक्य भाव के अभाव तक को प्रकट करने के अधिकार नहीं दिये गये थे। समाजवाद के सिद्धान्त जब उन्हें मान्य हो गये, साम्यवाद की बुद्धि-अभिव्यक्ति सन्तोषजनक प्रमाणित हो गई, तब जनमत में उनको भी स्थान प्राप्त हुआ। भूमि-उत्पादन-व्यय में जो अर्थ की आवश्यकता होती थी, वह कोष से देने के लिये तय हुआ, किन्तु पीछे चल कर यही स्थिर रहा कि किसान-मजदूर अपना व्यय करें। और उपज के अनुसार अन्न, अर्थ के रूप में ले लेंगे। उपयोग में व्यक्ति के व्यापार का महत्त्व घट गया, मार्क्स ने अब उनके लिये कोई विचार नहीं प्रकट किया।

समाजवाद के विकास के लिये मार्क्स की अपेक्षा 'एडिमस्मिथ' के आर्थिक-विचार अधिक बलवान प्रतीत होंगे। उद्योग-धन्धे, व्यापार और उसके नियत के जो स्वरूप उसने स्थिर किये, उनमें आर्थिक दृष्टिकोण की प्रशंसा की जायगी। बाजार में क्रय-विक्रय के लिये प्रथम आर्थिक व्यवस्था करना उसकी दृष्टि में आवश्यक था। मेशीन-मिल पर स्वत्व स्थापित करने का अधिकार सामाजिक विधायकों को होना चाहिये था। जिसके परिणाम में आर्थिक-योजना को सफल बनाने में सफलता मिलती। वैज्ञानिक उन्नति के विकास के लिये कोष की वृद्धि अनिवार्य थी। स्मिथ इसके लिये ऐसे नियम का निर्माण करना चाहता था जो आमद के सब भाग को अपना अधिकार में रखने के पक्ष में था। मार्क्स का यह विचार न था, वह आमद का कुछ ही भाग कोष में संग्रह करना चाहता था, शेष भाग, वस्तुओं के क्रय में लगाने के लिये

व्यवस्थापक या संस्थापक को अधिकार देना चाहता था। किसानों के बीच के भूमि-पक्ष को समझने के लिए भी कुछ अर्थ की आवश्यकता थी, जिसके लिए मार्क्स अलग फण्ड खोलना चाहता था, दूसरी ओर स्मिथ के लिए इसकी आवश्यकता ही नहीं थी।

मार्क्स अपने समस्त दृष्टिकोणों को समाजवाद के हित-पक्ष में ही लगाना चाहता था। श्रम सिद्धान्त निरूपण में भी जहाँ तक अर्थ का सम्पर्क था, वहाँ तक समाजवाद को ही सम्मुख रखा, भौतिकवाद और उपस्थित परिस्थितियों का पोषक होने के कारण, इनके लिए आर्थिक सत्ता कायम करने की प्रवृत्ति थी, परन्तु विचार शक्ति ने समझाया, जनमत साथ न देगा, अतः इसमें उसे सफलता न मिली। प्रत्येक कार्य के लिए उसकी दृष्टि में जनमत अपेक्षित था, इसकी उपेक्षा करने में अब उसने अपनी हानि देखी। लेनिन, भौतिकवाद के आधार को सुदृढ़ करने के पक्ष में था, कुछ समय तक उसकी समझ भी यही थी, परन्तु मार्क्स के निर्दिष्ट कार्य उसे भी हितकर ही प्रतीत हुये। समाजवाद का पक्षपाती, भौतिकवाद का समर्थक होगा ही, यह वैज्ञानिक युग का प्रभाव है। परन्तु सर्वत्र की परिस्थितियाँ, मेशीनी नहीं हैं, अतः भौतिकवाद की इतनी सार्थकता नहीं सिद्ध करनी चाहिये।

भौतिकवाद से प्रभावित समाजवाद का आर्थिक दृष्टिकोण किसी भी व्यवस्था के निर्माण में सहायक नहीं प्रमाणित होगा। जन वर्ग को पुनः आन्दोलन करने की जरूरत होगी। साम्यवाद की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं से प्रभावित सामाजिक दृष्टिकोण में स्थायित्व सम्भव है। इसलिए साम्यवादी कभी-कभी भौतिकवाद के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हैं। अराजकता के पृष्ठपोषक भी भौतिकवाद के आधार को स्वीकार करते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार नागरिक समाज की स्थापना में, उसके नियम अच्छे ही कार्य करेंगे। मानव के ह्रास को रोकने की उन नियमों में सामर्थ्य है।

परन्तु भौतिकवाद, विज्ञान की उन्नति में भले ही सहायक सिद्ध हो, मानवता के विकास में वह बाधक ही प्रमाणित होगा, चूँकि जनता के लिए उसके जो सैद्धान्तिक विचार हैं, वे साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के प्रकारान्तर रूप से प्रतिशब्द हैं। अधिकार का उपयोग करने के लिए, एक प्रकार से साम्राज्यवाद के ही नियम का पालन करते हैं। रूस का भौतिकवाद अन्य उपकरणों से निर्मित साम्राज्यवाद के आधार पर पलित भौतिकवाद को अनैच्छिक रूप से एक ओर स्थान देता है। सर्वात्मवाद भौतिकवाद की क्रिया

का सजग रूप है। मार्क्स की आर्थिक-विवेचनाएँ भौतिकवाद की नैतिक क्रियाओं को ही स्वीकार करती हैं, शेष भौतिकवाद के सिद्धान्त उसे न अप्रिय हैं न प्रिय। हाड़-मांस के बने मानव की सत्ता के लिए ही सब कुछ करना उसे अच्छा प्रतीत होता है। बाजारू-जीवन आडम्बरता से परिपूर्ण है, किन्तु उसके आर्थिक-सिद्धान्त इसकी उपेक्षा करते हैं। मानवीय जीवन को सन्तुष्ट और पूर्ण बनाने के लिए भौतिकवाद अपनी आर्थिक-योजना में एक विचार पर, एक सिद्धान्त पर अधिक जोर देता है कि मानव अपने व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए अपने वातावरण को अभाव में न घिरा रहने दे।

हठपूर्वक याचना पर भी अधिकार की प्राप्ति करे और अपनी श्रम-कीमत चुकवाये, विरोध में, विद्रोहाग्नि का भी प्रश्रय ले, परन्तु इस आर्थिक-व्यवस्था के युद्ध से समाजवाद की आर्थिक या कोई भी भित्ति सुदृढ़ नहीं होने की। यद्यपि मार्क्स भौतिकवाद का विरोधक नहीं, किन्तु साम्यवाद की विरोधी क्रिया (भौतिकवाद) के पक्ष में वह नहीं है। विज्ञान के बल पर, प्रच्छन्न रूप से उसका प्रश्रय लेकर जीने वाले भौतिकवाद के आर्थिक सिद्धान्त किसी भी वर्ग के लिए शायद ही हितकर हों। योरप चूँकि इसके विकास को स्वीकार करता है, सिद्धान्त को अपने हित-पक्ष में ग्रहण करता है, अतः उसके प्रभाव यहाँ भी परिलक्षित होते हैं।

आधुनिक भारत उसका अनुग नहीं बनता तो शायद उसके सिद्धान्त उसे मान्य नहीं होते, यहीं के जमीन्दार और कृषकों, मिल और मजदूरों की परिस्थिति भी उससे सर्वथा भिन्न है, फिर भी उसके सिद्धान्त स्वीकृत हो सकते हैं, यह मान्य नहीं, किन्तु वास्तविकता से दूर रहने वालों को इसका ज्ञान नहीं। मार्क्स के विचार, जो जीवन के उत्तर पक्ष के समर्थक हैं, की कुछ साम्यवादी क्रियायें यहाँ के लिए स्वीकृत हो सकती हैं। आर्थिक दृष्टिकोण भी भारतीय बाजार में स्थित मजदूरों के लिए अनुकरणीय हो सकते थे, यदि अपनी परिस्थिति के अनुकूल कुछ परिवर्त्तन हो जाता।

व्यापारिक मस्तिष्क रखने वालों के लिए मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त वहाँ कुछ सहायता कर सकते हैं जहाँ वस्तुयें बेंची और विदेश में भेजी जाती हैं। छोटी-छोटी दूकानों के विक्रेता उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते, चूँकि थोक वस्तु का उनके यहाँ से निर्यात नहीं होता। क्रय-विक्रय में व्यक्तिगत व्यापारी के लिए जो उसके विचार नियत हैं, वे शायद इनकी अधिक से अधिक सहायता कर सकें। साम्यवाद की भावना विशिष्ट शक्ति को लेकर भारत के

अनुकूल बनकर अपना व्यावहारिक-सिद्धान्त का प्रभाव स्थापित करे तो मेरे जानते इसके आर्थिक स्वरूप में भी हितकर ही परिवर्त्तन आयेगा।

जीवन को कर्म की प्रवृत्ति के उपयुक्त बनाने में पारिवर्तित यह आर्थिक-स्वरूप वर्ग को वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति में लाभ पहुँचायेगा। बौद्धिक-व्यापार से यथा, परचून की बड़ी-बड़ी दूकानों और विस्फोटक पदार्थ प्रस्तुत करने वाले कारखानों, उच्च से उच्च कार्य के उपकरण को एकत्र करने वाले विज्ञान की कलों से निम्न वर्ग को परिचित कराया जाय तो अपने श्रम के अनुसार वह उतना प्राप्त कर लेगा, जितना से उसका पेट सुविधापूर्वक भर सकता है। बाधा की सम्भावना तब थी जब साम्यवाद का विस्तार या प्रसार न हो गया होता, बल्कि इसके प्रचार के परिणाम-स्वरूप ही तो भारतीय समाजवाद की स्थापना भी हो चुकी रहेगी। वैसी दशा में उसके मार्ग का रोड़ा कोई प्रमाणित न होगा। परन्तु बौद्धिक व्यापार की ऐसी सामग्रियाँ अभी भारत में अधिकता से नहीं हैं। बल्कि विस्फोटक पदार्थों को प्रस्तुत करने का कम ही को अधिकार प्राप्त है, उनका नाम अँगुलियों पर गिनाने में शायद एक ही दो आये। वैज्ञानिक सामग्रियाँ तो यहाँ तैयार हो ही नहीं सकतीं, इसलिए नहीं कि इसके अधिकारी यहाँ है ही नहीं, वरञ्च इसलिए कि उन्हें इसका अधिकार ही नहीं प्राप्त है।

साम्राज्यवाद के आर्थिक दृष्टिकोण के अनुसार इसमें उनकी विशेष हानियाँ हैं। मार्क्स के समाजवादी विचार वर्ग के अभाव को दूर करने के लिए जैसे अधिक प्रयत्न-भाण्डार हैं। उसी प्रकार वही उसकी आर्थिक-विवेचनायें आवश्यकताओं की पूर्त्ति में विशेष सक्षम हैं। भारतीय मार्क्स की आर्थिक-विवेचनाओं से अधिक लाभ उठा सकते हैं।

समाजवाद की नींव हिंसा-क्रूरता का कार्य न होता तो वे पूर्ण लाभकर सिद्ध हो सकती थीं। परन्तु संस्कार की प्रधानता, संस्कृति-सभ्यता की प्रबलता को स्वीकार करने का निषेध न होता तो वही समाजवाद इनके लिए भी अनुकरणीय प्रमाणित होता, विध्वंस, विनाश की प्रवृत्ति का किसी भी दिशा में स्वीकार, इसके लिए अनिष्टकर ही होगा।

मार्क्स के समाजवाद में जहाँ आर्थिक सिद्धान्त का निरूपण है, वहाँ संस्कृति के विध्वंस का भी निर्दिष्ट संकेत है। साधारण स्थिति से परे रहने वालों की संख्या अत्यल्प नहीं हो सकती, मार्क्स इस पर अधिक विचारने के लिए प्रस्तुत नहीं। साधारण, सिर्फ़ साधारण से ऊपर के विषय में उसके

विचार जीवन-पक्ष में संकीर्ण भी हो सकते हैं। चूँकि व्यावहारिक सिद्धान्तों को वहाँ जरा दूर रखा है। वर्ग के इस प्रकारान्तर रूप में इसकी नितान्त आवश्यकता है। व्यावहारिक-दृष्टिकोण के साथ आर्थिक-विवेचनायें हुई होतीं तो जनमत की भी अभिव्यक्ति उसी समय हो जाती। आज की आत्मिक परिस्थितियाँ युद्धजनित कठिनताओं से परिपूर्ण हैं।

इसलिए तात्कालिक कार्य के आर्थिक-दृष्टिकोण के स्थायित्व के विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ कह सकना कठिन है। विश्वयुद्ध की परिचालन-शक्ति में अर्थ की नींव मजबूत रखनी आवश्यक है। प्रजा राज्य के लिए तो मार्क्स का निर्णय था, आक्रमण के निमित्त सब व्यापारिक औद्योगिक क्षेत्रों के अवशिष्ट लाभ-भाग कोष में संगृहीत हों जो आक्रमण-काल में काम आयेंगे। परन्तु वर्त्तमान युद्ध में वह कोष अक्षुण्ण न रहा, जिसके लिए भू-श्रम के अतिरिक्त किसान-मजदूरों से युद्ध के उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत कराने में श्रम लिया गया। उस श्रम के परिणाम में जिस परिवार के व्यक्ति ने श्रम किया, उसे भोजन मात्र दे दिया गया जिसमें व्यय का आधिक्य न हुआ। परिवार के लिए भूमि की व्यवस्था, उसके अनुपात के अनुसार कर ही दी गई थी, जिससे उनके अन्य व्यक्तियों को सुविधापूर्वक भोजन प्राप्त हो ही जाता था। इस नियम या व्यवस्था के कारण साम्यवादी या समाजवादी अधिनायक को अर्थ की बजत और वृद्धि के लिए विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ी। आक्रमणकाल में अपनी-आर्थिक नींव सुदृढ़ रखनी चाहिये। प्रजा-वर्ग मिला रहेगा, तो इसके लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

स्वतन्त्रता की भावना से परिपूर्ण रहने के कारण उसका अपहरण उन्हें असह्य होगा, फलस्वरूप निस्वार्थ भाव से अपनी देश-रक्षा के हित सब प्रकार से सहायता करेंगे। प्रेरक-कार्य या विधियाँ नहीं करनी होंगी। जर्मनी, ब्रिटिश उपनिवेशों में इसकी जबर्दस्त आवश्यकता होती थी। प्रोपेगण्डा के निमित्त उसे अधिक से अधिक व्यय करने पड़े, आक्रमण का सामना करने के लिए प्रेरकों की नियुक्तियाँ तक हुई, परन्तु रूस को इसकी जरूरत नहीं महसूस हुई। सरलतापूर्वक उसने अपने कार्य किये। मार्क्स के विचार और सिद्धान्त लेनिन के आन्दोलन कामों ने इस युद्ध में सहायता दी। आवश्यक वस्तुओं का निर्यात भी रोक दिया गया था, अपने ही लिए निर्माण अधिक हो रहा था। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बुद्धिवादी सुव्यवस्थित करें तो आर्थिक-स्वरूप निश्चय पर अवश्य विचार हो सकता है कि सम्पूर्ण मानव

के लिए किसी एक वर्ग का निर्माण कर आकस्मिक आक्रमण के उत्तर के लिए अपने आर्थिक-कोष की वृद्धि का क्या प्रकार हो।

जीवन की सर्वप्रथम आवश्यकतायें पूर्ण हों, तत्पश्चात् उनके क्रम की विधियाँ निश्चित हों, इस अनुरूप से वाह्य व्यवस्था भी मानववर्ग के पक्ष में हित-साधना करेगी और निस्वार्थ भावना का आरोप करेगी, स्वतन्त्रता का ज्ञान प्राप्त करायेगी। और जब स्वतन्त्रता के वे पुजारी हो जायेंगे तो फिर संसार की कोई भी शक्ति उनका सामना करने को शीघ्र प्रस्तुत न होगी, होगी भी तो शायद ही सफलीभूत हो। पारिवारिक-पोषण के निमित्त जो मार्क्स के आर्थिक-विचार थे, वे अधिक प्रशस्त और सुदृढ़ थे। मानव-जीवन की उसमें सार्थकता हो सकती है. यदि उसका दुरुपयोग न हो, अन्यथा वे विचार अन्यों के लिए त्याज्य प्रतीत होंगे। उसके अनुसार उद्योग-धन्धे के परिणामगत आर्थिक-सिद्धान्त सबल हुये।

भारत के औद्योगीकरण में उससे भिन्नता है, अत: उसकी योजना पर पृथक् दृष्टिकोण से विचार होना चाहिये परन्तु बिना भारतीय समाजवाद की स्थापना के यह स्थायी विचार होना कठिन तो नहीं, किन्तु हितकर शायद न हो। भारतीय उद्योग में कोई भी नूतन परिवर्त्तन तब तक उचित न होगा, जब तक उसके प्रत्येक मूल पर अच्छी तरह विचार न लिया जाय, अन्यथा कल्याणकारी आर्थिक स्वरूप भी निश्चित नहीं हो सकते। नागरिक उद्योग के प्रकार में रूस के वैज्ञानिक-उद्योग स्थान पा सकते हैं। परन्तु ग्रामीण उद्योग-धन्धे के प्रकार उससे सर्वथा भिन्न होने चाहिये। इसकी नवीन-योजना में आर्थिक महत्त्व भी विशिष्ट रहेगा :—'यह सही है कि भारत के औद्योगीकरण की नवीन योजना बनाने से पहले हमें उसके प्रत्येक पहलू पर पूरी तरह विचार करना होगा।

ग्रामीण उद्योग-धन्धे पर एक का हमारी नवीन-योजना में और हमारे आर्थिक-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।* भारत के उद्योग प्रकार में विचारों की संकीर्णता अधिक रोड़ा प्रमाणित होती है। वर्त्तमान प्राय: सब उद्योगों में साम्राज्यवादियों का स्वार्थ प्रबलता से कार्य कर रहा है, अतः साधारण मानव उसके द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने में अक्षम है। अनुकरण के आधार पर सामाजिक परिवर्त्तन के अनुसार औद्योगीकरण में बेकारी की समस्या हल करने के लिए मार्क्स के आर्थिक विश्लेषण को स्थान

---

*विश्ववाणी १९४२, अप्रैल।

देना कहाँ तक, किस सीमा तक उचित होगा, इस पर ध्यान देना अनिवार्य है। कारखानों की मेशीनें धीरे-धीरे बेकारी और बढ़ा रही हैं, मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है।

वैसी स्थिति में आर्थिक-विचारों की स्वस्थता और मानव-जीवन के साथ के सम्पर्क में उसकी सार्थकता का आधार-विश्लेषण व्यक्ति-व्यापार में ही सीमित नहीं रहना चाहिये। ऐसा हुआ तो आर्थिक दृष्टिकोण भी अत्यन्त संकुचित और त्याज्य हो जायगा।

मार्क्स ने व्यक्ति की व्यापारिक-शक्ति का कोई महत्त्व नहीं दिया है। आर्थिक-सिद्धान्त में उनका नाम आ जाने के पक्ष में भी वह नहीं था। साम्यवादी आधार के प्रचार में भी उनकी सत्ता को महत्त्व देना, समाजवादी कमजोरी समझता था। आर्थिक-जीवन की व्यापकता भी इससे नहीं सिद्ध हो सकती। वर्त्तमान-परिस्थिति युद्ध की विभीषिकाओं से घिरी है, अतः भविष्य के लिए आज ही आर्थिक-स्वरूप हम निश्चित नहीं कर सकते। समाजवाद का स्वरूप स्थिर होने के पूर्व जितने भी उद्योग-सम्बन्धी हमारे विचार या निर्माण-योजनायें होंगी, वे पूर्ण व्यर्थ तो नहीं फिर भी आंशिक व्यर्थ सिद्ध हो सकती हैं। भारत की जन-संख्या के अनुसार कोई भी वर्त्तमान औद्योगीकरण अनुचित एवं बेकारी को दूर करने में एक प्रकार से निष्फल है :—
'औद्योगीकरण से हमारे यहाँ की बेकारी समस्या किसी तरह हल नहीं हो सकती। हिन्दुस्तान में जो लोग इस समय कल-करखानों में काम कर रहे हैं, उनकी तादाद लगभग बीस लाख है। यदि इस तादाद को दूनी भी कर दें, तब भी चालीस करोड़ आदमी में चालीस लाख व्यक्तियों की क्या गिनती।*

इन चालीस करोड़ व्यक्तियों के अनुपात के अनुसार ही औद्योगीकरण के स्वरूप पर विचारा जाना आवश्यक है। आर्थिक-जीवन के स्वरूप-निश्चय में भी तब ही सफलता मिलनी सम्भव है। और ऐसी ही स्थिति में मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त भी भारतीयों के लिए कुछ स्थिर करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। बाजार के व्यापार की दृष्टि में स्वार्थपरायणता अधिक रहती है, जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त के लिए भी उसके पास द्रव्य आ जाते हैं। व्यापारी की प्रवृत्ति संग्रह की ओर अधिक रहती है। 'आइन्स्टाइन' के मन्तव्यों के अनुसार समाज की क्रियात्मक-शक्ति को व्यवहार में लाकर, रूस के साम्यवाद का उसमें समाविष्ट करने के पश्चात् मार्क्स के आर्थिक-सिद्धान्त को अपना रूप दे तो उस स्वार्थी व्यापारी की स्वार्थ-प्रवृत्ति को

* विश्ववाणी, अप्रैल १९४२।

कहीं भी प्रश्रय मिलने की सम्भावना नहीं। व्यापार के साधारण नियम ही ऐसे निर्मित्त होंगे, जो अन्यथा का अवसर नहीं देंगे।

संबद्ध हो संयम की सीमा में व्यापार का रूप ही ऐसा स्थिर होगा जो व्यक्ति व्यापारी को अधिक-लाभ पर नहीं सोचने-विचारने को बाध्य करेगा। निषेध और आग्रह पर व्यापार-स्वरूप में अर्थ की क्रिया निश्चित हो जायगी। भारत को अपना नई आर्थिक-योजना में 'एडिम-स्मिथ' के व्यक्ति व्यापार के आर्थिक स्वरूप एवं मार्क्स के सामूहिक समाजवाद को पसरने के लिए भूमि-अर्थ के निमित्त नियन्त्रण को स्थान देना चाहिये।

उद्योग और लाभ, वस्तु और निर्यात, मिल और परिश्रम के वास्तविक विश्लेषण में मार्क्स ने जो अर्थ की क्रिया-प्रक्रिया निश्चित की है, उस पर अपनी स्थिति के अनुकूल कुछ स्थिर कर लेने का स्थान ढूँढ़ना चाहिये। ऐसा न हो कि खोखले प्रोपेगेण्डा के आधार पर टिकने वाले कम्यूनिज़म से प्रभावित होकर अपनी स्थिति की अनुकूलता पर विचारे बिना ही मार्क्स के साधारण, सिर्फ के उपयुक्त निश्चित आर्थिक-स्वरूप को अपने यहाँ स्थान दे बैठें। ऐसा करना अनुकृति कहलायेगा।

मार्क्स और समाजवाद

जन-वर्ग को अभाव से बाहर निकालने के लिए सुख-पूर्वक जीवन-यापन करने के निमित्त और उचित श्रम की प्राप्ति के लिए समाजवाद का स्वरूप निश्चित हुआ। साम्यवाद की बौद्धिक प्रेरणा निम्न जनों को भी दी जाय, इसके लिये आन्दोलन करने पड़े। मार्क्स बुद्धिवादी था, किन्तु लोगों को बुद्धिजीवी बनने देना, उसे इष्ट न था। मेशीनी-विज्ञान की व्यावहारिक-अभिव्यक्ति को भौतिकवाद का स्वरूप देकर उसी के अन्तर्गत पलने के लिए अपने सिद्धान्त स्थिर करता था, यह जानते हुये भी कि समाजवाद और भौतिकवाद में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है।

जागरुकता भरने की सबसे अच्छी जगह, उसके जानते भौतिकवाद में है, यह जानते हुये कि उसका सबसे बड़ा साधन और सदन समाजवाद है। समाजवाद जीवन दर्शन को सबल नहीं बनाता है, परन्तु उसके प्रकार अवश्य बताता है। कर्त्तव्य की रूप-रेखा पर चलने वाले मानव के लिए आदर्श का अनुसरण करना अनुचित है, समाजवाद का यह सङ्केत है। यथार्थ को जीवन का सम्बल मानकर, उसका अनुग बनना, सर्वथा उचित है, भविष्य में भी वह सहायक ही सिद्ध होगा, समाजवाद का यह निर्देश है। परन्तु व्यापक दृष्टिकोण का

इसमें अभाव है। वर्गीकरण की परिस्थितियाँ संकुचित रहती हैं, उसकी अस्वाभाविकता को दूर करने के निमित्त आदर्श और यथार्थ का सम विश्लेषण और उसीके अनुरूप समाजवाद की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की ओर कम ही का ध्यान रहा। सत्य, जीवन आदर्श का मापक हो सकता है और यथार्थ का मार्ग भी निर्दिष्ट कर सकता है, परन्तु विधियों के प्रकारों में उसकी अनुकूलता रहनी चाहिये।

अनुकृति में असत्य वातावरण की स्थिति अनिवार्य सिद्ध है, फिर भी प्रज्ञावाद की क्रिया को स्वीकार कर परिवर्त्तन-द्वारा अपना रूप देने में कोई विशेष हानि नहीं, यदि है भी तो उसका सुधार मेरे हाथों में है। प्रज्ञावाद यद्यपि भौतिकवाद से पुष्ट समाजवाद के स्वरूप को ही स्वीकार करता है, परन्तु वैषम्य भावना के विचारों में उसका अन्तर रहता है। जीवन-पक्ष को बौद्धिक, हाँ, सम्पूर्ण बौद्धिक बनाने के पक्ष में है जो सत्य पर आश्रयभूत है। प्रज्ञावाद की दृष्टि संकुचित नहीं कही जा सकती, किन्तु साधारणस्तर से अधिक उन्नत के लिए वह है, चूँकि साधारण या निम्न वातावरण में जीवन-यापन करनेवाले की परिस्थिति से बहुत दूर के लिए उसके विचार दौड़ते हैं, प्रौढ़ता, गम्भीरता रहती है, यह प्रौढ़ता और गम्भीरता निम्नों तक पहुँचने का सामर्थ्य नहीं रखती। इसकी पहुँच तक आने के लिए निम्न ही बनना होगा। परन्तु प्रज्ञावाद, आदर्श को स्वीकार करता है, इस पर जनों का विकास अवलम्बित है, संस्कृतियाँ आधारभूत हैं, ये उसकी मान्यतायें हैं। यथार्थ को इस आदर्श से परे रखना चाहता है, कदाचित इसी विचार ने उसको विकास के साधन-प्रसाधन नहीं दिये। निदान उसे विद्वानों में ही सिमटकर रहना पड़ा।

सार्वजनिक-जीवन पर दृष्टि न डालना, किसी भी वाद के लिए अनुचित है। प्रज्ञावाद, बहुज्ञता पर बल देकर प्रकाश डालता है, किन्तु एक की पूर्णता हुये बिना दूसरे की पूर्णता का प्रयत्न असंगत है। एक का अधूरा रहना और दूसरी की पूर्णता का प्रयत्न करना, अपनी निर्बुद्धि का परिचय देना है। समाजवाद, साधारण तक पहुँचने की सामर्थ्य या योग्यता रखता है। उसके प्रकार इतने संयमित होते हैं कि बाह्य प्रकरण को समाविष्ट होने का कोई मार्ग ही नहीं मिलता। जीवन के बल-प्रकरण में समाजवाद अधिक हितकर प्रमाणित होता है। प्रज्ञावाद उसको सीमा में बाँधने का साधन एकत्र करता है। एक की क्रिया बौद्धिक है जो निम्न के लिए निश्चेष्ट है। दूसरे की भौतिक और वैज्ञानिक है, जो निम्न के लिए सचेष्ट है।

एक में महत्ता का सफल प्रदर्शन है तो दूसरे में निम्नता का दिग्दर्शन।

दोनों के दो शिक्षक और दो शिष्य हैं। जीवन की दो दिशायें स्थिर करने के दोनों दो मार्ग निश्चित करते हैं, जिसमें एक को वर्त्तमान परिस्थिति में सफलता मिलने की आशा नहीं की जा सकती है। किसी भी वाद का प्रधान उद्देश्य रहता है, जन-जीवन को पूर्ण एवं पुष्ट बनाना, साधारण तक पहुँचने का अभ्यास डालना और उसमें अपना प्रभाव डालने की योग्यता रखना! इस अवलोकन पर प्रज्ञावाद की प्रतीति जीवन के उपकरणों के अनुयुक्त प्रमाणित होगी। इसका आंगिक परित्याग भी अनुचित है। मानव की निश्चित सुप्त चेतना अभी भी जागृति में परिणत नहीं हो सकी, यदि उसके अंग-प्रत्यंग पर हम दृष्टि न डालें। वही तो किसी वाद को प्रसरने का अवसर मार्ग देती है।

सहज जीवन की सत्य अनुभूति, मानव को अपने अभाव की पूर्त्ति का प्रयत्न ढूँढ़ने को विवश करती है। अपने आस-पास की परिस्थितियों को पढ़ने का भी अवसर देती है, किन्तु असत्य, सत्य का स्थान ग्रहणकर अनुभूति से विशिष्ट मार्ग का अनुसरण करने को जहाँ बाध्य करती है वहाँ लोककल्याण सम्भव नहीं है। जनतन्त्र की सभी-वैशिष्ट पर भी ध्यान देना मेरा कर्त्तव्य है।

प्रज्ञावाद-भौतिकवाद की क्रिया की स्वीकृति के अवसर पर जनतन्त्र को बली बनाने का प्रयत्न करने के लिए स्वयं भी उद्यत है। ऐसा सिर्फ शब्दों में वह व्यक्त करता है, किन्तु व्यवहार के अभाव जगत् से दूर रहने के कारण उसके मनोबल और सिद्धान्त भी अदृढ़ एवं असंयमित रहते हैं। प्रज्ञावाद का अन्यपरक समभाव की दृष्टि से उचित बुद्धिवाद तत्सम का व्यापक शब्द है।

यदि वह अपने को समाजवाद का प्रतिशब्द घोषित करने के लिए प्रस्तुत है तो यह उसकी संदिग्ध भावना का द्योतक एव पोषक है। समाजवाद [illegible] अधिकार पुष्ट प्रश्न का उत्तर स्वयं अपने व्यवहारों द्वारा देने की क्षमता रखता है, शब्दों, सिर्फ शब्दों पर ही एकदम अवलम्बित नहीं रहता। व्यवहार पक्ष उसका दृढ़ एवं हितकर है। वर्गिक-विधियों का विश्लेषण, भौतिक आधार को सजग, मूर्त्तभाव को लेकर करता है जिसमें जनता की पूर्ण सहानुभूति रहती है। सर्वप्रथम जनतन्त्र के स्वरूप को मापने का साधन ढूँढ़ता है। प्रजावाद मार्क्स को अस्वीकार था। उसके विधान, उसकी दृष्टि में अनुचित और साथ ही कुछ अंशों में घातक भी थे। समाजवाद के साथ उसकी पैठ असंभव थी। मानव-जीवन को पूर्ण बनाने की विधि-निर्माण वह समाजवाद नहीं कर सकता है।

सांसारिक क्रियाशीलता का रूप यह स्थिर कर सकता है। प्रज्ञावाद

सर्वदा गौण प्रश्न लेकर चलता है और समाजवाद शब्द को लेकर। भौतिकवाद की सजगता उसे स्वीकार है, परन्तु भौतिकवाद को उसका कोई भी प्रकार स्वीकार है। वर्ग को बौद्धिक बनाने का वह निष्फल प्रयास करता है। जीवन की क्रिया को मूर्त्त नहीं, अमूर्त्त प्रकट करने के साधन एकत्र करने के लिए वह सचेष्ट रहना, अपना कर्त्तव्य समझता है। समाजवाद की सरलात्मक उद्‌बोधन-शक्ति की व्यापकता के आगे प्रज्ञावाद की कुछ भी नहीं चल सकती।

भाव में अभाव का जीवन असहिष्णु एवं अनिश्चित रहता है, वाद का विधान उसे अन्य की ओर नहीं छोड़ सकता। अधिकार की माँग का उसके आगे कोई महत्त्व न रखना, जनता से दूर रखना सिद्ध करता है। मानव की परिस्थितियाँ अखण्डित एवं अनियमित हैं, अतः उन पर स्थिर हो जाना किसी भी वाद के लिए आवश्यक है। वैसी सबल अवस्था में भी प्रज्ञावाद, उन्नत स्थान पर स्थित के लिये ही सब कुछ करने के निमित्त विधान और सिद्धान्त बनाता है, यह असामयिकता का सूचक है। प्रत्येक द्वन्द्व जीवन में, समय, संसार और उसकी गति का ख्याल रखना होगा, सामयिकता का प्रवेश आवश्यक है, अन्यथा सिद्धान्त की सबलता में सन्देह होगा।

जनमत के उपयोग और उसका समझना, सिद्धान्त की संगत-क्रिया का कार्य है। मानव की अभीप्सित वस्तुयें उसके अनुकूल और अन्यपरक कार्य को उन्नत कार्य करने के लिए अत्यावश्यक 'मैटर' देंगे तो समाज कोई प्रशस्त मार्ग उपस्थित करने में अक्षम रहेगा। सम-भाव को आन्दोलन का रूप देना भी सामाजिक सिद्धान्त की प्रौढ़ अभिव्यक्ति है। रुढ़ि का जीवन निर्बल है, यह कहने के पूर्व रूढ़ि की व्यंजनायें परखनी होंगी।

मानव के साथ रूढ़ि और परम्परा की दौड़ कहाँ तक जा सकती है, इसको अपनी विवेचना के आधार पर तौलना होगा। जीवन के दृष्टिकोण में असफल होने पर, और उसकी अभिव्यक्ति की अस्पष्टता पर नहीं पश्चाताप होने पर मानव-समाज के वैधानिक रूपों पर ध्यान देने के लिए प्रस्तुत होना होगा। अन्तर्जीवन के साधारण विश्लेषण में सामाजिक रूढ़ि के स्पष्ट व्यक्त के आधार पर वर्ग के विभक्त मानव की परिस्थितियाँ मूर्त्त रहती हैं। आंगिक विषय-निर्माण में समपर अवलम्बित होने वाला मानव नितान्त निर्बल प्रमाणित होता है। इसका व्युत्पन्न कारण अपनी जगह से उचित से अनुचित की ओर बह जाना है।

असन्तोष की मात्रा बढ़ जाने की वजह बुद्धि का सक्रिय भाग भी

व्यर्थ, हाँ एकदम निरर्थक सिद्ध होता है। प्रज्ञावाद रूढ़ि या परम्परा का विरोध नहीं करता, परन्तु अन्तर्दृष्टिकोण में उसका सबल चित्रण करने के लिए भी वह प्रस्तुत नहीं। समाजवादी इसका स्पष्ट विरोध करते हैं। जाल-विस्तार की उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। अपने सिद्धान्तों को उलझाने के लिए कुछ करना अपनी कमजोरी समझता है। परन्तु समाजवाद के कई विभिन्न स्वरूप हैं। मार्क्स के सामाजिक दृष्टिकोण के आधार पर विश्लिष्ट साम्यवादी समाजवाद अत्यन्त स्पष्टता का पक्षपाती है। अन्य भोक्ता द्वारा निर्मित समाजवाद स्वार्थ और घिराव का केन्द्र है। उसकी विधियाँ साधारण मानव के लिए अच्छी नहीं हैं। उनसे इनका कुछ सधने का नहीं। यह भुलावा का पक्षपाती है। अपने प्रान्त, देश के अतिरिक्त जिसके आगे विश्व का प्रश्न उठेगा, वह उसीके अनुकूल समाजवाद की स्थापना करना चाहेगा। मार्क्स ने इतना अवश्य चाहा कि मेरा सिद्धान्त विश्व के लिए हो, किन्तु रूस में ही उसके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार हो सका। यों सम-सिद्धान्त को लेकर आन्दोलन का जो स्वरूप था, आज सर्वत्र उसकी व्यापकता सिद्ध हो रही है। भारतीयों में भी ऐसी भावना घर कर रही है कि मार्क्स के सम-सिद्धान्त यहाँ की परिस्थिति सँभाल सकते हैं। किन्तु राज्य-सत्ता की व्यवस्था की भिन्नता कुछ स्थिर नहीं करने दे रही है।

उसके अन्तर्गत पलने वाली समस्यायें तुरत नहीं हल होने की हैं। जनमत के प्रकार भी सामाजिक सिद्धान्त की वास्तविकता के साथ नहीं हैं। विश्व जनीन भावना को लेकर आगे बढ़ने की क्रिया गलत सिद्ध हो सकती है, चूँकि उसमें अपनी अनुकूलता प्रायः नहीं रह पाती है। अनुगमन की रीति वहाँ दोषपूर्ण सिद्ध होती है।

सर्वप्रथम किसी अन्य के सिद्धान्त में अपनी अनुकूलता ढूंढ़नी चाहिये। कर्त्तव्य के रूप पर विचार करने के समय यों सर्वविदित है कि किसी भी सामाजिक-स्वरूप-निश्चय में राज्य-सत्ता की जटिल समस्या सबके सम्मुख आ खड़ी होती है। समाज के इतर भाव भी इसी सत्ता पर निर्भर करते हैं। जीवन की आवश्यकताओं के प्रकार का पता इसमें नहीं है।

वैसी स्थिति में यह सुस्पष्ट है कि उसके स्वरूप स्थिर करने के पूर्व हम किसी भी समाज की व्यवस्था को दृढ़ नहीं कर सकते। मार्क्स के सिद्धान्त में सामाजिक-व्यवस्था की समस्त स्थिति जीवन की आवश्यकताओं पर अवलम्बित

थी। वहाँ उसके सिद्धान्त कुछ अधिक सबल प्रतीत होते हैं, जहाँ जीवन की रक्षा को लेकर समाज के निर्माण पर जोर देते हैं। जनमत उसके पक्ष में हो जाता है। सांस्कृतिक भावनायें, जहाँ त्याज्य भी हो जायँगी, तब भी उस समाज में स्थायित्व रहने की सम्भावना है, इसलिए कि जन उसके पक्ष में है। अपनी दृष्टि में मार्क्स ने सांस्कृतिक भावनाओं को विरोध-सामग्री एकत्र करने का साधन समझा। यद्यपि सिर्फ़ बाह्य दृष्टि या बाह्य भावनायें ही यहाँ कार्य नहीं करती हैं, अपितु राजनीति की आन्तरिक संयमी भावना का चातुर्य भी अच्छी तरह अपना कार्य करती है। कर्त्तव्य पक्ष की दुर्बलता पर उसका ध्यान नहीं था।

प्रत्येक कार्य के रोड़ा में सांस्कृतिक भावनाओं की गणना थी। विचारों में दम्भ का भी आभास दृष्टिगोचर होता है। इङ्गलैण्ड के बृहत पुस्तकालय के अध्ययनकाल में जब उसने समाजवादी कुछ जनों के बीच भाषण दिया था तो स्पष्ट कहा था :—समाजवाद को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण और उसके व्यावहारिक विकास तभी सम्भव होंगे, जब हम रूढ़ि या सांस्कृतिक भावनाओं का बिलकुल परित्याग कर दें। मेरी उक्ति या सिद्धान्त पर विश्वास करने में जन-वर्ग का अत्यन्त हित है।

यद्यपि मार्क्स का विश्वास या उसकी धारणा असत्य और व्यर्थ नहीं हुई, फिर भी दम्भ का आभास मिल सकता है। यह भी मुझे आमान्य नहीं है कि दम्भ की अपेक्षा उसका विश्वास ही अधिक पूर्ण है और वही अपना कार्य कर रहा है। समाजवाद का विश्लेषण सांस्कृतिक भावनाओं पर ही नहीं आधारभूत है। अभाव की पूर्णता, परिस्थितियों की स्वाभाविकता एवं उसकी पहचान-शक्ति, जनमत और वर्गिक अन्तर का सर्वथा परित्याग, तथा आवश्यक अर्थ-प्रबन्ध ये समाजवाद के पृष्ठ हैं।

बाजार या विज्ञान-विकास की व्याख्यायें भी महत्त्व रखती हैं, और इन व्याख्याओं में बुद्धि-पक्ष से मार्क्स ने अधिक कार्य लिया है। निम्न तक पहुँचने के लिए जन-वर्ग के बीच मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त जरा सस्ते-से भी प्रतीत होंगे, किंतु विज्ञान-संसार में जीवन-निर्वाह करने वाले मजदूरों की सभ्यता पर ध्यान देने के लिए जो उच्च वर्गों के प्रेरक शब्द प्रयुक्त हुये हैं, वे मनोविज्ञान-तुला पर तुलित हैं। साम्यवाद का बौद्धिक आधार पकड़ लेने वालों की समझ के लिए कोई प्रश्न नहीं, किंतु निम्न-वर्ग के मस्तिष्क में उनका अँटना तुरत सम्भव नहीं। समाजवाद जो साम्यवाद के बौद्धिक-क्रियात्मक आधार से प्रभावित है, अपना प्रभाव उन जनों पर डालने में

अवश्य सक्षम है जो अभाव-जगत से अभी-अभी बाहर आये हैं। जीवन की लकीर सीधी चली जाती है। तब वर्त्तमान की अन्य सजग क्रियायें कुछ उसमें परिवर्त्तन ला सकती हैं, वैसी परिस्थिति में समाजवाद के दृष्टिकोण भी बदलने पड़ेंगे।

इस भविष्य के सहसा वर्त्तमान-परिवर्त्तन पर मार्क्स ने संयत भाव से नहीं विचारा है। ऐसे स्थलों पर जाने क्यों, तुरत उन्होंने अर्थ का प्रश्न उठा दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समाजवाद से अर्थ का कोई सम्पर्क ही नहीं है। जीवन की अभाव-अवस्था को दूर करने के लिए जिस समाजवाद की नींव डालने जा रहे हैं, उसमें अर्थ की व्यापकता, प्रबलता अवश्य सिद्ध होगी, अन्यथा वह समाजवाद सबल और सर्वहितार्थ नहीं प्रमाणित होगा। राज्य विधान में, अधिकार का, समाजवाद में क्या स्थान है इस पर मार्क्स के विचार मननीय हैं। जीवन का सबल जीवित अभाव उसमें भी मूर्त्त है। जन-जीवन, अभाव-जीवन है। जो उत्तेजक परिस्थिति-निर्माण के लिए विवश है, अतः उन पर दृष्टि रखनी आवश्यक है।

उनके अनुकूल समाजवाद की स्थापना अनिवार्य है। परिवार के पोषण के प्रकार जो निश्चित किये हैं, उसमें समाज का अन्तर्भाव परिलक्षित होता है। उनकी प्रत्येक व्यवस्था में अधिकारी, अधिनायक, समाज का पूर्ण प्रतिष्ठानकर कोई भी स्वरूप निश्चित करते हैं। व्यक्ति को गौण रखने की क्रिया समाज की उन्नति का अवसर देती है। समूह का महत्त्व देना, समाजवाद को सुदृढ़ करना है। राज्य-संचालन की स्थिति सँभालने के लिए उसकी सत्ता पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि समाजवाद का आधार वाली वह सत्ता तो नहीं है।

यदि ऐसा हुआ तो निश्चय ही समाजवाद के वास्तविक सिद्धान्त का प्रसार न होगा। भ्रान्तियाँ अधिक रहेंगी, एक वर्ग का निर्माण नहीं हो सकेगा। इसी सत्ता के परिणाम में, एक दूसरे को पीड़ित और दलित करने की क्रिया चलती ही रहेगी, दुर्बल-सबल का युद्ध चलता ही रहेगा, और आवश्यकता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। अभाव की अल्पता नहीं होगी। किसी भी वाद के पूर्व राज्य की व्यवस्थापिका क्रिया के मूर्त्त भाव पर सोचना पड़ेगा, अन्यथा कोई भी वाद स्थिर नहीं हो सकता। विशेषतः समाजवाद के साथ इसका जोर देकर प्रश्न उठाना स्वाभाविक है। मार्क्स ने राज्य का कोई स्वरूप नहीं निश्चय किया है।

सब के लिए समाज की व्यवस्था ही ठीक है और उसका सर्व-सत्ता-

नुसार निर्वाचित नायक अभिनायक ही ठीक है। यह भी एक प्रकार से राज्य का स्वरूप ही कहलायेगा। लघु रूप में समाज, राज्य की व्याख्या है। वर्ग निमित्तक मूल प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है जो राज्य के अधिकारी चाहते थे। समाजवाद का आर्थिक दृष्टिकोण इसका प्रश्न उठा सकता है। परन्तु राजनीति की प्रबलता नहीं रहनी चाहिये। मार्क्स, राजनीति की प्रचुरता को सब समय स्वीकार करता था। इसीलिये सामाजिक व्यवस्था पर उसने ध्यान दिलाया कि जनता को राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त होने चाहिये। इतना तक सुविधा देने के लिये कहने वाले मार्क्स के सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं कर सकता था, चूँकि जनता के हित-पक्ष की बात थी। सर्वसाधारण की दृष्टि में इतर भाव को ग्रहण करने वाले राज्य के विरोध में मार्क्स का प्रचार होता था। ऐसे राज्य, समाजवाद की जड़ नहीं जमने देना ही अच्छा समझते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। कोई भी समस्या इसी पर अवलम्बित है जिसकी व्यापकता सर्वत्र है :—'संसार की समस्या, साफ-साफ विदित है कि राज्य सत्ता से है, जो आज-कल चारों तरफ प्रचलित है।

जब तक यह राज्य सत्ता वर्त्तमान रहेगी तथा जब तक एक देश का दूसरे देश को हड़पना जारी रहेगा या जब तक एक वर्ग का दूसरे वर्ग को अधिकृत करने की लालसा बनी रहेगी, तब तक इस वर्त्तमान परिस्थिति को उलट देने का प्रयत्न बराबर होता रहेगा, तथा कोई भी स्थायी प्रबन्ध नहीं हो सकेगा। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का प्रधान कारण राज्य सभा ही है। वर्गीय असमानता भी कुछ कमदोषी नहीं हैं। अतः संसार में शान्ति स्थापन में ये रोड़ा का काम करते हैं। यदि इस लड़ाई में फासिष्टवाद या राज्यसत्तावाद का अन्त हो जाय तभी राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय निबटारा हो सकता है तथा संसार को शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।*

राज्यसत्ता सामाजिक या किसी प्रकार की शान्ति का शत्रु है। वह अर्थ का उपयोग करने का अधिकार सबको नहीं देती, अशान्त वातावरण उपस्थित होने का यह भी एक मुख्य कारण है। मानव को विद्रोह की भावना इष्ट रहती है। मार्क्स किसी भी अपने वैधानिक नियम में इसकी आवश्यकता नहीं समझा है। समाजवाद का जन से जहाँ प्रयोजन था, वहीं तक विचारना या उसके निमित्त मार्ग निश्चित करना, उसके लिये आवश्यक एवं उचित था।

---

* India Speaks—10.
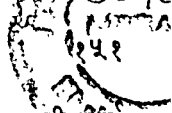
असमानता की भावना को दूर करने के लिये साम्यवाद की मूँच क्रिया का प्रश्रय लेना, और प्रचार करना, जन-कल्याण में साधक था। असमानता, राज्य-सत्ता का अंग बन सकती है, किन्तु समाजवाद उसे कहीं भी पलने देना अनुचित समझेगा। जन ने इसको एकदम निकाल देना अच्छा समझा, जिसमें उसे सफलता भी अधिगत हुई। किसी भी अंश में, उसका विरोध अनिवार्य था। वर्ग में ऐक्य आना कभी सम्भव नहीं था, यदि असमानता दूर न होती, तो निश्चित था, समाजवाद की स्थापना भी न होती।

मार्क्स के समाजवाद में राज्यसत्ता, जहाँ-जहाँ भी आयी है, संकुचित होकर ही उसकी सामाजिक-व्यवस्था के लिए जो दृष्टिकोण थे उनमें असमानता की कार्य-भावना और राज्यसत्ता का खण्डन इसलिये किया गया कि इनके क्षय या ध्वंस के बिना जन-तन्त्र को पसरने और कुछ कहने का अवसर नहीं प्राप्त होगा, और वर्ग-संघर्ष निरन्तर चलता ही रहेगा जो समाजवाद के स्वरूप-निश्चय के लिये बाधक था। हमेशा वर्ग-संघर्ष को विकास-सोपान पर अग्रसर होने का अवसर दिया जायगा तो ऐसी परिस्थिति हो जायगी जो वास्तविक समाजवाद का स्वरूप नहीं निश्चय होने देगी।

मार्क्स और वर्ग-संघर्ष

जीवन के वैषम्य को दूर करना, समाज का वैधानिक कार्य था, जो वर्गों को एक मिलाने पर ही सम्भव था। सबल-निर्बल का प्रश्न न रहे तो वर्ग-संघर्ष की भी आवश्यकता न हो। वर्ग के पृथक्-पृथक् रूप ही जीवन को पृथक्-पृथक् बनाते हैं। साम्यवाद की नीति की बुद्धि प्रक्रिया का प्रभाव सबके जीवन को समरूप से अग्रसर कर सकता है। परन्तु प्रत्येक परिवार की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, आवश्यकतायें भी उसीके अनुरूप होती हैं, वैसी दशा में साम्यवाद की बौद्धिक प्रक्रिया शायद अपने में असफल सिद्ध होगी। जीवन की समष्टि या व्यापकता एक में ही सिद्ध हो और सबल-वर्ग निर्बल-वर्ग की जड़ हटाकर, केवल एक समवर्ग का निर्माण हो, तब संघर्ष को प्रश्रय कदाचित् नहीं मिलने का। समाज स्थितियों को सँभालने और जनों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेगा, तब वर्ग को अशान्त वातावरण उपस्थित करने का अवसर नहीं आवेगा।

कृषकों का जीवन भी स्वाभाविक गति से प्रवाहित होगा। मजदूरों की मजदूरी उतनी मिलने लगेगी जितनी से उन्हें सन्तुष्टि हो जायगी।

आरम्भ की क्रिया सबल हो जायगी तो धीरे-धीरे बौद्धिक विकास हो जाने पर जनता सर्वदा वर्त्तमान का ज्ञान रखेगी। और यदि समय आने के पश्चात् अवसर प्राप्त कर लेने पर, स्वार्थवश, साम्राज्यवाद के सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर उसका नायक अधिनायक उसके विरोध में आचरण करेगा, और उन्हें दबाना चाहेगा तब संगठन के बल पर लड़ना होगा। मार्क्स की आरम्भिक क्रिया ऐसी ही थी, जिसके परिणाम में रूस की जनता में संगठन है, दृढ़ता है। मूढ़ता एकदम नहीं गई, परन्तु धीरे-धीरे सर्वसाधारण को भी बुद्धि का अर्थ ज्ञात हो रहा है। और स्तालिन आज यदि व्यक्ति को प्रधानता देने लग जायँ, और मजदूरों को कुछ क्षण के लिये अपने समाज-कार्य से पृथक रख दें तो वहाँ का सर्वसाधारण युद्धकर, क्रान्ति की आग सुलगाकर उन्हें ध्वंस-ग्रस्त कर सकता है। समाजवाद के सिद्धान्त के अनुकूल सिद्ध हुये और उसमें पलकर जब उन्होंने सुख और शांति पाई है तो उसके अपहरण कदापि नहीं होने देंगे। उनके पास साधन, सबसे बड़ा साधन सङ्गठन है। इस स्थिति तक, इस विकास-स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय यद्यपि लेनिन को भी है, परंतु उसने मार्क्स को समक्ष रखकर, उसके सिद्धान्त को व्यवहार में लाकर कार्य में परिणत किया, अतः मार्क्स की ही प्रधानता मानी जायगी, किन्तु लेनिन का उद्योग भी इसमें पूर्ण रहा, सर्वसाधारण की परिस्थितियों पर उसकी बराबर दृष्टि रहती थी। भौतिकवाद का आधार भी इसीलिए उसे स्वीकार था।

वर्ग के प्रकारान्तर रूप को ऐक्य में सम्मिलित कर सैन्य-सङ्गठन की सबलता सिद्ध की और उन्हें मार्क्स की बुद्धि के अनुसार समझाया कि ऐक्य-सैन्य का प्रतिशब्द है और तुम्हारे प्रत्येक अभाव को दूर करने में सहायक होगा, और सहज ही में तुम्हें अधिकार प्राप्ति हो जायगी। परन्तु कृषकों की अवस्था पर मार्क्स ने अपने पृथक् सिद्धान्त नहीं स्थिर किये, जो आवश्यक थे। सर्वत्र मजदूरों को प्रधानता देने के कारण वे बेचारे एक प्रकार से अलग ही रहे। जमीन्दारों और कृषकों का व्यवहार अच्छा हुआ, परन्तु जिन-जिन परिस्थितियों और आवश्यकताओं का ज्ञान-विज्ञान-वस्तुओं के निर्माण में काम करने वाले मजदूरों को कराया जाता था उन ज्ञानों से कृषक एक प्रकार से सर्वथा वंचित थे।

इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उन लोगों ने समझा था, ये ही मजदूर आन्दोलन में बल देने में पूर्ण सक्षम होंगे, और राजनीतिक अधिकार

प्राप्त करने के काल में क्रांति की आग लगा सकती हैं जिसकी लपट में पूँजी-शाही खाक हो सकती है। कृषकों की अज्ञोषता से उन्होंने पर्याप्त लाभ उठाया।

राजनीति की दृष्टि से उनके प्रयास या कार्य प्रशंसनीय थे, परन्तु न्याय की दृष्टि से अनुचित। स्थिति सुधारने और साम्यवाद के पसरने पर इन पर भी विशेष ध्यान दिया गया। मार्क्स ने इनके लिये जो सामाजिक सिद्धान्त स्थिर किये, उनमें समता की क्रिया अप्रकट और सबके हित के पक्ष में न थी। मजदूर और कृषकों में एक अन्तर-रेखा रह ही गई, दो वर्गीकरण को प्रश्रय मिल कर ही रहा। क्रांति में सफलता पाने के पश्चात् कृषकों की समस्यायें भी हल की गयीं, किंतु ठीक उसी प्रकार नहीं, जिस प्रकार मेशीनी मजदूरों की। अवस्था सुधार न ली गयी होती तो बहुत सम्भव था, दोनों वर्गों में संघर्ष होने का, इसके अनन्तर समाजवाद के किसी भी स्वरूप में स्थायित्व शायद ही रहता।

कृषकों ने क्रान्ति में सहयोग नहीं दिया, ऐसी बात नहीं थी, परन्तु इतना सच था कि मजदूरों की तरह वे चतुर नहीं थे। वर्ग के विधान में साम्यवाद की क्रिया पर अधिक ध्यान देना चाहिये। अन्यथा उसके प्रकार अनिश्चित रहेंगे, और सामूहिक रूप से सब पर समान रूप से प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं। वर्ग के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं, परिवार एक वर्ग है, निम्न एक वर्ग है, एक जाति के कितने वर्ग हैं, उच्च भी एक वर्ग है, इन सबका साथ ही निराकरण कहाँ है, और समाज में इनका स्थान नहीं है, यह समझना भी भूल है। वर्ग की रूप-रेखा स्थिर करने में उसकी गति-विधियों का परखना आवश्यक है। अधिकार-भावना से प्रेरित होकर जो उत्तेजक प्रवृत्तियों का आश्रय लेते हैं, उन्हें क्रान्ति का अर्थ बताया नहीं जाता, स्वतः इसकी व्यापकता से परिचित हो जाते हैं। बुद्धि-बल साथ रहा तो सफलता की निश्चयता रहती है। जीवन को संग्राम मान कर आगे बढ़ना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं। प्रत्येक वर्ग को एक विश्लेषण में स्थान देना, समाजवाद के पक्ष में अनुचित होगा। विभिन्न समाजों के विभिन्न रूप, अविश्वास का कारण हैं और इसके संस्थापक को सफलता नहीं मिलेगी। व्यवहार की क्रिया जो सहज अनुभूति का प्रेरक साधन है, किसी भी वर्ग के मानव को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस व्यवहार में सत्य का आविर्भाव स्वाभाविक है, जिसकी अवहेलना, असम्भव है। और ठीक किसी विधान-सदन में समाज की स्थापना हो जाय तो वह एक वर्ग निमित्तक होगा।

सभी उसमें सक्रिय भाग लेने के लिए विवश होंगे। अन्य विधान-स्थितियों का संचालन भी समुचित रूप से होगा। किसी भी संस्था में दृढ़ता लाने के लिए आवश्यक है कि सम्मिलित जनता की वह सहानुभूति प्राप्त करे, जो विश्वास-भावना के बल पर ही सम्भव है। अपने से इतर भाव को अन्यपरक जब एक वर्ग नहीं देखेगा, तब स्वाभाविक रूप से समाज-संस्था में उसका विश्वास हो जायगा, परिणाम में उसकी दृढ़ता निश्चित है।

अधिकार-भावना में अहं रहना भी अनुचित है, चूँकि जिसमें अहं घर कर गया, उसमें असत्य वातावरण भी सत्य-पथ ग्रहण करने का व्याज रचते हैं। मानव की आन्तरिक कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं, जिनमें उसका विनाश निश्चित है। वर्ग की चेतना विद्रोहाग्नि से उद्दिप्त करती है, अतः उसके प्रकार एकत्र नहीं करने चाहिये। और मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त वर्ग की विभिन्नता को एक मानकर स्थिर हैं, चूँकि साम्यवाद का प्रभाव उनकी दृष्टि में सफल है। ग्राम-ग्राम के स्वरूप, नागरिक अवलोकन पर नहीं स्थित हैं। उनकी व्याख्यायें अलग होनी चाहिये थीं। पक्ष, नेतृत्व करने में सफल है, तब उनके सिद्धान्त सबल हैं। परन्तु ग्रामीण वातावरण द्वन्द्व की व्यावहारिक क्रिया की सदैव आवश्यकता अनुभव करता है, जिसकी पूर्त्ति के लिए सिद्धान्त अक्षम हैं।

सत्य, अर्थ-पक्ष अत्यन्त संकुचित होने के कारण वर्ग की व्यवस्था ठीक नहीं है। ईर्ष्या, द्वेष की भावना रह ही जाती, वृद्धि की उन्नति देखने के कारण, आपसी संघर्ष चलता रहता है। आर्थिक-स्वरूप इनके अनुकूल निश्चित होते और इनके अभाव पर समान दृष्टि रखी गई होती तो इस संघर्ष को जगह नहीं मिलता। कल्याणकारी सिद्धान्त के विरोध में समाजवाद के दलितों की आवाज नहीं उठ सकती। हाँ, शत्रु इस सिद्धान्त की जड़ उखाड़ फेंकना चाहेगा तो वे ही उससे लड़ने के लिए प्रस्तुत हो जायेंगे, परन्तु ऐसी भावना सदा नहीं रहती। मार्क्स के सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष के विश्लेषण में अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं। जीवन के स्वरूप में भी निर्बलता आ जाती है। और इनके जीवन को भी दर्शन-आवरण में रखना, कुछ लोगों को इष्ट है।

वर्गिक-अन्तर जीवन का ढाँचा खड़ा करने में निष्फल रहेगा। विभिन्न वर्ग के विभिन्न जीवन होंगे, जिनके लिए एक भाव, एक सत्ता नहीं हो सकती। एक ही वर्ग उन्नत और शिष्ट हो जाय तब उसका प्रत्येक क्षेत्र में शायद विकास सम्भव है। दर्शन का प्रतिष्ठान भी वहाँ हो सकता है, किन्तु जीने की समस्या

का हल होना इतना सहज नहीं कि मनुष्य को वह और विषयों का ज्ञान करने में समर्थ हो। जीवन-रक्षा का साधन एकत्र करने वाले मानव के लिए दर्शन एक वह विषय है, जो बोधगम्य नहीं।

बुद्धि की प्रधानता में उसकी स्थिति है। उन्नत वर्ग बौद्धिक होगा तो दर्शन से परिचय प्राप्त कर सकता है। परन्तु वर्ग के व्यक्ति के लिए, यह सम्भव है। समूचा वर्ग ही दर्शन से प्लावित नहीं हो सकता। मस्तिष्क की उपज और चिन्तन-शक्ति पर यह निर्भर करता है। सामाजिक सिद्धान्त यहीं उसे दूसरी ओर मोड़ने का प्रयास करता है। और व्यक्ति का स्वाभाविक दार्शनिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। अनेकता की एकता हो जाने पर भी स्वतन्त्रता की दृष्टि से व्यक्ति को स्वतन्त्र रहना चाहिये। वह जिधर चाहे, अपनी इच्छा के अनुकूल प्रवाहित हो इसमें बाधा नहीं देनी चाहिये। मत के समय कुछ देर के लिए व्यक्ति की उपेक्षा सम्भव है, किन्तु बौद्धिक-विकास के लिए उस स्वतन्त्र व्यक्ति की उपेक्षा अनुचित एवं राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से अहितकर भी है।

सामाजिक नियन्त्रण का यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति का ह्रास, स्वतः वही कर दे। अधिकार का प्रश्न वह भी उठा सकता है, जिसके उत्तर में सामाजिक विधान चुप ही रहेगा, और इस चुप के परिणाम में व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर अलग वर्ग बनायेंगे, जो संघर्ष केवल पर अधिकार-प्राप्ति पूर्ति करेगा, वैसी स्थिति में सामाजिक विधायकों को कुछ कठिनाइयों का व्यर्थ ही में सामना करना पड़ेगा। आगे ही यदि इसकी समस्या हल हो जाय तो नये वर्ग और उसके नूतन अधिकार का निर्माण हो न होगा।

वर्ग के पृथक् रूप पर भी मार्क्स ने कोई विचार नहीं निश्चित किया। नागरिक वातावरण में स्थित निम्न जनों के वर्ग पर अधिक विचारा और सिद्धान्त स्थिर किया, परन्तु सूक्ष्म विषयों का उसमें ऐसा दिग्दर्शन कराया जो सतह ऊँची रहने के कारण उस वर्ग के लिए अनुचित था। मनोविज्ञान उसकी दृष्टि में, जितना सहज और सरल का, उतना उस निम्न वर्ग की दृष्टि में नहीं। आन्तरिक अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति का जब तक ढंग नहीं आ जाय, तब तक मेरे जानते, गम्भीर विषयों की अवगति भी सम्भव नहीं। जिस समाज में शिक्षा के प्रकार सिर्फ मेशीन और जीविका के उपयोगी उपकरण एकत्र करने के लिए हों उसके अन्तर्गत पलने वाले वर्ग कहाँ तक शिक्षित हो सकते हैं अनुमान किया जा सकता है।

हृदय से सम्बन्ध रखना भी आवश्यक है, मेशीनी शिक्षा का सम्बन्ध कृत्रिम भावनाओं से है, और आन्तरिक भावों के प्रकट न की विधियाँ या व्यक्तीकरण की साधक विधियां की जो शिक्षा है, उसका बुद्धि और हृदय से सहज सम्बन्ध है। वर्ग की सामंजस्य शक्तियाँ भी इस शिक्षा में केन्द्रीभूत हो सकती हैं। जीवन के और अनुभूत सत्य के विश्लेषण भी इनमें सन्निहित हो सकते हैं। वर्ग, बौद्धिक वर्ग के व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए कृषि-कार्य नहीं अपेक्षित होने चाहिये। समाज इनके लिए अन्य क्षेत्र प्रस्तुत करे। कला की विधियों की भी रक्षा करनी चाहिये जिनके रक्षक बौद्धिक होंगे, परन्तु यहाँ भी समाज का नियन्त्रण रहता है, इसलिए क्षणिक मेशीनी कला भी जीवित रहेगी, जो कुछ दिनों में स्वयं विनष्ट हो जायँगी। वर्ग को सिर्फ संघर्ष की शिक्षा न देकर कला के मूर्त्त महत्त्वपूर्ण भाग की रक्षा की भी शिक्षा देनी चाहिये।

परिवार से निर्मित वर्ग की व्यवस्था का प्रकार ऐसा हो, जो स्वाभाविक रूप से अग्रसर हो और अभाव अनुभव न करे। परिवार-वर्ग समूह-वर्ग का आधार है। इसकी उपेक्षा का परिणाम में विशेषतः भारत भोग रहा है। परिवार-वर्ग का आपसी अन्यन्य-संघर्ष समाज, राष्ट्र के हित में सबसे बड़ा रोड़ा या बाधा है। उच्च वर्ग को मिटाने के लिए मार्क्स ने जिस वर्ग का निर्माण किया, उसमें परिवार-वर्ग के प्रतिनिधियों पर नहीं विचारा गया है।

परिवार-वर्ग के व्यक्तियों की सूची समाज-नायक के पास है, अतः भीषण-संघर्ष की समस्या शायद नहीं उपस्थित हो सकती। किन्तु नायक की कभी भी निर्बलता से यह वर्ग लाभ उठा सकता है, और परस्पर वैमनस्य-भावना फैला सकता है और संगठन भी तोड़ सकता है। बनी बनाई भीत ढह जा सकती है। बौद्धिक मनोवैज्ञानिक चेतना के पश्चात् यह सम्भव नहीं था, परन्तु इस चेतना का विकास या जागृति उत्पन्न होने के बाद भी कुछ सम्भव-असम्भव हो सकता है। संघर्ष या क्रान्ति को बार-बार नियन्त्रित करना, समाज, राष्ट्र के पक्ष में उचित नहीं, इससे इनका महत्त्व भी घट जाता है। वर्ग के अन्तर में साम्यवाद की भावना मूर्त्त रहनी चाहिये, और समाज के सिद्धान्त, उसके विशिष्ट रूप को ग्रहण कर, अपने नियम निर्माण करे।

यह स्वरूप मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त में नहीं था, सो नहीं। इसे मनोविज्ञान के आधार पर रखा गया था, तथा बौद्धिक शक्तियाँ भी उन्नत थीं। सर्वसाधारण को उस स्तर पर पहुँचने के लिए शिक्षक की आवश्यकता

थी। जन-संगठन में जिस उपयोग का आश्रय लिया गया था, वही उपयोग यहाँ भी आश्रयभूत हुआ होता तो विशेष जन-कल्याण में सहायक होता। बौद्धिक क्रिया-शीलता की अधिकता नहीं रहती तो वर्ग को भ्रान्ति धारण में विचरने नहीं देती, अतः मनुष्य उसमें पड़कर विश्वास और सत्य को एकदम खो देता है। बुद्धि का कोई भी निश्चय, एक दिशा की ओर प्रवाहित नहीं होने देता। जो कुछ वह सोचता-विचारता है, क्षणिक ही, जिसका कोई मूल्य नहीं।

जीवन को कर्म में परिणत करने में भी वह निष्फल रहता है। वर्ग की उन्नति या विकास पर उसकी दृष्टि नहीं रहती। किसी भी समाज की व्यवस्था उसे इस्ट नहीं। संदिग्ध भावनाओं में ही विचरते रहना उसे अच्छा प्रतीत होता है। वर्ग के उपकरणों में जीवन की महत्ता, विशिष्टता रहती है।

इस महत्ता को हटाने में कोई भी वाद सफल नहीं सिद्ध हो सकता, साम्यवाद की क्रिया का कोई भी प्रकार उसकी संस्कृति को मिटाने में अक्षम रहेगा। समाजवाद के सिद्धान्त को भी इसकी प्रधानता माननी पड़ती है। और उसके अनुसार अपनी व्यवस्था बनानी पड़ती है।

यद्यपि शिष्ट वर्ग में स्थित जनों के जीवन और निम्न वर्ग में स्थित जनों के जीवन के दृष्टिकोण में विभिन्नता है, महत्त्व भी एक का दूसरे से अधिक है, करुण भावों की सजगता मूर्त्त होकर प्रकट होगी। परन्तु यह करुणा क्षणिक ही होती होगी, चूँकि स्थायित्व, जीवन की विशालता एवं महत्ता पर ही निर्भर करता है। मार्क्स के विचानुसार वर्ग के उपयुक्त जीवन बनाया जा सकता है, स्वतः बना हुआ नहीं रहता, उसका निर्माण व्यक्ति के हाथ में है जो समाजवाद से ही प्रभावित है। परन्तु वर्ग, समाज से परिचत है, अतः जीवन-निर्माण के साधन उसी के पास हैं। जीवन की विशिष्टतायें, कर्त्तव्य से पूर्ण और सत्य से अधिष्ठित नहीं है, तब उसे वर्ग स्वीकार नहीं। पृथक अपनी सत्ता मानता, और पृथक् अपनी मान्यतायें स्थिर करता है।

ऊपर तक बात पहुँचने पर समाजवाद का प्रतिनिधि नियम के अनुसार दण्ड देता है। यह दण्ड उसकी उग्रता को बढ़ाता है, फलतः उत्तेजक शक्तियों की समाविष्टि होती है, और व्यक्ति अपने सिद्धान्त के प्रसार के लिए अन्य अपने समूह के व्यक्तियों को मिला कर वर्ग निर्माण करता है, और एक दिन उस वर्ग से संघर्ष कर बैठता है। यह वर्ग-संघर्ष समाजवाद की मूल भित्ति ढाहता है। जीवन ही एक संघर्ष है, दूसरे यह वर्ग-संघर्ष और जीवन में विषमता लाता है।

विषमता, विषाद की जननी है और विषाद मानव की क्षुब्धता का घर है। क्षुब्धता, संघर्ष और क्रान्ति की जननी है। दृष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक बनाकर उसे उन्नत अवश्य बनाया गया। विद्रोह को दबाने के लिए उसे अति दमन-नीति जिस प्रकार हेय और घृण्य है उसी प्रकार जीवन-अन्तर की विषमता को दूर करने के लिए समाजवादी कठोर शासन अनुचित है। स्वतन्त्र जीवन को बाँधने के लिए आवश्यक है, उसका सहचर बनकर कुछ दूर तक अनुगमन करना और अनुकूल परिस्थिति या अवसर आने पर समझा कर मोड़ना। अन्यथा वर्ग-वर्ग में संगठन न होगा और स्वार्थ की क्रिया की सबलता के कारण साम्राज्यवाद को पनपने के मार्ग मिलते जायेंगे। समाजवाद की नाड़ी ढीली हो जायगी। व्यक्ति की महत्ता बढ़ेगी और स्वार्थ-साधना भी सबल होगी। जीवन की तात्विक-विवेचना में समाज के नियन्त्रण के अति पर और अधिकार की सीमा पर भी समष्टि रूप से विचार होना चाहिये।

व्यक्ति अपने में पूर्ण नहीं रह सकता, उसे अन्य का सम्पर्क उपेक्षित होगा। परन्तु उसके प्रकार पृथक-पृथक् होंगे। वर्ग का निर्माण और संघर्ष का आधार भी उसी के अनुपात से स्थिर होगा। 'लास्की' के सामाजिक अधिकार और व्यक्ति और समूह के जीवन-सम्बन्धी-विचार इसकी पुष्टि कर सकते हैं। वर्ग-संघर्ष की व्याख्या में मार्क्स का यह भी कहना था कि वर्ग का एक व्यक्ति अपनी पृथक् रोटी पकाने में सफल भी हो तो समाजवाद के सिद्धान्त में वह निर्बलता नहीं ला सकता। परन्तु वह व्यक्ति अपने सिद्धान्तों में बल देने के लिए दूसरों का सहयोग सहज ही में प्राप्त कर लेगा और विद्रोहात्मक वर्ग निर्मित करेगा। व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता :—But no man, of course, stands alone. He lives with others and in others.' अतः इसी की चेष्टा-प्रचेष्टा उचित नहीं कि पूर्व निश्चित वर्ग का कोई व्यक्ति पृथक् न हो, उसका पृथकत्व सूचित करता है, समाजवाद की अव्यावहारिकता को।

समाजवाद का प्रारम्भ साम्यवाद के आधार पर हुआ, और कहीं ऐसा न हो, उसका अन्त साम्राज्यवाद के स्वार्थ पर हो। व्यक्ति की प्रधानता स्वीकार न की जाय, किन्तु उसे जन में ही सम्मिलित रखने का प्रयोग उचित है। विश्व-जनीन भावना की जिसे चिन्ता है उसे उसी के अनुसार अपना कुण्ठ विचार भी व्यक्त करना चाहिये। विचारों में क्रान्ति का जहाँ उल्कापात है, वहाँ निम्न धरातल पर उतर कर परिणाम-निष्कर्ष भी पूर्व ही निश्चित होकर

सोच लेने चाहिये। सच्चा, गम्भीर अनुभवी, वर्त्तमान से ही अनुमान कर सकता है, विचारों के परिमाण-भविष्य का।

मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त एवं मजदूरों के आन्दोलन के प्रकार अवश्य उस वर्त्तमान का अनुमान आज भविष्य में लगा चुके होंगे जो सत्य प्रमाणित हो रहा है। विश्व के किसी भी मजदूर के लिए वे अनुकरणीय प्रमाणित हो रहे हैं। जीवन की सत्ता पर विश्वास करने के लिए उसके सिद्धान्त सफल और हितकर हैं, यही कारण है, उनमें स्थायित्व अधिक है। उतने भर उनके सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का अवसर नहीं देते। परन्तु आगे बढ़ने पर समाजवाद की ही वहाँ प्रबलता है, वहाँ वर्ग की विवेचना और सघर्ष रूप ही क्रान्तिपूर्ण एवं ऐक्य के विरोधक हैं। प्रकारान्तर वर्ग का विश्लेषण सर्वसाधारण की दृष्टि से दूर हैं, जो अस्वाभाविकता का द्योतक या सूचक है।

सत्यता और असत्यता इसका कारण है। बहुत अधिक उपयोगी और सत्य सिद्ध करने की फिक्र में वातावरण की दुकूलता पर ध्यान नहीं दिया गया, फलतः असत्य वातावरण का सिद्धान्तों और विचारों पर प्रभाव पड़ा। इसीलिए नहीं कि मार्क्स असत्य का पुजारी था, बल्कि इसलिए कि वातावरण का उस पर पूर्ण प्रभाव व्याप्त था। वर्ग-संघर्ष के पीछे आर्थिक क्रिया प्रच्छन्न है। इसकी व्यापकता पर आधार आधेय टिके हैं। अभाव वाली परिस्थितियों को दूर करने की शक्ति एक मात्र उसी में निहित है जो समाज वाद पर अवलम्बित है। 'दुईल्बाँ' के विचार भी इससे सहमत होंगे। वह-आर्थिक क्रिया को मूल उद्भव का कारण कहता था। जीवन-जाति, वर्ग और अभाव-कारण के परिणाम में संघर्ष की आवश्यकता उसने नहीं अनुभव की।

आर्थिक सिद्धान्त, सुव्यवस्थित एवं सत्य भावना पर अवलम्बित रहेंगे तो शेष सब स्वयं अपनी-अपनी राह पर चलेंगे। विषमता और असमानता की उत्पत्ति होगी ही नहीं कि वर्ग-संघर्ष को प्रश्रय मिलेगा। असहिष्णुता भी नहीं आयेगी। मानव की वृत्तियाँ साम्यवाद से प्रभावित हैं जो संघर्ष-विघर्ष से बहुत दूर रहेंगी और विद्रोह-भावना स्वतः दबी पड़ी रहेगी। मार्क्स का मनोवैज्ञानिक विचार मानव-जीवन को सङ्कीर्ण नहीं रखा तो विस्तीर्ण भी नहीं। वर्ग के जिस रूप को इन्होंने अपने सिद्धान्त में स्थान दिया, उसमें सीमा सर्वत्र विराजती थी। उन्होंने निम्नों के जीवन को अभाव से पूर्ण

आच्छादित पाया, अतः उसी पर सर्वतोभावेन सब कुछ सोचा-विचारा, स्थिर किया। स्वतंत्रता की प्राप्ति, अधिकार-प्राप्ति में देखी, जिसके लिए आन्दोलन की क्रिया-शीलता का महत्त्व दिया। जड़ीभूत अन्ध-प्रज्ञा को दूर करने का आदेश दिया।

रूढ़ि, परम्परा का एकदम विरोध किया (जो मेरे जानते अनुचित किया), धर्म की आस्था मिटाई, ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध किया। सांस्कृतिक भावनायें बहिष्कृत की। उच्च वर्ग से युद्ध करने के लिए निम्न वर्ग के संगठन पर ध्यान देने को बाध्य किया। समाज के अन्तर्गत जितने सब्जेक्ट-मैटर या उसके निर्माण-नियम के साधन हैं, सब वर्ग संघर्ष के उपरान्त ही साध्य हो सकते हैं।

विज्ञान की साधक उपक्रमणिकायें वर्ग के एकीकरण में बाधा देती हैं, मजदूर जो सिर्फ कुली नहीं है, मेशीन चालक और 'मिस्त्री' शब्द से सम्बोधित होते हैं, उनके वर्ग भी साधारण मजदूर से पृथक् हैं, परन्तु इनकी देख-रेख की विधियाँ ऐसी हैं जो संघर्ष का अवसर नहीं देतीं। वर्ग के प्रकार दो हैं! व्यवहार-जगत् के लिए समाज में दोनों वर्गों का महत्व समरूप से स्थिर है, जो बाधक नहीं है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी वे हानिप्रद नहीं हैं। परन्तु सामाजिक स्वरूप में वर्ग के प्रकार इतने स्वाभाविक रूप से विभिन्न हैं कि उनका एकीकरण असम्भव है। प्रधान उद्देश्य को लेकर सिर्फ साम्यवाद की भावना से अनुप्राणित होकर वर्ग-संघर्ष का जो स्पष्ट रूप है, उसको मार्क्स ने बौद्धिक रूप दिया है, यह प्रशंसनीय तथा स्वस्थ विचार का सूचक है।

४—जीवन के मूल में

जीवन की अभिव्यक्ति

जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति साहित्य का आगार है, परन्तु वह अभिव्यक्ति यदि आप अपने में स्पष्ट एवं पूर्ण हो तब, अन्यथा सीमित वातावरण में ही उसका महत्व रहेगा। अपने आप का व्यक्तीकरण, एक विशेष भावना के अविर्भाव से होता है, अधिक सम्भव है, यह व्यक्तीकरण, समाज के लिए विशिष्ट मार्ग प्रदर्शन का कार्य करे। आँधी और तूफान में संघर्ष-विघर्ष में जिसका जीवन व्यतीत हुआ है, और वह इन सब का सहर्ष सामना करता हुआ उचित कर्त्तव्य-पालन करता गया है तो निस्सन्देह व्यक्ति से उठकर समाज का प्रतिनिधित्व करने की अपने में अवश्य पूर्ण योग्यता का समावेश देखेगा।

युग की विभिन्न परिस्थितियाँ मानव को अपना दास बनाये रखने में सबल प्रमाणित हुई हैं और इन परिस्थितियों से भी होड़ लेने वाला व्यक्ति कम महत्वपूर्ण कदापि नहीं है। वर्ग-विशेष का ही उसके आगे प्रश्न नहीं रहता, प्रत्युत सामूहिक वर्ग के अनेक प्रश्नों का एक में उत्तर देने का वह प्रबल प्रयत्न करता है और उसे इस ओर इसलिए पूर्ण सफलता मिलती है कि औरों के जीवन-स्तर को उसने उसी प्रकार देखा है, जिस प्रकार अपने जीवन की पृष्ठभूमिका को देख चुका होता है और इसलिए अपने आपको वह बड़े गौरव के साथ महान अनुभवी घोषित करता है।

यही घोषित करना एक सच्चे जीवन की अभिव्यक्ति है। पर कुछ लोग भावना की उत्तेजक प्रवृत्ति के कारण अपने को योंही अनुभवी प्रदर्शित करते हैं, उनका अधूरा ज्ञान विवश करता है ऐसा दिखाने के लिए, चूँकि समाज के आगे वे अपने को बड़ा सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। यद्यपि कुछ समय के लिए उनका समाज पर अस्थायी प्रभाव पड़ जाता है, यही प्रभाव उतनी ही देर में विनाश की अधिक सामग्री एकत्रित कर देता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक वातावरण अत्यन्त दूषित हो जाता है और पुन: सच्चे अर्थ में अनुभव प्राप्त योग्य व्यक्ति उसी पूर्व पद की घोषणा करता है, तब समाज उसे उसी रूप में स्वीकार करने में हिचकिचाहट प्रकट करता है.

फलतः अनुचित से उचित की ओर लोग अग्रसर नहीं होते और समाज का विकृत रूप ही सब के सम्मुख उपस्थित रहता है।

यहाँ पर उसका यह समझना गलत नहीं है कि मेरे ही प्रदर्शित मार्ग सबके लिए हितकर प्रमाणित होंगे। सारांश यह कि व्यक्ति, अपनी सतह से उठकर समाज की पूर्णता अस्वीकार कर देता है। जिसकी वजह उसकी किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति को समाज अहितकर ही समझता या मानता है। जीवन के कटु सत्य को मधुर असत्य में परिणत करना मेरे जानते निन्दनीय एवं हेय है। जीवन में विभिन्नता एवं विच्छिन्नता रहती है, इसलिए सब के जीवन का कटु सत्य समरूप से महत्व नहीं रख सकता।

निम्न वर्ग का जीवन वेदना और क्लेशपूर्ण दयनीय होगा, मध्य वर्ग के कुछ का जीवन आदर्श या यथार्थ का विकसित रूप होगा, इससे और ऊपर उठे हुये वर्ग का जीवन् सन्तोष, गति रहित, अवरुद्ध, महत्व रहित होगा। परन्तु सब अपनी-अपनी जगह सत्य को अवश्य ढूँढ़ेंगे, परन्तु सर्वत्र का सत्य, सत्य नहीं कहलायेगा। गति को जीवन मान कर अग्रसर होने वाला, सत्य का आश्रयभूत अंग प्रमाणित होगा, और उसके प्रत्येक विचार माननीय होंगे। वह झूठ सत्य को ढूँढ़ने की ऐक्टिङ्ग नहीं करेगा। शायद इसीलिये 'शो' से वह दूर रहने का स्तुत्य प्रयास करता है।

संसार के तथाकथित सभ्य, शिष्ट प्राणी उसे अपने आपके निर्मित समाज में आने देना नहीं चाहते, और न वह स्वतः आने का प्रयास ही करता है। कुछ लोग इसी कारण उसे गर्वीला शब्द से सम्बोधित करते हैं, जिसकी वह परवा या चिन्ता नहीं करता। समय और परिस्थिति स्वयं एक समय उसकी खोज करती है, जब उसकी उपस्थिति अनिवार्य सिद्ध होती है। परन्तु ऐसा विशिष्ट व्यक्ति अल्प संख्या में ही कहीं पड़ा रहता है। अनुभव उसके अध्ययन का आधार है। उसका जीवन, कर्म का दूसरा नाम या प्रतिशब्द है। परिमित बोलना, वह अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझता है। उचित से ज्यादह की कल्पना करना मूर्खता समझता है और इसके बाद क्षेत्र में आने के पश्चात् अपने आपको दूध के समान उज्ज्वल, गङ्गा के समान पवित्र न घोषित कर, चुपके संसार में ही रहने वाला बताता है। यह बताना भी सच्ची अभिव्यक्ति का एक लक्षण है। मानव-जीवन की कर्मठता उसे प्रिय है। अदम्य उत्साह उसका जीवन है, निराशा के कुहरे में रहना उसे इष्ट नहीं। जाल में अपने को रखना वह नहीं चाहता, इसीलिए दूसरों के आगे कदापि जाल बिछाने की भूल नहीं करता। जो है, उसे ही व्यक्त करता है।

यह व्यक्तीकरण या अभिव्यक्ति साहित्य की दृष्टि से काव्य, कहानी, उपन्यास सब में अपना विशिष्ट महत्व रखती है। जीवन को आलोचना मान कर सुनिश्चित पथ पर अग्रसर होने वाले भी सच्ची अभिव्यक्ति का महत्व किसी न किसी रूप में स्वीकार करते ही हैं। साहित्य इस आलोचनात्मक और उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति को पूर्ण विकास का केन्द्र बनने को इच्छुक होता है, परन्तु इस पर सब की दृष्टि नहीं जाती। वाद की सफेद छिद्रयुक्त चादर यहाँ अपना कार्य बड़ी तत्परता से करती है। प्रगतिवादी समीक्षक इस जीवन की अभिव्यक्ति को निम्न वर्ग में ही बाँट देना चाहता है। उसका कहना है, इसी वर्ग के जीवन की अभिव्यक्ति सामाजिक साहित्य में स्थान रखेगी। पर उसे सोचना चाहिये जिसके जीवन में महत्वपूर्ण सत्य का अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति कहाँ तक महत्व रखेगी?

कर्त्तव्य-ज्ञान का अंकुर भी जिसमें उत्पन्न नहीं, अपने आपकी दिशा से जो नितान्त अपरिचित है, उसके जीवन के कितने अङ्ग किसी दूसरे के लिए अनुकरण सिद्ध होंगे, सोचा जा सकता है। हाँ, यदि समीक्षक या अन्वीक्षक चाहे तो उसके जीवन में सत्य ढूँढ़ सकता है पर उसका ढूँढ़ना असत्य प्रमाणित हो सकता है, इसलिए कि अनुभूति देखने-सुनने के आधार पर ही नहीं टिकी है। सच्ची अनुभूति तो उसी वर्ग के व्यक्तियों को होगी, जो बेचारे व्यक्त या अभिव्यक्त करना नहीं जानते। मैं यह नहीं कहता कि उनकी अभिव्यक्ति महत्वरहित सिद्ध होगी। पर उनकी दृष्टि चूँकि सङ्कुचित है, जीवन एक दायरे में है, विचार का नाम भी नहीं, इसलिए सच की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, जो महत्वपूर्ण प्रमाणित हो। चेतना से जीवन का बड़ा गहरा सम्पर्क है, इसे मध्यवर्ग का क्लर्की जीवन व्यतीत करने वाला बड़े परिवार का व्यक्ति विशेष ही समझ सकता है! चूँकि उसे जीवन पर सोचने भी आता है और अपनी विवशता पर आँसू बहाने भी। साथ ही कर्त्तव्य का अर्थ ढूँढ़ने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती।

जीवन और उसकी गति में विलक्षणता रहती है, दृष्टि की विलक्षणता का भी इसमें दोष हो सकता है। अस्तु, यह प्रसङ्गेतर विषय कहलायेगा। विदित-अविदित परिस्थिति में जीवन की गति, जो अपना कार्य साधती चली जाती है, उनकी विशिष्टता सभी स्वीकार करते हैं। कर्ममय मानव अपने जीवन को परिस्थिति के प्रतिकूल भी प्रवाहित कर सकता है, अनुकूलता में यदि अपनी हानि देखेगा तो वहीं बाध्य करेगा, परिस्थिति को अपने अनुसार बनाने के लिये। पर ऐसों का सर्वथा अभाव सा रहता है। ऐसे व्यक्ति का

जीवन समाज के अङ्ग को पुष्ट बनाता है, चूँकि वह सिद्ध कर चुका होता है कि व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है, न कि समाज से व्यक्ति का। वाद-विवाद के पचड़ों से दूर रह कर यथार्थ का प्रचार करने के लिये उतावला रहता है। चलते-फिरते चित्रों की रीलों की भाँति उसके विचारों में शीघ्रता या अस्थायित्व नहीं रहता। विचार कर निष्कर्ष पर पहुँचने का वह आदी है, प्रतिज्ञा की अवहेलना करना उसे इष्ट नहीं। संतोषपूर्ण जीवन-यापन करने वालों का वह सच्चा विद्रोहक है। उसके सिद्धान्तों में मतभेद भले ही हों, पर दृढ़ता अवश्य रहती है। व्यक्ति के जीवन में बल रहना चाहिये, निर्बलता घर करेगी तो अवश्य ही वह विनाशोन्मुख समाज का पोषक होगा। सबलता मार्ग का निर्देश करती है, निर्बलता मार्ग को कण्टकाकीर्ण बनाती है। सबल-निर्बल व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी अपने आप का उसी प्रकार महत्व रखती है।

जीवन के अणु-अणु में सत्य यदि घर कर ले तो व्यक्ति में सबलता का आरोप होगा। और ठीक इसके विपरीत असत्य का यदि प्रभुत्व होगा तो निर्बलता ही प्रबलता से व्याप्त रहेगी। साधारण वर्ग के व्यक्ति विशेष को चाहिये कि वह इस पर खूब सोच-विचार कर चले। अन्यथा उचित से अनुचित की ओर वह फेंक दिया जायगा। उसकी सारी सत्ता विनष्ट होकर ही रहेगी। जीवन-कर्म के ज्ञान का नितान्त अभाव हो जायगा। मानव-जीवन का कर्म, दीप-शिखा की तरह प्रकाश की रेखा है। अविचारिता मनुष्य को असहिष्णु बना देती है, सु-कु का विचार उसके मन में नहीं उठता। सागर तिरने की क्रिया में मनुष्य तभी कुशल होगा, जब जीवन को प्रकाश के रूप में देखेगा। सहजात भावना का आश्रय ले, कर्म को जीवन मान कर, जीवन को कर्म मान कर चलने वाले सदा अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हैं। यह सफलता उद्घोषित करती है, अपनी अतीतवृत्ति को। विगत जीवन—कर्म की इस प्रकार वह आवृत्ति करती है कि सर्वसाधारण अनायास ही उधर झुक पड़ता है।

यहाँ वर्ग मात्र ही अपने कर्म की आवृत्ति करे तो सच्चे अर्थ में जनता के सम्मुख उसके वास्तविक ज्ञान के रूप की अभिव्यक्ति कदाचित् ही हो। विगत पाप-कर्म का वर्त्तमान में पश्चाताप या प्रायश्चित् भविष्य के लिए कल्याणकर सिद्ध होता है। पर वर्ग-विशेष का व्यक्ति-विशेष ही ऐसा करे, यह कोई आवश्यक नहीं। समीक्षा के साथ जीवन की अनुभूति भी जिसका साथ देगी, वही इस पर अधिक विचार सकता है। जीवन की अभिव्यक्ति यदि वह सच्ची हो, साहित्य का विशिष्ट अंग समझी जाती है। किन्तु आज

का साहित्यकार इस पर अधिक सोचने की आवश्यकता नहीं समझता, जो उसका महान् दोष कहा जा सकता है। सम्भव है, उसे यह अस्वीकार हो, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सच्चे जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में कितना महत्व रखती है।

जीवन के स्वरूप पर अधिक ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा, पाप का प्रायश्चित, असत् कार्य का पश्चाताप भविष्य को स्वर्णमय सिद्ध करने में अपना कितना हाथ रखता है। पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त ये दो शब्द मनुष्य की अज्ञानता का इस प्रकार दिग्दर्शन कराते हैं कि वस्तुतः मनुष्य, मनुष्य बन जाता है। अमानुषिकता या दानवता जगह ढूँढ़ने पर भी अपने लिए कोई भी जगह ढूँढ़ नहीं पाती। जीवन की रूप-रेखा स्थिर करने में में दो शब्द बड़े सहायक प्रमाणित होते हैं। परन्तु कितने प्रायश्चित या पश्चात्ताप का ढोंग रचते हैं, ऐसों का जीवन अपूर्ण असन्तुष्ट कुक्कुरवत् व्यतीत होता है। कुछ काल के लिए भले ही, समाज के कुछ अपुष्ट अंगों पर उनका प्रभाव पड़ जाय। पीछे बोल खुलने पर उनकी अवस्था स्वतः दयनीय दीखती।

दर्पण की स्वच्छता प्राप्त करने वाले बहुत ही कम मानव हैं, जो सत्ता का प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप करते हैं। चण्डीदास का प्रायश्चित्त अपनी नन्हीं भूल के लिए सुखकर सिद्ध हुआ। कैकेयी का पश्चात्ताप अन्त में सुधार के लिए अच्छा हुआ, किन्तु क्रोध या रोष की भूल का वर्त्तमान में जो परिणाम हुआ वह तो दुःखकर ही हुआ, उसका भविष्य के साथ कोई विशेष सम्पर्क नहीं है। बल्कि दृश्य-घटना की प्रबलता से प्रमाणित होकर अतीत के लिए वाल्मीकि को जो पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त हुआ, वह उन्हीं के लिए नहीं, प्रत्युत समस्त संसार के लिए कल्याणकर प्रमाणित हुआ। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण आज के युवकों को किसी भी अतीत के कुकर्म का प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उनका कहना है, दुनिया का विचार व्यर्थ है। यहाँ पाप-पुण्य का प्रश्न मूर्ख ही उठाते हैं। वस्तुतः यह सब कुछ नहीं। यह पाप-पुण्य, यह कह भी दूँ, तो दूँ क्या सबूत। यद्यपि अपनी कायरता, आलस्य एवं नपुंसकता के कारण वे भी व्यर्थ में पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त कह कर स्वयं अपनी जान गँवाने की बड़ी मूर्खता करते हैं। विष-पान कर, लाइन पर कट-कर, गंगा में डूब कर या अन्य रीति से इसी प्रकार प्राण गँवाने की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाती है।

इसे प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप कहना मूर्खता है। भावावेश में आकर

था क्षणिक उत्तेजना के वशीभूत हो जान गँवाने को भला प्रायश्चित्त कैसे कह सकते हैं। और इसी निराश और मूर्खता के जीवन की अभिव्यक्ति भावी समाज की रूप-रेखा गलत स्थिर करती है, जिससे लोगों का ही क्यों समूचे राष्ट्र का अहित होता है। और चूँकि शिष्टों से ही इसकी शुरुआत हुई है, अतः इसको मिटने-मिटाने में देर लगेगी। आज के उपन्यास साहित्य में ऐसी भावना का विशेष रूप से चित्रण होता है। चित्रपटों में भी, विशेषत: रोमांटिक में इसका विस्तृत रूप से दिगदर्शन कराया जाता है, जो आधुनिक विद्यार्थी समाज को उसी ओर ले जाने में सहायता देता है।

अब साहस उत्साह, आशा, जागृति का इसीलिए अधिकांश में अभाव रहता है। कदाचित् इसी वजह समाज ही अकर्मण्य-सा प्रतीत होता है। मध्य वर्ग इस जीवन पर ध्यान नहीं देगा तो निस्सन्देह उसे अस्तित्त्व-रहित प्रमाणित होना होगा। सच इसलिए अधिक है कि मध्य वर्ग को व्यक्त करने के अनेक साधन-प्रसाधन हैं। वह अपने आपकी अभिव्यक्ति बड़ी कुशलतापूर्वक करना जानता है जिसका साहित्य में स्वतः आ जाता है अत: अनिश्चित मार्ग स्थिर करने में ही सहायता देता है। वह जीवन को एक व्यापार मानता है या जुआ। आश्चर्य तो यह है कि इस पर उसे गर्व भी है। गौरव रहता तो एक बात भी थी। इसी को किसी समय सम्बल मान कर कहता है, मुझे आत्मबल है, आत्मविश्वास है जिसके आगे दैविक शक्ति भी हार मान लेती है। पर वह भूलता है, यहाँ उसकी आत्म-प्रवञ्चना शक्ति कार्य करती है।

सत् को असत् के रूप में देखने वालों में आत्मबल और आत्म-विश्वास का सर्वथा अभाव रहता है। आत्म-प्रवञ्चना, एक वह बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को कहीं से कहीं उठा फेंकती है। कर्त्तव्य की रूप-रेखा से वह बहुत दूर रहती है। परिस्थिति उसको जीत लेती है, कर्म उसके आगे हार खाता है। सामाजिक नींव की अदृढ़ता पर मनुष्य को विश्वास दिलाने के लिए प्रेरित करती है। निर्बल-सबल से विजयी हो जाता है। मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न हो जाती है।

ईरान की सूफ़ी शाखा के मनुष्यों के समान वे कृत्रिमता के प्राङ्गण में रहने के इच्छुक हो जाते हैं। और कृत्रिमता जीवन का विनाशक प्रमाणित हो चुकी है। कितने जीवन को धर्म के बन्धन में जकड़ देते हैं। परन्तु वे शायद धर्म या जीवन का वास्तविक अर्थ नहीं जानते हैं। धर्म की व्याख्या भारतीय मत के आधार पर है :—धारयतीति धर्मः। किन्तु पाश्चात्य विचारा-

नुसार धर्म का अर्थ Duty है। कर्त्तव्य, धर्म और जीवन, तीनों अलग-अलग महत्त्व रखते हैं। किन्तु जीवन का कर्त्तव्य के साथ गहरा सम्बन्ध है। धर्म के आगे एक सीमान्त रेखा खींच दी गई है, जिसकी वजह उसका अर्थ भी बड़ा सङ्कीर्ण हो गया है।

मानव-धर्म, कर्त्तव्य-धर्म, जीवन-धर्म सबमें पृथक्-पृथक् सत्ता विराजती है। भाग्य पर निर्भर करने वाले धर्म की आड़ में अनाचार या अनर्थ का प्रचार करते हैं। जीवन-कर्म में व्याप्त रहने वाले को भाग्य पर निर्भर कदापि नहीं रहना चाहिये। अन्यथा आलस्य उसका घर बन जायगा, निराशा, उसका आङ्गन होगी, अविचारिता, उन्नति का प्रथम सोपान होगी। और विचार जीवन को कुत्सित विकृत बना देते हैं। अतः धर्म से अधिक कर्त्तव्य पर दृष्टि रखना, सर्वथा उचित है। बल्कि कहना चाहिये कर्त्तव्य को ही जीवन मान कर अग्रसर होना श्रेयस्कर होगा। किन्तु कर्त्तव्य की रूप-रेखा भी समुचित रीति से स्थिर होनी चाहिये। मूल युक्त कर्त्तव्य का निर्माण भी होता है। ऐसे कर्त्तव्य को आदर्श मान कर चलने वाले शायद अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते। उनके ध्येय की स्थिति ठीक नहीं रहती। उद्देश्य-पूर्ति में वे संलग्न नहीं रहते। उनकी यथार्थ शक्ति का ह्रास हो चुका होता है। कर्त्तव्य में भी संयत भावना अपना कार्य करती है। भूल-सुधार की यथेष्ट क्रिया यदि मनुष्य का साथ दे तो सच्चे कर्त्तव्य-ज्ञान का अङ्कुर मस्तिष्क में उत्पन्न हो सकता है।

भावना हृदय के स्वरूप का चित्र खींचती है। कर्त्तव्य जीवन को उचित दिशा की ओर अग्रसर करता है। जीवन कर्म की स्मृति को सजीव रखता है। कर्म, जीवन को पुष्ट बनाता है। सच्चा धर्म, इन तीनों का नायकत्व कराता है। और इन सब की एक ही जगह जिस साहित्य में अभिव्यक्ति होती है, वह श्रेष्ठ स्थायी साहित्य सिद्ध होता है। पर नितान्त परिमित क्षेत्र, जिस साहित्य का हो जाता है, वह श्रेष्ठ या स्थायी नहीं हो सकता। सिर्फ समाजवादी साहित्य निर्माण करने वाले उपर्युक्त विषयों को एक ही जगह कदापि नहीं अँटा पायेंगे। इसका एक मात्र कारण है कि वे साहित्य को एक सीमा में बाँध देने के उत्सुक रहते हैं। जीवन में पूर्णता ही रहे यह आवश्यक नहीं। उसमें अपूर्णता भी रहती है। पर ये पूर्ण ही बनाने की फिकर करते हैं। बल्कि वह पूर्ण हो जायगा तो उसकी गति रुक जायगी, फिर अगति का नाम जीवन न होकर मृत्यु हो जायगा। मुझे तो ईश्वर की पूर्णता में भी इसी कारण सन्देह हो जाता है फिर मनुष्य और उसके जीवन का क्या प्रश्न।

जीवन में हर्ष-विषाद-संयोग-वियोग सब रहना चाहिये। अन्यथा जीवन जीवन न होकर और ही कुछ होगा।

प्रयोग, निर्माण, व्यवहार

आज का मनुष्य प्रयोग या निर्माण पर अधिक ध्यान दे रहा है, हमेशा वह इसी पर सोचता है, पर करने का जहाँ प्रश्न उठेगा, वहाँ वह एकदम दबा पड़ा मिलेगा। नित नया प्रयोग, नूतन निर्माण ही कर्त्तव्य की रूप रेखा कदापि स्थिर नहीं कर सकता। यदि ऐसा हुआ तो इसका यह अर्थ होगा कि समस्त मानव-जीवन एक प्रयोग मात्र है। और समस्त संसार एक प्रयोगशाला सिर्फ प्रयोगशाला का व्यक्ति समाज के प्रत्येक अंग से अच्छी तरह परिचित नहीं होगा।

प्रयोग का निर्माण के आधार पर टिकने वाले मानव में विश्वास और संयम का नितान्त अभाव सा-रहता है। और बिना विश्वास और संयम के जीवन कर्म का कोई भी रूप स्थिर नहीं हो सकता। न ठोस कार्य ही कर पायेगा, अपने आप के लिए भी। प्रयोग में व्यवहार का भी अभाव रहता है, और समाज के लिए व्यवहार-कुशल होना, अनिवार्य है। फ्रेड्रिक एन्जिल्स अपने को व्यवहारिक ज्ञान का भण्डार बताया था, पर प्रयोगशाला के लिए जितना वह उपयुक्त था, उतना व्यवहार के लिए नहीं। लेनिन उसका प्रतिशब्द था। मार्क्स व्यवहार का शाब्दिक अर्थ जनता था, टाल्सटाय व्यावहारिक की जगह अनुभवी अधिक था। पर आश्चर्य है, इन्हें एक प्रकार से गुरु मान कर चलने वाले स्तालिन में इसकी योग्यता है। उसने इस महान युद्ध के दूसरे प्रतिनिधियों के साथ इस प्रकार व्यवहार किया, जिससे ज्ञात होता है, वह परिस्थितियों का अच्छा परिचायक है। अपने जनों, परिजनों का भी उसने पहचानने में भूल नहीं की। यदि ऐसा होता तो वह अपने आपको विनष्ट कर चुका होता, उसकी अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं होती। और न उसका जन वर्ग ही साथ देता।

विश्वास संयम के घर में भी वह रहना जानता था। अच्छी मजबूत ईंट की नींव पर अपने को व्यायम करने में उसे इसलिए सफलता मिली कि उसने प्रयोगशाला के व्यक्तियों को सिर्फ अच्छे प्रयोग के लिए ही छोड़ दिया, और व्यवहार की विद्या स्वयं अपने प्राप्त की। प्रयोग उसका अस्त्र-शस्त्र है जरूर, पर व्यवहार उसके जानते अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, अपने आपको आगे बढ़ाने के लिए। पंचम जॉर्ज अधिक अनुभवी और व्यवहारिक थे।

उसके बाद के एडवर्ड या षष्ठ जार्ज में इसका सर्वथा अभाव है। विक्टोरिया में यह गुण था। चर्चिल अनुभवी व्यक्ति हैं, पर चातुर्य या धूर्तता उनमें अधिक है। स्टेफर्ड क्रिप्स अवश्य व्यावहारिक है, पर अपने चातुर्य के बल पर झूठ-सत्य का प्रचार एवं झूठ विश्वास दिलाकर अपने कार्य साध लेने की स्वार्थ-निर्बलता, उसमें प्रबलता से है। अपने को वह बाह्य जगत् के आगे धार्मिक सत्य-निष्ठ घोषित करता है। धार्मिक-सत्ता पर दृढ़ विश्वास रखता है, और दिलाता है। एक बार धर्म पर क्रिश्चियन-समाज पर उसने कहा भी था :—

The tasks before us are, first, so to conduct ourselves as Individual christians that in spite of the difficulties of our surroundings, we may work towards the establishment of God's Kingdom throughout our country and the world, and second, so to influence and change our social, economic and political environment as to encourage both ourselves and others to the christian way of life*

इसी के ठीक विपरीत अन्य मतों का मानने वालों के बीच उसने अन्यत्र भाषण दिया। हिटलर सिर्फ़ प्रयोग करना जानता था, अपने निर्माण की नींव पर उसे दृढ़ विश्वास था। उसका अहं हर समय पराकाष्ठा पर पहुँचा रहता था। उत्तेजना अधिक थी, उमंग का आवेश प्रचुरता से था। व्यवहार अनुभव का अभाव था। फ्रान्स के रूसो और वोल्टेयर, ये दोनों अनुभव को अपनी सफलता का आधार मानते थे, व्यवहार में कुशलता प्राप्त करना, उन्नति का साधन मानते थे।

च्याङ्काई शेक को दूसरों के प्रयोग या निर्माण पर विश्वास करना पड़ता है। व्यवहार में कुछ कुशल अवश्य हैं, पर अनुभवी नहीं। बौद्धिक ज्ञान का भी उनमें अभाव है। दूसरों के निर्णय में हाँ, हाँ मात्र कर सकते हैं। अपने विचारों में कदाचित् बल न पाते हों। भारतीय नेताओं में भी ऐसी बातें पायी जाती हैं। गोखले, सत्य को आधार मानकर प्रयोग या निर्माण करते थे।

---

*The Assam Tribune, Friday, October 2, 1942

बालगंगाधर तिलक अनुभव के बल पर प्रयोग करते थे। विश्व-वन्द्य महात्मा गाँधी अहिंसा सत्य को समक्ष रख कर व्यवहार अनुभव-शक्ति के द्वारा प्रयोग करना जानते हैं। पर उनमें भी एक आन्तरिक शक्ति है, जिसमें राजनीति का चातुर्य प्रबलता से व्याप्त है।

जवाहरलाल नेहरू प्रयोग के लिए असफल, और निर्माण के लिए पूर्ण सफल व्यक्ति प्रमणित होंगे। किन्तु उनकी राजनीति में विशेष चातुर्य नहीं है। व्यवहार-कुशल अधिक हैं। उनका हृदय अदम्य उत्साह, जागृति, ज्योति, उमंग का केन्द्र था, परन्तु आज वे एक की सीमा में अधिक विचर रहे हैं।

इसका बहुत कुछ कारण गाँधी जी का राजनीतिक चातुर्य है। अन्यथा शान्ति, क्रन्ति, संयम, विश्वास, अध्ययन, व्यवहार, के द्वारा राष्ट्र की वे इससे भी बड़ी सेवा करते। वे इस राष्ट्र की एक बहुत बड़ी जबंदस्त शक्ति सिद्ध होते। किन्तु एक विनम्र-शक्ति का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा, फलत: कोरी अहिंसा और सत्य के पृष्ठपोषक हुये, जो इस साम्राज्यवाद युद्ध की भयङ्कर परिस्थिति के समय मेरे जानते असामयिक एवं अनुचित था। व्यक्ति-व्यक्ति के सिद्धान्त, विचार में अन्तर होता ही है। गाँधो जी के लिए अहिंसा, सत्य बड़ा अस्त्र-शस्त्र है। पर जवाहरलाल जी के लिए उनके पूर्व निश्चित विचार ही उपयुक्त थे। सम्भव है, मेरे इस विचार में दोष हों, पर जहाँ तक सत्य धारणा है मेरी, वहाँ तक कहूँगा, गाँधी जी का इस परिवर्त्तन में हाथ अधिक है। मनुष्य में लोभ, मोह, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध सभी आवश्यक गुण है। पर ये साधारण मानव के लिए हैं।

सबसे ऊपर उच्च स्तर पर स्थिर मानव के लिए यशोप्राप्ति का लोभ, मोह, गौरव, गुण हैं, किन्तु, कभी-कभी वे भी अहितकर प्रमाणित होते हैं। अपने सिद्धान्तों, विचारों, मतों के प्रचार के लिए प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, उसके अनेक अनुयायी एवं सहयोगी प्राप्त हों। गान्धी जी ने भी यही किया, जिसके लिए वे विशेष दोषी भी नहीं कहला सकते। किन्तु स्थल, परिस्थिति विशेष के समय इतना उन्होंने अवश्य चाहा है कि जवाहरलाल उनके अनुयायी हों। वे भी जानते थे, जवाहर बल, त्याग, सत्य, अध्ययन के कारण अपने आप में अधिक शक्ति रखते हैं।

जवाहर गान्धी जी के राजनीतिक चातुर्य को भूल कर भविष्य के प्रलोभन जाल में उलझ गये, उन्होंने अपने को आत्म-विस्मृत अवस्था में कुछ देर के लिए पाया। गाँधी जी की प्रकृति में विकृति आगई थी, ऐसा मैं नहीं कहता;

अपने विचारों, सिद्धान्तों के प्रचार में उन्होंने राष्ट्र का कल्याण समझा। शायद इसीलिए जवाहर को अपने में आत्मसात करने का अपने जानते स्तुत्य प्रयास किया।

इसमें उन्हें सफलता भी मिली। अन्यथा कभी दोनों दो प्रतिकूल धारा थे। पर जगह-जगह गाँधी जी की जवाहर सम्बन्धी, राजनीतिक उक्तियों ने उन पर अपनी गहरी स्थायी छाप डाल दी। स्वत: गाँधी जी ने कहा—'Pandit Jawaharlal Nehru is my legal heir. I am sure when I pass he will take up all the work, I do. He is a brave and courageous man[1].'

मैं यह कदापि मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ कि इस उक्ति का जवाहर पर कोई प्रभाव न पड़ा होगा। डा० बी० पट्टाभाई सीतारमैया की इस उक्ति या निर्णय को मैं मानता हूँ कि "The fact is that Gandhi is a philosopher and prophet, Jawaharlal is a politician and man of the world. Yet Gandhi is the inspiration and Jawaharlal is the instrument. It is thus the affinity of Jawaharlal the politician to Gandhi that should be explained. Everyone knows that they are as fire and water, but in that very opposite the real affinity abides. If Jawaharlal analyses, Gandhi synthesises. If Jawaharlal the politician soars high, Gandhi broadens the base and balances his centre of gravity. If Jawaharlal the politician is for speed, Gandhi is for volume[2]."

दोनों की शक्तियाँ राष्ट्र के हित के लिए बहुत बड़ा काम देतीं, किन्तु दोनों दो न होकर एक हो गईं, सीमा में। गान्धीजी तो यहाँ एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिसका प्रयोग अचूक होता है। जिनके व्यवहार में आकर्षण है, अनुभव

[1] The Assam Trbune, Friday, October 2. 1942.
[2] The Assam Trbune, Friday, October 2, 1942.

में विश्वास है, राजनीति में चातुर्य, वाणी में शक्ति है, अन्यथा जवाहर जैसे व्यक्ति अपनी राह से कभी विचलित नहीं होते, चूँकि उनकी भी अपनी मान्यतायें थीं, धारणायें थीं। परन्तु यह भी सर्वोपरि सत्य है कि गान्धीजी सिर्फ प्रयोगी ही नहीं हैं। और भी कुछ ही नहीं, सब कुछ हैं।

भारतीयवाद के पीछे उनके प्रयोग-अस्त्र अवश्य सिद्ध होते, किन्तु जवाहर के निर्णीत विचारों के पश्चात् जो प्रयोग होते, वे भी अवश्य अपना विशिष्ट महत्व रखते। प्रयोग के प्रकार अनेक हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र, वर्ग, जाति, सब के अलग प्रयोग होते हैं,। परिवार के अभिभावकों के प्रयोग का सन्ततियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है; और इन्हीं सन्ततियों में से कोई आगे चलकर राष्ट्र का अग्रदूत बनता है, जो पीछे के देखे-सुने, समझे प्रयोगों के आधार पर नया-पुराना मिला प्रयोग करता है।

एक क्षेत्र का अनुभवी एक ही दिशा के लिए प्रयोग करता तो अच्छा होता, पर आज सभी दिशा के लिए एक ही अनेक प्रयोग करता चला जाता है जिसकी वजह परिवार की कार्य-प्रणाली में अन्तर पड़ जाता है और वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

अधिकांश आधुनिक अपने को अच्छा और शिष्ट कहनेवाले अभिभावक सिर्फ नित नये प्रयोग ही करते हैं, जिसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती। सन्तति भी पूर्ण नूतन प्रयोग में अकुला कर, विकल, व्यग्र हो जाती है, और अपने जीवन की धारा को बदल देती है, और अनुभवरहित प्रयोग करती है, जिसकी वजह वह राष्ट्र की न होकर व्यक्ति की सीमा में भी अपने घर बना लेती है, और पेट की लगी आग को बुझाते हुए कुक्कुरवत् अपूर्ण जीवन बिताती है। उत्थान की जगह पतन्, उन्नति की जगह अवनति की ओर अग्रसर कराने का बहुत कुछ दोष ऐसे ही सिर्फ प्रयोगी अभिभावकों के सर पर मढ़ा जा सकता है। यद्यपि चाहिये कि सन्तति जब सोचने-समझने की शक्ति का पूर्ण विकास देखे, तब सर्वप्रथम व्यवहार में पटु हो विचार में संयम रखे, अनुभव में गम्भीरता और तब स्वयं अपने उपयुक्त जीवन-कर्म की वृद्धि के निमित्त प्रयोग करना सीखे, सफलता प्राप्त हो तो समाज के लिए भी वही आदर्श के रूप में उपस्थित करे।

ऐसा व्यक्ति अपनी सतह से ऊपर उठ कर, समाज का, देश का उन्नायक कहलायेगा। किन्तु प्रयोग की विधियाँ भी अनेक हैं, वैज्ञानिक या आविष्कार के प्रयोग में और महान नेता या साधारण, शिष्ट परिवार के अभिभावक के प्रयोग में महान अन्तर है। वैज्ञानिक, सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा असम्भव वस्तुओं

का दिग्दर्शन कराने के निमित्त प्रयोग करता है। नेता, समाज की स्थिति को समझाने और उसके कल्याण के लिए प्रयोग करता है। अभिभावक अपने विचारों के अनुकूल चलाने के लिए प्रेरक प्रयोग करता है।

हौक्सले ने प्रयोग सम्बन्धी अनेक रचनायें लिखी हैं, जिनके अध्ययन से प्रयोग का वास्तविक अर्थ ज्ञात है। प्रयोग मात्र करने से कर्म में गति नहीं आ पाती है। प्रयोग सीमित होना चाहिये, और कर्म असीमित। कल्पना के आँगन में कम विचरना चाहिये। कभी दोष या अपराध पर ढक्कन डालने का कदापि प्रयास नहीं करना चाहिये। आदर्श पर नकाब डालना, अपने को सम्पूर्ण बहुत कहना, अपने भविष्य के स्वरूप को बिगाड़ना है। थोड़े ही प्रयोग में साफल्य अधिक प्राप्त हो तो दम्भ को अपने में कदापि जगह नहीं देनी चाहिये। घटनाओं पर, समाज की गति-विधियों एवं कर्त्तव्यों और साधनाओं पर हमेशा दृष्टि डालनी चाहिये। नहीं तिरना जानते रहने पर भी अपने को सबसे बड़ा तैराक नहीं घोषित करना चाहिये।

प्रयोग के साथ जीवन का, और जीवन के साथ कर्म का, कर्म के साथ गति का, और गति के साथ दृष्टि का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। ये जीवन के बड़े-बड़े अंग हैं। यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रयोग-जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में स्थान कर लेगी तो समाज की, राष्ट्र की व्यवस्था में भी दोष आ जाने की शङ्का है। आत्म-परित्याग की भावना में, दूसरों के प्रयोग पर अधिक चलने की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति प्रशंसनीय है। उसके उद्योग भी प्रयोग कहलायेंगे, और जो अपने हमेशः नूतन प्रयोग पर चलने-चलने का प्रयत्न करते हैं, वे स्तुत्य नहीं है, उनके उद्योग असफल सिद्ध होंगे।

साधारण परिस्थितियाँ मनुष्य को अपनी बचाव के लिए नये मार्ग को ढूँढ़ निकालने का प्रयोग करने को बाध्य या विवश करती हैं। निम्न वर्ग की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं कि उस श्रेणी के बचाव के मार्ग ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़े। जो कुछ है, उसके सामने है। मेहनत कर, पसीना बहा कर, उसे पेट मात्र भर लेना है, इसके आगे न उसे कुछ सोचना है न करना। प्रयोग के प्रश्न उसके आगे उठते ही नहीं। यद्यपि वास्तविक निर्माण में उसका जबर्दस्त हाथ है। निर्माण की भी विधियाँ अनेक हैं। ईट की नींव पर भवन का निर्माण, राष्ट्र-कल्याण के निमित्त सच्चे मार्ग का निर्माण किनारा का निर्माण, कई प्रकार के निर्माण हैं। यही है कि निम्न वर्ग के निर्माण के बिना भी सभी कार्य चला जाता है। पर राष्ट्रीय हितार्थ जो निर्माण है, उसके बिना शायद कार्य नहीं चलने का। यद्यपि दोनों तीनों

निर्माण अपनी-अपनी जगह महत्त्व रखते हैं, फिर भी व्यख्याता की दृष्टि में राष्ट्रीय निर्माण सर्व वर्गों के लिए आवश्यक और अनिवार्य सिद्ध होगा।

मानव मनश्चेतना की आभ्यन्तरिक दशा में भी तद्वत् ही निर्माण होता है। बल्कि बाह्य निर्माण के साधन की अपेक्षा उस आन्तरिक निर्माण के साधन में बल अधिक रहता है। जीवन की परिस्थितियाँ एक नहीं अनेक प्रकार की हैं। परन्तु चेतना, हाँ, सबकी चेतना प्राय: एक सी है, किन्तु जब उसमें विकास की सामग्री एकत्र हो जाती है, तब उसमें भी परिवर्त्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लग जाते हैं। इस चेतनायुक्त जीवन में बँटवारे की आवश्यकता नहीं है, फिर भावरहित उत्तेजक-साहित्य निर्माण करने वाले बँटवारे का चिन्ह खींच देते हैं। बौद्धिक प्रयोग की शाखायें-प्रशाखायें भी अनेक हैं, जिनका मानव-समाज के साथ निकट का सबन्ध है।

सबलता-दुर्बलता भी प्रयोग को सबल-निर्बल बनाने में सहायक सिद्ध होती है। संसर्ग से उत्पन्न मस्तिष्क की क्रिया जिस प्रकार सुन्दर-असुन्दर का निर्माण करती है, उसी प्रकार सबल-निर्बल प्रयोग भी जन-वर्ग को आकृष्ट करता है। परन्तु प्रयोग और चेतना में व्यवहार और अनुकूल प्रतिकूल कर्म पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं। चेतना में जोवन है, कर्म में साधना है, प्रयोग में कल्पना-भावना दोनों हैं। और व्यवहार के ऊपर सब की सफलता असफलता निर्भर करती है। सद्व्यवहार से कभो भी किसी दशा में प्रयोगिक की शक्ति खरीदी जा सकती है। व्यवहार-कुशलता से मनुष्य अपने सीमित साधनों द्वारा उचित कर्त्तव्य-पालन में बड़ा से बड़ी सफलता प्राप्त करता है। और अव्यावहारिक होने के कारण ही और गुणों से विभूषित होने पर भी खड़ा-खड़ा अपना ध्वंस-विध्वंस देखता है। सोचता भी है, मेरे गुण, दोष में क्यों परिणत हो गये। पर व्यवहार की अनिपुणता पर उसका तनिक ध्यान नहीं जाता। दृष्टि में दोष हो तो हो, पर व्यवहार में दोष कदापि नहीं होना चाहिये।

विशेषकर आज के युग के लिए, समाज के लिए इस दोष से सर्वथा वञ्चित रहना चाहिये। चूँकि पग-पग पर इसके अभाव के कारण ठोकरें खानी पड़ती हैं। मानवता के पर्याप्त गुण वर्त्तमान रहने पर भी मनुष्य, मनुष्य न होकर राक्षस ही साबित होता है। शिष्यों के समाज में इसकी बड़ी खोज होती है। व्यवहारिक व्यक्ति, अयोग्य भी हुआ तो क्या, समष्टि उसे मिलेगी। किन्तु योग्यता की सर्टिफिकेट प्राप्तकर लेने पर भी व्यवहारशून्य व्यक्ति निगाह के निम्न में भी शायद ही स्थान प्राप्त करे। उनके जानते

व्यवहार की सर्टिफिकेट बिना मानव उच्च स्थान प्राप्त करने का अधिकारी नहीं।

व्यवहारशून्य व्यक्ति के लिए उनके यहाँ बड़ा मधुर शब्द है, बुद्धू! अशिष्ट! हास्य की वह सामग्री होता है मनोरञ्जन का साधन सिद्ध होता है। उसको बनाने में उन्हें आनन्द और सन्तोष होता है। सब सँजोकर यही कहना उपयुक्त है कि प्रयोग निर्माण में व्यवहार एक बहुत बड़ा बल है। मनुष्य को उन्नति करनी हो, यश प्राप्त करना है तो व्यवहार के सब अंगों से परिचित हो, इसकी शिक्षा उसे अवश्य रहे, अन्यथा उसके बढ़ने के सब साधन, वस्तुओं को प्राप्त करने की सारी अभिलाषाओं के प्रयत्न बालू की भीत प्रमाणित होंगे।

कर्म-व्यापार में संलग्न मानव के लिए व्यावहारिक, जीवन की अभिव्यक्ति यथार्थ आदर्श के प्रचार में सहायता का काम करेगी। साहित्य के स्वरूप-निश्चय में इसकी बड़ी आवश्यकता है। पर ठोस दृढ़ सत्य भावनाओं का आश्रय लेकर ऊपरवाली परिस्थितियों का दिग्दर्शन साहित्य में हो तब, अन्यथा साहित्य भी महत्व-रहित प्रमाणित होगा।

राजनीति की प्रयोगिक शक्ति एवं मस्तिष्क भी क्रियात्मक शक्ति तथा व्यावहारिक बल का उल्लेख मात्र साहित्य में हो, यह मैं नहीं कहता। यथार्थ, सत्य घटनायें या परिस्थितियाँ उसमें अवश्य वर्त्तमान रहनी चाहिये। चूँकि साहित्य द्वारा वर्त्तमान जगत् का चित्रण कर भविष्य में आने वाले जगत, को जहाँ संकेत करना होगा, वहाँ स्वतः वह जगत् सचेत होकर आयेगा। व्यक्ति विशेष के नेतृत्व ग्रहण कर उसे कुछ समझाने की शायद जरूरत न पड़े। इस मानव का व्यवहार उस मानव के व्यवहार में मु का संकेत देगा। अतः साहित्य में उपर्युक्त जीवन की सभी अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

मनुष्य एक सब से बड़ी शक्ति है। यदि ब्रह्मा ने उसे सिरजा, तो उसने शेष संसार की सब शक्तिशाली वस्तुओं की सर्जना की। वह सब पर बड़ा अधिकार रखता है, तो यह भी सब पर अपना सम्पूर्ण आधिपत्य जमाता है। बड़े से बड़े जंगली हिंस्र जीवों पर इसका अधिकार है, सागर में उतने बड़े सुविशाल जहाजों को बनाकर उसको पूर्व से पश्चिम वह घुमाता है। पृथ्वी की छाती पर अथाह सुविस्तृत जल में लहरों, आँधियों, तूफानों में अपना वह जलयान रोके जाता है। अम्बर में वायुयान वह हाँकता है। संहार के साधन इसके पास हैं। सृजने के साधन इसके पास हैं, पालने के साधन इसके पास हैं। सारांश यह कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का, मनुष्य मूर्त्तिमान रूप है, इसमें

सन्देह नहीं। इसीलिए ग्रन्थों में कहा गया है:—मनुष्यः सर्वं कर्त्तुं शक्नोति।' संसार को उलट-पलट देने की इसमें पूर्ण शक्ति है।

दिनोंदिन साम्राज्यवाद युद्ध की भयङ्करता में इसकी शक्ति का अच्छा आश्चर्यजनक परिचय मिलता जाता है। अतः यह अपने जीवन-संग्राम में जूझता-जूझता सब कुछ निश्चय करने को सदा फिकर करता है। इसकी अन्तश्चेतनायें सदा जागरूक रहे, इसकी अन्तर्वृत्तियाँ हमेश: सुख से भरी रहें। शान्ति-निस्तब्धता भी रहें, क्रान्ति और आग की ज्वाला, लू-लपट भी रहे। रहे। अति किसी में न हो। क्षमा-शौर्य पराक्रम का यह प्रतीक भी रहे, क्रोध हिंसा की प्रत्यक्ष मूर्त्ति भी रहे। सम्पूर्ण न तो यह पूर्ण अवश्य रहे। इसका आधार कभी निर्बल न हो। इसकी नींव कभी कमज़ोर नहीं है। किन्तु आज का विशेष मनुष्य सर्वप्रकार से हीन, नितान्त दुर्बल प्रमाणित हो रहा है, जिसकी वजह इसकी कोई सत्ता नहीं, कोई महत्त्व नहीं। इसको फजूल समस्यायें बढ़ गई हैं, व्यर्थ प्रश्नों का विस्तार हो गया है। बुद्धि में तीक्ष्णता नहीं, शायद इसीलिए समस्याओं का समाधान नहीं, प्रश्नों का उत्तर नहीं। ढोंग, कृत्रिमता अधिक है। शो में प्रियता है। यथार्थ से कोसों दूर है, पर अपने को सदा यथार्थ जगत् का मान्य सदस्य अवश्य गर्व के साथ घोषित करता है।

अपनी निर्बलता का उसे थोड़ा भी ज्ञान नहीं, झूठ की सबलता का पोषक अवश्य अपने को मानता है। अनाचार, दम्भ में झूठ, धोखा, मक्कारी में उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती है। उसके कर्म में गति नहीं, जीवन नहीं, आशा नहीं, जाग्रति, उमंग कुछ नहीं; असन्तोष, निराशा, आलस्य, अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या मात्र है। इसीलिए उसकी शक्ति का शायद ह्रास हो गया। संयम-सदाचार का जीवन बिताना, उसे इष्ट नहीं। लूट-खसोट कर जिन्दगी बसर करने का वह आदी हो गया। हाथ-पैर हिलाने का आन्दोलन अवश्य करता है, पर स्वयं यह काम इससे नहीं सँवरने का। यह हाथ-पैर हिलाना चाहता भी नहीं। वैभव, ऐश्वर्य का वह भोग चाहता है, फलतः अपने आपको खोकर, विनष्ट करके ही रहेगा।

इसकी जीवन-धारा में दूषित पदार्थ प्रवाहित हो रहे हैं। सागर-जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक यह कदाचित भी पहुँच सके। रक्त, विकृत हो गया है, अन्यथा, राष्ट्र की पारिस्थितियों में महान् परिवर्त्तन, कुप्रवृत्तियों में सुधार हो गया होता। गिरता-पड़ता, वह इसी समय अपने को सँभाल सकता था। और कर्त्तव्य के भव्य-भवन का निर्माण कर सकता था। किन्तु इस युग में भी आत्मनिर्भरता उसने न सीखी, खोज कर पाना न सीखा, समय का

सदुपयोग न सीखा, जीवन को जनाना न सीखा। भविष्य का सुन्दर स्वप्न तो विलीन हो ही गया। भारतीय आधुनिक समाज का कहना है, हम उठ रहे हैं, उठा रहे हैं। पर वे गिर रहे हैं, गिरा रहे हैं। जाल में उलझकर बच जाने वाले को दूसरों के आगे जाल बिछाने की भूल नहीं करनी चाहिये, पर उनकी यह प्रवृत्ति जारी है। ध्वंस के साधन जुटा रहे हैं, मानवता के ह्रास के लिए। अपने को बलि चढ़ा रहे हैं, स्वार्थ के प्रसार के लिए। दूसरों के अनुग बन रहे हैं, अपने को जड़ समेत उखाड़ फेंकने के लिए। अन्धे की तरह अपनी संस्कृति-सभ्यता को कलुषित सिद्ध करने में लगे हैं, सिर्फ़ अपने को 'अपटूडेट' बताने के लिए। उन्हें न बीते कल, न आने वाले कल की चिन्ता है। उनकी आँखें सिर्फ उन्हीं को देखती हैं, उन्हें ही पहचानती हैं, शेष के लिए वे अन्धी हैं। विशेषकर 'अहमेव सर्व' 'एकोऽहं बहु स्याम' की भावना ही उन्हें प्रतिकूल धारा की ओर प्रवाहित कर रही है।

आत्मगौरव को उन्होंने गर्व का रूप दे दिया है। आत्मबल, आत्मविश्वास, उनमें है ऐसा उनका कहना है। पर मेरे जानते, यहाँ आत्मप्रवञ्चनाशक्ति प्रबलता से अपना कार्य साधती है। किन्तु प्रवञ्चनाशक्ति को वे बुरा नहीं मानते, इसलिए कि आज के स्वार्थी युग में जीवन-गाड़ी खींच ले चलने में वह सहायक का कार्य करती है। अन्तिम जीवन के क्षण में जब मस्तिष्क भी जवाब दे देता है, तब वही शक्ति उसे हर समय निगलने के लिए उतारू रहती है। प्रायश्चित-पश्चात्ताप के आँसू भी उनके सूख चुके होते हैं। धमनियों, हड्डियों की कड़क जाती रहती है, तब मानसिक कमजोर शक्तियाँ प्रतिक्षण उन्हें विगत पर घूरने को बाध्य करती हैं। उस समय प्रवञ्चनाशक्ति शिथिल, अलस, श्लथ फिर बताती है, तुममें मेरा अब वास न होगा, मुझे दूसरी जगह तुम जैसों की पूर्व छलनामयी अवस्था में घर करना होगा, अतः अब मैं चली।

फिर वह मुँह के बल गिरता है, पर अब क्या 'जब चुग गईं चिड़िया खेत।' विचारों की खाट से उठना चाहता है कि गिर पड़ता है। ऐसी दशा में उसके जानते, मर जाना ही श्रेयस्कर है। पर ऐसे जल्दी मरते कहाँ हैं। अकेली धूर्त प्रवञ्चनाशक्ति जो इस समय उनका साथ छोड़ चुकी होती है, फिर भी जो कुछ संचित रहती है, और शक्तियों के आगे क्या कर सकती है! पश्चात्ताप का प्रबल बल लेटे-लेटे उन्हें अच्छी तरह घुलने देता है, और तब तक घुलने देता है जब तक वह अन्तिम साँसें न छोड़ चुका होता है। इस अन्तिम क्षण के लिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिये, वह प्रवञ्चना शक्ति को अपने

में कदापि घर न दे। यह सत्य है कि आत्मबल या आत्मविश्वास के आगे नियति भी सर झुका लेती है, पर सच्चे आत्मबल या आत्मविश्वास का लोगों में अधिक अभाव रहता है। प्रायः सौ में पञ्चानबे ऐसे हैं जिनमें इन दोनों बलों का समावेश है। कुछ इसकी ऐक्टिङ्ग करते हैं, उनमें प्रवञ्चनाशक्ति जोर से अपना कार्य करती है, जिसमें इसने स्थान पाया, उसको दूसरी ओर मुड़ने का तनिक अवसर नहीं दिया। भाव-भंगिमा के प्राङ्गण में वे गर्व का नृत्य करते रहें, किन्तु मर्म को, कभी भी नहीं पहचान सकते।

संसार के प्रत्येक महान् से महान्, अधिक से अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का मूल्य सहज वे प्रवञ्चनाशक्ति के द्वारा सोलह आने में शायद कुछ आँक सकें। सत्य उनके लिए पाप और घृण्य है। बल्कि पाप को हरा ही देना चाहिये, सिर्फ घृण्य मानते हैं। चूँकि पाप को वे कुछ मानते ही नहीं, यह ढोंगियों के पेट का सबल साधन है। असत्य मानवता के विकास का चरम लक्ष्य, साधन है। जिसमें असत्य नहीं है वह कभी भी इस सुनहले सुन्दर विश्व में जीने का अधिकारी नहीं। या तो वह जग में अपनी कुटि का निर्माण करे या कुत्ते की मौत मरे। शिष्ट सभ्य, व्यक्तियों के साथ जीवन-निर्वाह करने के लिए असत्य का पुजारी बनो, सत्य को स्थान दोगे तो निश्चय गला घोटने के पात्र बनोगे। मक्कारी को जीविका का साधन बनाओ। कल्याण या आदर्श का अर्थ जानने का प्रयत्न न करो। यथार्थ का ढोंग रचने में तुम्हारी उन्नति निहित है।

इस प्रकार के विचारों को जिस मनुष्य ने अपना सिद्धान्त बना लिया है, उसकी प्रवृत्ति कहाँ तक कल्याणप्रद सिद्ध होगी, सोचा जा सकता है। भावुकता का अर्थ अति उत्तेजना नहीं है। और ये भावुक हैं। मनुष्य-शक्तियाँ असीम हैं वे अच्छे बुरे में, जिधर जायँ, अति कर सकती हैं। परन्तु आज का मनुष्य अपनी शक्ति का शायद सदुपयोग कर रहा है। सिर्फ ध्वंस या विनाश की सामग्री एकत्रित करने का नाम मनुष्यता नहीं है। बुद्धि का सहयोग प्राप्त करना चाहिये। किन्तु बुद्धि भी उसकी विकृत हो गई है अतः मनुष्य को वह भी उधर ले जाती है, जिधर केवल हिंसा-क्रूरता नृशंसता का ही आधिपत्य है। जीवन का नाम वह विश्राम देता है, जो मिलता नहीं। चूँकि इस समय वह सिर्फ मेशीन का जीवन व्यतीत कर रहा है।

यहाँ मेशीन का अर्थ स्फूर्ति नहीं है, मेशीन का तात्पर्य सिर्फ कल-पुर्जों से है। अन्यथा स्फूर्ति, मनुष्य में अधिकता से रहनी चाहिये।

मानव केवल मेशीन का कठपुतला हो जायगा तो वह निर्जीव पुर्जे की भाँति ही अपना कार्य करेगा। कल-कारखाने के बाहर भी उसे दृष्टि डालनी

चाहिये। उसके बाहर के जगत् में भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। कारखानों में जगना और घर में सोना मात्र ही उसका एक काम नहीं है। भौतिक जगत् में यन्त्रों के नियम के अनुसार ही चलने में सारा कार्य नहीं समाप्त होने का। विश्व के सांसारिक भीतरी भाग पर भी सोचना, मनुष्य का ही कर्त्तव्य है। जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए भी उसे जबर्दस्त शक्ति का सञ्चय करना है।

शारीरिक शक्ति की अपेक्षा मानसिक शक्ति अधिक बलशालिनी है और हर क्षेत्र में, हर अवसर पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध होती है। बौद्धिक बल, समाज के दूषित वातावरण को हटाने के लिए अच्छा है। समाज से राष्ट्र-कल्याण की उद-भावना होगी। मेशीन में मानव-जीवन अल्प भी नहीं अत्यल्प है। शरीर के किसी पुर्जे के बेकार हो जाने पर, वह अनुभव करेगा, उसका जीवन भार हो गया, अति भार, साररहित जीवन किसी काम का नहीं। पर इस अवस्था में भी वह यह सोचना नहीं चाहता कि आखिर साररहित जीवन बनाया किसने। बेकार व्यर्थ, लूभ किसने मुझे बनाया। मेशीन की जिन्दगी भी रहनी चाहिये। किन्तु सिर्फ मेशीनी होना शायद किसी भी दशा में अच्छा नहीं। जहाँ मेशीन का प्रश्न उठे, वहाँ मेशीन से ही उत्तर दिया जाना चाहिये। किन्तु प्रयत्न यही रहे कि हम मेशीन को प्रश्न नहीं बनने दें।

इसका आगे चलकर भयङ्कर परिणाम होगा, जो विनाशकर अधिक होगा। और इस मेशीन-जीवन की अभिव्यक्ति भी कम ध्वंसकर नहीं होगी। मेशीन में मस्तिष्क-पुर्जों की आवश्यकता अधिक पड़ती है, परिणामतः शीघ्र ही एक दिन मस्तिष्क कोरा, निर्जीव मेशीन मात्र अवशिष्ट हो जाता है। उस समय उसकी उपयोगिता कदापि सिद्ध न होगी। मस्तिष्क की शक्ति का सदुपयोग होना चाहिये।

समाज, संसार, राष्ट्र की अग्रदूती शक्ति मस्तिष्क है। अन्तर्जीवन में भी एक बहुत बड़ा बल निहित है, जो बौद्धिक बल की अपेक्षा अधिक बल रखता है। बौद्धिक बल यदि मेशीन के अतिरिक्त अनेक इतर कार्य भी करे तो शायद उसकी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण, कोई आरगूमेण्ट ढूँढ़ने की जरूरत न पड़ेगी। इस बल के भी अनेक भेद हैं, शान्त स्थिति का ज्ञान (Art) निर्जीव को सजीव पर अधिकार रखने वाले पुर्जों का ज्ञान (इंजीनियरिंग नौलेज) ध्वन्स, विस्फोट, दहन पदार्थों के सत्य का अन्वेषण (साइन्स) अन्तस्करण की डाँवाडोल परिस्थितियों का परिचय प्राप्त करना, आकृति

के अध्ययन (साइकोलोजिकल स्टडी) आदि बौद्धिक बल की उपज के ही परिणाम हैं।

इनमें साइकोलोजी और आर्ट को दूर फेंक दे, और दो से ही काम लें, तो मनुष्य की प्रयोगिक शक्ति कुछ देर के लिए कार्य करे भी, उसका साथ दे, पर तुरत ही उसको ऐसी दिशा की ओर प्रवाहित करेगी, जिसमें शुष्कता, शुष्कता ही शेष रहेगी। और मेरे जानते, मनुष्य का आधार, सिर्फ शुष्कता ही नहीं, सरसता भी है। उसका जीवन केवल रेत या मरुभूमि ही नहीं, गंगा की सफेद जलधारा से भी हट कर और भी कई प्रकार की सुखद धाराओं से परिपूर्ण है। अतः शुष्क से पृथक रह कर साधारण स्थिति की जीवन-पालिका-शक्ति का आश्रय लेने के लिए और भी बौद्धिक बलों का सञ्चय करना अत्यावश्यक है। और अब तो प्रत्येक व्यर्थ की सामग्रियों का अध्ययन करना पड़ रहा है जो अनुभव-अध्ययन से भी कार्य चल जाता। कृषि-विभाग में भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। सभी कृषक न होकर विद्यार्थी ही बनेंगे, फलतः आबादी बढ़ने के बजाय रुक जायगी। चूँकि भारतीय नियमानुसार उन्हें कृषि की शिक्षा न दी जाकर योरोपीय ढंग की शिक्षा दी जा रही है, जिससे शारीरिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है।

इसका एक मात्र कारण यह है कि आडम्बर की भावना आ जाती है और आलस्य उनमे घर कर लेता है। और इसके बाद कृषि कार्य के योग्य वे नहीं रह जाते। कभी-कभी मस्तिष्क से अधिक शारीरिक ज्ञान, बली प्रमाणित होता है। यद्यपि हैं, दोनों मनुष्य की ही शक्तियाँ, फिर भी अलग-अलग उनकी क्रियायें हैं।

प्रमुख बौद्धिक बलों का प्रयोग विज्ञानादि के क्षेत्र में हो रहा है, विशेषतः आजकल शेष का एक प्रकार से बहिष्कार हो रहा है, बौद्धिक ज्ञानार्जन के लिए मनुष्य करोड़ों रुपये व्यय कर रहा है, किन्तु अभी भविष्य को छोड़िये, इसी समय वह अनुभव करने लगा है, यह सब व्यर्थ है। हम किसी भी काम के उपयुक्त नहीं सिद्ध हो रहे हैं। हमारी सारी शक्तियाँ निर्जीव एवं रक्तरहित-सी हो गई हैं। हमारा जीवन पशु से भी घृण्य हो गया है। अपने आपकी रक्षा के लिए वह अपने को हिलाता-डुलाता भी है तो हम एक पग भी डिगने के लिए तनिक भी हाथ-पैर नहीं हिला पाते। सांसारिक हितों के साधन तो दूर गये, अपने हितों के भी हम साधन नहीं ढूँढ़ सकते न जुटा सकते

सिर्फ बौद्धिक ही के लिए हम नहीं हैं, प्रैक्टिकल भी होना अनिवार्य है। और बुद्धि हमें इससे बड़ा दूर खींच ले जाती है।

बौद्धिक शक्तियाँ कभी भी मनुष्य को ऐसा समझने का अवसर नहीं देतीं, किन्तु इसकी प्रणाली ऐसी है कि वह यहाँ के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। पाश्चात्य को आधार-भित्ति मानकर यदि हम अपने को अग्रसर करें और उसको जल मानकर चीनी-सा घुल जायँ, तो अपने को खोये हुये की अवस्था में अवश्य पायेंगे। वहाँ तर्क का प्राबल्य है, सत्य का गला घोंटा जाता है, कला के लिए जीवन की नींव डाली जाती है। वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति समाज है, और प्रत्येक समाज व्यक्ति है। अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य में कोई अन्तर नहीं। सुख-ऐश्वर्य-वैभव के भोग के लिए मनुष्य का जीवन है, ऐसा समझा जाता है। ये सब भारतीय संस्कृति के पथ में रोड़ा कङ्कड़ है। कल्पना भी जीवन का आश्रयभूत अंग है, कहने के लिए यथार्थ का ढोंग अवश्य रचा जाता है। वहाँ की मानवीय शक्तियाँ शायद यहाँ के लिए दानवीय सिद्ध होंगी। वहाँ की क्रियायें निश्चेष्ट और निर्बल हैं। हाँ, जितना भर उनसे ग्रहण करना चाहिए, उसका हम विरोध कदापि नहीं करते परन्तु अपने को छोड़कर भुलाकर, सम्पूर्ण उन्हीं को सौंप दें, यह हमें इष्ट नहीं, अतः अध्ययन के प्रकार में अन्तर लाकर भारतीय प्रणालियों के अनुग बनें, तो सच है, हमारी शक्तियाँ कभी भी उन्हीं के तरह कमजोर न सिद्ध होंगी।

मनुष्य के विनाश के हित में बुद्धि सहायक नहीं होनी चाहिये। रक्तधारा बहाकर यदि मनुष्यता की नींव डाली जाय तो वह अदृढ़ ही होगी। अच्छी शक्तियों का सदुपयोग होना चाहिये। शक्तियों की विधियों का इसलिए विश्लेषण नहीं करना पड़ रहा है कि मानवीय शक्तियाँ दुर्दमनीय हैं। अतः उसका अच्छे क्षेत्र की ओर ही प्रयोग होना चाहिये। आज के निर्माण में यदि उसका प्रयोग होगा, तो कल बालू की भीत सिद्ध होगी। विचारों के आदान-प्रदान में अपने को विनष्ट करना अच्छा नहीं। श्रेय को प्रेय, प्रेय को श्रेय सिद्ध करने की मूर्खता का पूर्ण प्रयास निन्द्य है।

भारतीयता में भी राष्ट्रीयता है, यह सदैव स्मरण रखना चाहिये। स्वार्थ, अहंकार को ढोनेवाले साम्राज्य की नकल करना अनुचित एवं अकल्याणकर है। भौतिक पदार्थ की विवेचना में वे सदा भयंकर भूल करते हैं। विनम्र, विनीत आग्रह भी हो, कठोर अंकुशवत् शासन भी हो, आज्ञा-आदेश भी हो, ऐसा साम्राज्य एक मात्र भारतीय ही था। आदर्श, कोरा नहीं, यथार्थ की भी उसमें प्रबलता या प्रचुरता रहनी चाहिये। अन्यथा आधुनिक मानव-समाज

उसे हेय की दृष्टि से देखेगा। इसका कुछ दोष तो भारतीय मध्य काल के ढोंगी मानवों के सर पर मढ़ा जा सकता है, चूँकि उन्होंने अपने आलस्य की पूर्णता के कारण अनेक स्वार्थ-साधनों को एकत्र करने के निमित्त अनेक ढोंगयुक्त आदर्श का प्रचार किया जिसका लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा; अतः सच्चे और कल्याणकर यथार्थ आदर्श की भित्ति ढह सी गई, पर सम्पूर्ण नहीं; क्योंकि उसमें सुदृढ़ता भी थी।

झूठे आदर्श प्रचार के दुष्परिणाम में कृत्रिम आदर्शों का प्रचार आरम्भ हुआ, जिसमें यथार्थता का अभाव रहा। यदि मध्यकाल में ढोंगी मानवों की दानवतापूर्ण क्रियायें न हुई होतीं तो आज आक्षेपपूर्ण युक्तियों का बौछार शायद नहीं होता, होता भी तो उसका प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी भी शक्तियाँ अनाचार, अत्याचार, असत्य का केन्द्र थीं।

उसके पूर्व की मानवीय शक्तियों में विकृति न थी। उनके आदर्श में यथार्थता, वास्तविकता थी। दानवीय शक्तियाँ, मानवीय शक्तियों के सामने टिक नहीं सकती थीं। उन्होंने ही सिद्ध किया, मानवीय शक्तियाँ अजेय और स्थायी हैं। कर्म में विश्वास करना उन्होंने ही सिखाया दैविक शक्तियों को भी उन्होंने ही अपनी शक्तियों के आगे निर्बल प्रमाणित किया, किन्तु मध्य सब कुछ खाने पर उतारू-सा हो गया। परन्तु परिवर्त्तन ने हमारा साथ दिया, और हम अनुचित से पुनः उचित की ओर प्रवाहित हुये। पर कब? जबकि अवसर चूक गये थे। सोकर उठने के पश्चात् अपने लिए, अपने ही घर में जगह न थी। शक्तियाँ थीं, पर व्यर्थ। हम खुले थे, पर चहरदिवारियों में। मुँह था, पर बन्द। आखें मिलीं, किन्तु सामने की चीजों को देखने के लिए नहीं। दूसरों के दूर को देखना उनका काम रहा। अब वे अपने लिए अंधी हो गई।

ठीक ऐसे ही समय में उसने अपने अनेक कार्यों का एक ही बार, एक ही साथ श्रीगणेश किया जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली, जो स्वाभाविक ही थी। अधिकार माँगने का अधिकार छीन लिया गया। कुछ याद करना गुनाह समझा गया। विगत, वर्त्तमान पर आँसू बहाने की सजा नियत की गई, कठोर यंत्रणा से मृत्यु। ऐसी अवस्था में आदर्श की यथार्थता कहाँ टिक सकती थी।

उन्हें प्रचार का पर्याप्त अवसर मिला, चूँकि प्रचार-शास्त्र का अध्ययन भी उनका अच्छा ही था। और आज जब कि समय और स्थिति के अनुसार परिवर्त्तन ने हमारा साथ दिया है, तब कुछ सिहरन भी हुई, किन्तु उसी

बौद्धिक बल की विकार की वजह पुनः अपने को हम कमज़ोर पा रहे हैं। बौद्धिक ज्ञान में भी मेशीन मात्र की जो सीमा हमारे आगे खींच दी गई है, वह और घातक सिद्ध हो रही है। यदि अपनी बौद्धिक शक्तियाँ रहतीं, तो शायद ऐसा न होता। अभी इस क्षेत्र में उसका पूर्ण साम्राज्य है। हम यहाँ सँभल गये, तो एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन होनेवाला है जो सँभालने के कार्य में अधिक पटु होगा। मानसिक शक्तियाँ फिर अपनी जगह ठीक आ जायँगी। यदि केवल भारतीय प्रतिनिधि समाज का व्यक्ति परिवर्त्तन लाने की चेष्टा करेगा, तब शायद उतना अच्छा न होगा, चूँकि वह वर्ग क्षेत्र की ही रक्षा करने के नियम निर्माण में शक्तियों को लगाना चाहता है। हमें वर्ग, समूह की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये। जीवन चिन्तन से यहाँ कार्य लेना होगा। मनोविज्ञान के आधार पर मानवीय सर्जना करनी होगी। और जीवन की मान्यताओं पर पूरा ध्यान देना होगा। व्यक्ति की शक्ति सामाजिक शक्ति होनी चाहिये। जीवन की मार्मिक शिक्षा का अर्थ बौद्धिक तराजू पर तौलना होगा। और लेनिन की तरह यह नहीं कहना होगा कि—'Life teaches life is marching'.

इसके अतिरिक्त भी जीवन कहता है, करता है। मानवीय शक्तियाँ, वर्गिक नहीं हैं। यह भी याद रखनी चाहिये, अधिकांश उन्हें वर्गिक ही कहते हैं, जो भूलते हैं; चूँकि शक्तियों का विभाजन क्रियाओं पर निर्भर करता है। और हम उसे एक सीमित क्षेत्र के लिए ही रख छोड़ते हैं। जीवन की धार्मिक, दैहिक, शारीरिक शक्तियाँ, जाति-विभिन्नता पर ही निर्भर करती हैं। यद्यपि यह अनुचित है, फिर भी रूढ़ि के बाहर भी इसकी आवश्यकता समझी जानी चाहिये। कर्ण, एक व्यक्ति था, जिसकी शक्ति अपरिमेय थी।

अर्जुन की शक्ति परिमेय थी पर जाति-व्यवस्था से अपरित होने के कारण 'कर्ण' की शक्ति अधूरी मान ली गई, अव्यावहारिक भी अनन्त काल का जब वह यात्री बना, तब उसे ज्ञात कराया गया, स्वार्थ-साधना के पश्चात् कि वह उसी व्यवस्थित जाति की सन्तान है, जिसका अर्जुन है। यहाँ उसे क्रोध, रोष, ईर्ष्या, द्वेष सब कुछ आये होंगे। इसलिए कि उसे और भी विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते। अर्जुन की श्रेणी में वह भी आता। यद्यपि त्याग, दानवाली शक्ति के आगे अर्जुन की शक्ति परिमाण में थी, किन्तु बस, उसी एक कारण की वजह उसे निम्न श्रेणी में रखा गया, जिसका प्रत्येक समय उसे पश्चाताप रहा। निम्न-वृत्ति के समावेश से बड़ी शक्ति सज्जित होने पर भी सब कुछ विकास के युग में हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। द्रोण 'बाण' चलाने

में अति-निपुण थे। किन्तु स्वार्थ की प्रबलता उनमें इतनी थी कि उसी के कारण 'एकलव्य' के साथ उन्होंने दुर्व्यवहार किया।

ऋषि-महर्षि की श्रेणी में रहने वाले महाशक्तिशाली पुरुष की इस कलुषित प्रवृत्ति की उस समय चर्चा न हो सकी, किन्तु युग के परिवर्त्तन के इस विकास काल में उन पर यह आक्षेप लगाया जा रहा है जो उचित ही है। राम, सम्पूर्ण थे, फिर भी बाली को लुक-छुप कर मारना, आज के मानव की दृष्टि में अच्छा नहीं। सम्भव है, राजनीतिक दृष्टि से उनका कार्य स्तुत्य हो, पर संसार जानता है, राम की धर्म-नीति में राजनीति, विशिष्टता नहीं रखती। यदि ऐसा है, तो राम भी आज के नेताओं की तरह राजनीति की सिर्फ सतरंज की चाल चलते थे। किन्तु जहाँ तक मेरी धारणा है, राम को इस रूप में स्वीकार करने के लिए कोई भी प्रस्तुत न होगा, हाँ, 'कृष्ण' की राजनीति, धर्मनीति, समरूप से एक में मिलाकर, वही कार्य करती, जो प्रतिशोध का प्रतिशोध के लिए सर्वथा उपयुक्त था। पर जो भी हो, मानवीय शक्तियाँ असम्भव को, सम्भव करने में पूर्ण दक्ष हैं। परन्तु उसके सदुपयोग-दुरुपयोग पर पर्याप्त मनन कर लेना चाहिये।

किसी दीन-हीन दशा में भी प्रवञ्चनाशक्ति को अपने में घर नहीं देना चाहिये, अन्यथा मनुष्य कहीं का कहीं फेंक दिया जायगा। उसका अस्तित्व मिटकर ही रहेगा। संसार का व्यक्तिविशेष भी अपने स्मृति पटल में उसे न लायेगा। अपनी शक्तियाँ सञ्चय करे अवश्य, पर उसका अपव्यय या दुरुपयोग न हो।

समाज संस्कार और रूढ़ि

परम्परागत विचारों की आवृत्ति, आज का जन-वर्ग नहीं करना चाहता। परम्परा या रूढ़ि को ध्वस्त करना, वह अपना पहला और श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझता है। उसके जानते, रूढ़ि के पृष्ठपोषक अपनी स्वार्थ-साधन के निमित्त अनेक ढोंग रचते हैं, अपने को सबसे बड़ा सिद्ध करने का बड़ा से बड़ा प्रयास करते हैं। उनकी अपनी मान्यतायें नहीं हैं, दूसरों के विचारानुसार निष्कर्ष पर पहुँच-कर अपना निर्णय देते हैं, उस निर्णय पर सबको चलने को बाध्य करते हैं। रूढ़ि ने हमें दासता का पाठ पढ़ाया है, रोम में कुवृत्तियाँ भरी हैं। इसीलिए रूढ़ि को अपनाने की हम मूर्खतापूर्ण भूल नहीं करेंगे।

परन्तु इस प्रकार की उक्तियाँ उत्तेजनापूर्ण हैं, इनमें तथ्य नहीं। पाश्चात्य शिक्षा का यह प्रभाव है कि उसने भारतीय वर्ग से ऐसा कहलवाया। अपने को

व्यर्थ का यथार्थवादी सिद्धकर यहाँ वालों को वैसा ही बनने की शिक्षा दो, जिसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली। रूढ़ियाँ बिलकुल विकृतियों का रूप हैं, ऐसा कहना अपनी अज्ञता का परिचय देना है। रूढ़ियों के कुछ नियम त्याज्य अवश्य हैं, किन्तु उससे अधिक पालनीय या अनुकरणीय हैं। वर्त्तमान समाज के नियमों का पालनकर हमने अपनी अनेक बहुमूल्य निधियाँ खोई हैं। अपनी पूर्व वृत्तियों पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टि डालें तो सहज ही में ज्ञात होगा, वे श्लाघनीय एवं कल्याणकर हैं। चूँकि उन वृत्तियों में संयम, सदाचार, धैर्य, क्षमा, शौर्य सब कुछ थे। और आज केवल 'शो' का घर हैं, वे वृत्तियाँ। मक्कारी, धूर्तता, जाल-फरेबी की ओट में यथार्थता के ब्याज ने अनेक अपने जानते, कल्याणकर, किन्तु विनाशकर मार्ग का निर्माण कर रहे हैं। रूढ़ि के सब नियम, उन्हें इष्ट नहीं तो कुछ की भी तो श्रेष्ठता स्वीकार करें। रुक-रुक कर, दमा देकर चलने के परिणाम में वे अपनी उन्नति के साधन ही देखेंगे। यह तो अपनी, आँखों का दोष है कि वे देखकर कुछ पा लें, या छोड़ दें। मस्तिष्क की उपज ऐसी है कि वे ध्वंस के गर्त में अपने को पाने पर भी उन्नति-विकास-सुख के सागर में पाते हैं।

रूढ़ि के पालक के विचारों, भावनाओं में पवित्रता थी। कुछ ने अपनी अज्ञता के कारण प्रतिकूल धारा में प्रवाहित होने की अवश्य निन्दनीय चेष्टा की, परन्तु उनका स्थायी प्रभाव समाज पर न पड़ा। स्वयं अपने कुविचारों के कारण उन्हें अनेक यातनायें सहनी पड़ीं। उन्हें ही नहीं, उनकी भावी सन्तती भी उन्हीं के कार्यों का फल भोग रही है, किन्तु अब सँभल गई है और आगे बढ़ने के साधन एकत्र कर रही है। मानसिक द्वन्द्वों के उत्थान-पतन में मनुष्य यदि अपने मस्तिष्क की सहायता ले और सोच-विचारकर निष्कर्ष पर पहुँचे तो अपना ही नहीं वह दूसरों के सहयोग में भी हाथ बटा सकता है। कर्म पर दृष्टिपात करे, और रूढ़ि के नियमों को सुधारकर अपने दृढ़ मत के प्रचार की सामग्रियाँ एकत्रित करे। रूढ़ि, पक्ष के निर्णीत विचारों की एक शाखा है, अतः उसके बहिष्कार के पूर्व उस पर अच्छी तरह सोच लेना चाहिये। समाज की तार्किक रूढ़ियों में जकड़ने को मैं नहीं कहता, पर उसकी अवहेलना इसलिए नहीं होनी चाहिये कि एक व्यक्ति के निर्माण का वह परिणाम नहीं व्यक्तियों, वर्गों का परिणाम है।

व्यक्ति के निर्णय में सन्देह का अधिक गुञ्जाइश है, पर समाज के निर्णय पर सोचना अधिक रहता है। महत्त्व की दृष्टि से व्यक्ति से अधिक समाज ही देखा जा सकता है। हाँ, यदि व्यक्ति, व्यक्ति से ऊपर उठकर व्यष्टि न होकर

समष्टि, एक न होकर अनेक हो जाय तो अवश्य समाज के समान ही उसका भी महत्त्व है, चूँकि तब तक वह व्यक्ति से समाज बन चुका होता है। बल या शक्ति का केन्द्र हो जाता है। उसके अपने मत हो जाते हैं, जिन पर सबको चलने को प्रेरित करने का प्रयास करता है। यह सच है कि ऐसे व्यक्तियों का प्रायः अभाव रहता है, पर अल्प संख्या में ही जब कभी उनका निर्माण होता है, कल्याण के लिए ही।

रूढ़ि हमें भूत या विगत का चित्र खींचती है, जिससे हम भविष्य की रूप-रेखा स्थिर करते हैं। प्राचीन अनुभव बहुत बड़ी शिक्षा का कार्य करता है। वर्त्तमान के लिए सचेत करता है, और भविष्य के लिए सजग। प्राचीनता के आगे व्यक्ति, ग्राम, नगर स्वदेश का ही नहीं समस्त विश्व का प्रश्न उठता है। इसीलिए उसके नियम, वर्गमात्र के लिए ही नहीं वरन् समस्त मानव के लिए हैं। धर्म में रक्षा है, पर उसकी आड़ में अनेक अनाचार भी अवश्य हैं, किन्तु उन्हें हमारी आँखें सहज ही में देख सकती हैं, और देखकर बचने-बचाने का सङ्केत भी कर सकती हैं। रूढ़ि की कुप्रवृत्तियों का मैं भी खण्डन करता हूँ, पर उस समय शेष के लिए जिज्ञासु की तरह पाने की, अपनाने की अवश्य फिक्र करता हूँ। रूढ़ि के अधिकांश हिस्से हमें फूँक-फूँककर रास्ता तय करने का आदेश देते हैं। इतना जरूर है कि उनका अनुग बनने में हमारे विचारों की स्वतन्त्रता नहीं रहती, पर अवस्था के क्रमिक विकास के अनुसार उनमें भी परिवर्त्तन होते हैं, स्वतन्त्रता की प्रबलता बढ़ती जाती है। बल्कि पूर्व की अपेक्षा इस प्रौढ़ अवस्था में जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह अधिक महत्त्व रखती है, जीवन के अंगों में पुष्टि आती है। मनोबल में वृद्धि होती है, मानसिक दुर्बलता दूर भागती है, स्फूर्ति आती है, कर्म में शीलता आती है, किन्तु इस अवस्था तक पहुँचने के पूर्व लोग अपना धैर्य खो चुके होते हैं। फलतः अपने उद्देश्य, लक्ष्य में सिद्धि न देख रूढ़ि को भला-बुरा कह दूसरी शिक्षा की ओर झुकते हैं।

प्रकृति में कोई विशेषता नहीं रहती, विचारों में दृढ़ता नहीं। दृढ़ प्रतिज्ञ वे नहीं होते। आवेग-उद्वेग की चढ़ाव वाली अवस्था में उत्तेजित हो इधर-उधर विचरते रहते हैं। पूर्व न वर्त्तमान किसी भी स्थिति का उन्हें ख्याल नहीं रहता। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे सम्पूर्ण दूसरों के हो चुके होते हैं उनका अपना कुछ नहीं रहता, पर झूठ की स्वतन्त्रता अवश्य अनुभव करते हैं, इसलिए कि पेट की चिन्ता में उन्हें विशेष सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं, जरा-सा ही हाथ-पैर हिलाने पर। और आज का मनुष्य इतना आलसी, और अकर्मण्य

हो गया है कि पेट के लिए ही सिर्फ वह हाथ-पैर हिलाने को प्रस्तुत रहता है। इससे अधिक के लिए न उसे फुर्सत है, न इसकी वह आवश्यकता ही समझता है। जिन्दगी भर बसर करने के लिए वह यहाँ आया है, पूर्णता-अपूर्णता की उसे चिन्ता नहीं। उसका सिद्धान्त हो गया है, खाना, सिर्फ खाना, पेट पेट। वह खाने के लिए जीता है, न कि जीने के लिए खाता है। और ठीक इसके विपरीत हमारी रूढ़ियाँ कहती हैं। वे ऐसे मानव को, मानव की श्रेणी में न रखकर, पशु की श्रेणी में ही स्थान देती हैं।

अन्ध परम्परा या रूढ़ि का लोग अनुसरण न करें, पर सम्पूर्ण उसकी निष्क्रियता सिद्ध करने का प्रयास भी स्तुत्य नहीं। अन्यथा उनमें इतनी निर्बलतायें आयेंगी कि वे अपने आपके जीवन से घृणा करने लग जायेंगे, और अनेक रोगों से आक्रान्त होकर घुल-घुलकर मरेंगे। उनकी मृत्यु का किसी को शोक, परिताप न होगा। जीवन, जीने के लिए है, मरने के लिए सबसे बाद, सबसे पीछे। बल्कि सच्चों का जीवन मरता कहाँ है। सदा दूर-दूर तक जीता है। मरकर अमरता नहीं सिद्ध की जा सकती, जीकर सिद्ध की जाती है।

सांसारिक आज के दृश्यों में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक है। इनकी अवस्था को देखकर रूढ़ि शायद विहँसती है। कहते हैं, रूढ़ि में जीवन नहीं, गति-प्रगति, कुछ नहीं। पर भूलते हैं, रूढ़ि में ज्योति, जाग्रति, और जीवन सब कुछ है ज्योति पर उसकी गहराई पर हम दृष्टि डालें, तब अन्यथा वह हेय है ही। सूक्ष्म दृष्टि से उसकी भाव-भूमि को मापेंगे तो देखेंगे, उसकी निर्माण-शक्ति बड़ी मजबूत है! इतना प्रत्येक समय में हम स्वीकार करेंगे, हेर-फेर वहाँ भी आवश्यक है। पर हेर-फेर करने की शक्ति के अभाव के कारण उसे नितान्त व्यर्थ न सिद्ध करें, इसका परिणाम भोगना पड़ रहा है, और पड़ेगा।

रूढ़ियों में संस्कार निहित है। और संस्कार हमारे मापने का सबसे बड़ा साधन है। पूर्व की गतिविधियों का वह अच्छा खाका खींचता है। वही कुछ अच्छे नियमों, मार्गों को हमारे सामने रखता है, जिनके सहारे उन्नति के सोपान पर हम सहज ही में अग्रसर होते हैं। क्या थे, कहाँ हैं, का ज्ञान संस्कार ही कराता है। मानव का ऐतिहासिक आधार-पृष्ठ ढूँढ़ने के अनेक प्रयत्न करता है। कुछ कहते हैं, रूढ़ि का ही प्रतिशब्द है, संस्कार पर वे भूलते हैं, रूढ़ि और संस्कार में बहुत अन्तर है। रूढ़ि समाज की वस्तु और संस्कार व्यक्ति की है, और व्यक्ति के लिए। हाँ, प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार अपने अच्छे-

अच्छे संस्कार से प्रभावित हो तो किसी समय जाकर कोई रूढ़ि कायम कर सकता है। संस्कार का सभ्यता के साथ भी गहरा सम्पर्क है।

सभ्यता में यदि विशिष्टता रहे, तो वह मनुष्य को प्रेरित करती है, अपना संस्कार अच्छा बनाने के लिए। संस्कार का प्रभाव पड़कर ही रहता है। आस्था-अनास्था, ईश्वर में भी होती है, फिर व्यक्ति और उसके संस्कार का क्या प्रश्न। संदिग्ध-भावनायें कुछ का कुछ अपने आप करती ही रहती हैं। मनुष्य और ईश्वर की विषमता कलह और व्यर्थ-अनर्थ का कारणक है। इनके लिए कहा जाता है:—Which is it? Is man only a blunder of God? or is God only a blunder of man? हम तो कहेंगे, इसके निर्णय में लोग अपना क्यों मस्तिष्क खर्च करते हैं। दोनों दो हैं, एक का बल अधिक से भी अधिक है। दूसरे का अल्प से भी अल्प अत्यल्प।

संस्कार रक्त का शोधक-परिशोधक है। दूसरों के रक्त में विकार है, अच्छे संस्कार वाले रक्त में नहीं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसका संस्कार कलुषित एवं दूषित है। उसके साथ का संस्कार मिलकर, समाज के आगे भी बुरा ही मार्ग रखता है, जो रूढ़ि का निर्माण करता है। ऐसी ही रूढ़ि बुरी होती है, जिसके पालने से उन्नति नहीं अवनति की ही अधिक सम्भावना है। विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए, संस्कृति पर ध्यान रखते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। प्राचीनता का भी पृष्ठपोषक होना चाहिए। और नवीनता का भी अनुग बनना चाहिए पर इसके लिए बुद्धि का सहयोग अनिवार्य है।

संस्कार मनोवैज्ञानिक धरातल से भी अधिक ऊँचा है। सूक्ष्म, संयत विचारों के आधार पर संस्कार को तौलें तो देखेंगे, वैज्ञानिक दृष्टि से भी उसका बड़ा महत्त्व है। इसीके अनुसार हमारी बुद्धि में भी परिवर्त्तन होता है। यदि अच्छे संस्कार में मेरा जन्म न हुआ, तो मेरी बुद्धि में विकृति की अधिक सम्भावना है। आलस्य, अकर्मण्य, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और लोभ ये बहुत कुछ संस्कार के जन्मजात दुर्गुण हैं।

सात्विक वृत्तियाँ तभी आयेंगी, जब मेरा संस्कार सुसंस्कृत होगा। पृथक् पृथक् जाति-संस्कार भी होता है। चूड़ा-कर्म, उपनयन, विवाहादि, ये सभी भारतीय संस्कार हैं, जो विधिवत्, पालन से हमें बहुत-कुछ सिखाते हैं। एक स्थायी पूर्वजों का संस्कार रहता है, जो उनकी सन्तति को उसी प्रकार

का बनाता है। नम्रता, ममता, शान्ति ये सब भी संस्कार पर ही निर्भर करते हैं।

पाश्चात्य, प्रौढ़ विद्वानों को भी यह अब मानना पड़ा है कि संस्कार, मानवीय निर्माण में सु-कु, दोनों को अपने अनुसार ही बनाता है, अतः उसका आध्यात्मिक महत्त्व भी अधिक है। यहाँ तक कि उन लोगों ने सिद्ध किया है कि चाल-ढाल, रहन-सहन, कर्म, सब में वही परिवर्तन लाता है। यह दूसरी बात है कि आज का मनुष्य अपने आपकी कोई रूप-रेखा स्थिर करने में निष्फल है, अतः वह संस्कार पर नहीं सोच सकता, इसलिए कि उसे सोचना ही नहीं आता। वह इसका महत्त्व भी नहीं जानता, जिसकी वजह आज नितान्त कमजोर, दुर्बल हो गया है। अपनी दुर्बलता का कारण वह नहीं जानता कि संस्कार के विकार के कारण ही हमारी धीमी विकृत हो गई। आज मनुष्य सोचता अधिक है, करता कम। मस्तिष्क की उपज अच्छी नहीं, आखिर यह सब क्यों? इसलिए कि सांस्कारिक-शक्ति का ह्रास हो गया। इस पर ध्यान न देने के कारण ही वह अब भी इस समय भी अपने सस्कार के 'सु' पर ध्यान नहीं दे रहा है, जिसका पश्चात्ताप उसे तुरत करना पड़ेगा-पड़ भी रहा है। पाटलिपुत्र के 'आर्यभट्ट' ने संस्कृत में संस्कार की बड़ी अच्छी व्याख्या की है। संस्कार, मानव-दानव की उपज का केन्द्र है। विशेषकर भारतीय संस्कार, मानव का अच्छा परिष्कार करता है। राष्ट्रीय भावना का अविर्भाव तभी होगा, जब हमारा संस्कार शुद्ध या पवित्र होगा।

स्वच्छ भावना, दृढ़ प्रतिज्ञा, पवित्र कृतियाँ, अदम्य उत्साह, शान्त प्रकृति, विचार-विन्दु पर रुकना, ये सब पूर्व विहित संस्कार से आविर्भूत हैं। और इन्हीं के अनुसार हमारी प्रकृति या प्रवृत्ति में परिवर्त्तन होते हैं, जिससे हमारा भविष्य बनता-बिगड़ता है। अपने वर्त्तमान में यदि संस्कार को पवित्र न बना लेंगे, तो निश्चय है, देश के सच्चे उन्नायकों को हम उत्पन्न नहीं कर सकते। आरम्भ की पृष्ठ-भूमि दृढ़ करने के लिए बच्चों के संस्कार पर भी ध्यान देंगे।

उनका संस्कार शुद्ध एवं श्रेयस्कर होगा, तो उनकी सन्तति का भी संस्कार उच्च और प्रशंसनीय होगा। सुधार की भावना, राष्ट्र की भावना, जब हमारे में घर कर लेगी, तब आने वाली सन्तान में भी वह स्वतः विराजती रहेगी। जीवन के कर्म के अनुसार मनुष्य सफलता-असफलता पर बिना विचारे संस्कार को आधार मानकर आगे बढ़ने का सतत् प्रयत्न या

प्रयास करेगा तो निश्चय ही जनता के सामने यथार्थ आदर्शों का प्रतिष्ठान कर पायेगा।

कर्म उसे इसलिए करना होगा कि जीवन के लक्ष्य तक पहुँचना आवश्यक है। संस्कार को आधार इसलिए मानना होगा कि कर्म-कु के रूप में न परिवर्तित हो जाय, अन्यथा उचित से अनुचित की ओर प्रवाहित होना होगा। आगत संस्कार की परम्परा यदि हममें घर कर गई, तो भी हम उसकी हेर-फेर, परिवर्त्तन पर सोच या विचार सकते हैं। किन्तु कठिनता यह है कि यदि हमारे जनक का संस्कार दूषित एवं कलुषित है तो हम उसे सुधार कैसे सकते हैं। चूँकि आरम्भ में तो उनका प्रभाव हम पर रहेगा ही, चूँकि जनमते ही हमारी ऐसी अवस्था रहेगी नहीं कि संस्कार जैसे विशद, गम्भीर विषय पर हम सोच सकेंगे। युवक की अवस्था प्राप्त हो जाने पर, सब जनक के कुसंस्कार अपना लक्षण दिखायेंगे ही। अतः यदि जनक अपने कुसंस्कार की पश्चात्ताप वाली अवस्था पर पहुँच गया हो तो वह सन्तान की आरम्भिक क्रियाओं पर अच्छी तरह ध्यान दे। शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध करे। उसकी प्रत्येक वृद्धि पर कड़ी निगाह रखे।

इतना होने पर उसके संस्कार में धीरे-धीरे परिवर्त्तन होते जायँगे, और वह सुधरता चला जायगा। इस प्रकार पूर्व आगत संस्कार में भी सुधार की गुञ्जाइश है। दूसरी संस्कृति की बुरी उपज का यह दोष है कि हम अपने पूर्व और वर्त्तमान संस्कार पर कुछ सोचते ही नहीं, इसका महत्त्व नहीं जानने के कारण अपने को हम विनष्ट करते चले जा रहे हैं। कह सकते हैं, वर्त्तमान में जिस संस्कृति या शिक्षा में हम पल रहे हैं, वह संस्कार का तनिक महत्त्व नहीं देती। पर थोड़ी देर के लिए हमारा इस ओर ध्यान क्यों नहीं जाता कि कहाँ की यह शिक्षा या संस्कृति है, जहाँ की है वहाँ के लोग हैं ही कैसे! जिन्हें संस्कार का अर्थ ही नहीं मालूम है, जिनके यहाँ सौतेले पिता होते हैं सौतेले पुत्र और सब सौतेले। कई विकृत रक्तों से जिनका जन्म होता हो और जिनकी माँ, जिनके पिता का कोई पता नहीं, वे भला कैसी शिक्षा की रूप-रेखा स्थिरकर पायेंगे। उनका संस्कार कैसा होगा।

ठीक इसके विपरीत हमारे यहाँ प्रत्येक संस्कार की विधि-पुस्तकें नहीं, ग्रन्थ हैं जिनके अध्ययन के बल पर हम अपने को बहुत ऊपर उठा सकते हैं। वे संस्कारी ग्रन्थ हमारे सच्चे प्रशस्त मार्ग हैं, जिन पर चलने में हमें गौरव और सम्मान है। विदेशी-संस्कृति में विशेष पलने के कारण हम भी वैसे ही होते जा रहे हैं। निम्न श्रेणी के व्यक्ति का भी संस्कार ऊँचा हो सकता है,

चूँकि यह कर्त्तव्यों पर निर्भर करता है, भावना पर भी। इसके भेद-विभेद नहीं हैं।

जाति-संस्कार में कुछ भिन्नता अवश्य रहती है। वैज्ञानिक-नियन्त्रण भी इसमें ऐसे हैं कि शारीरिक बल-वृद्धि भी इसमें सम्मिलित है, स्वास्थ्य की उन्नति भी निहित है। संस्कार के प्रकरण-भेद के अनुसार ही समाज की नींव डाली जाती है। व्यक्तियों के संस्कार अच्छे हुए तो समाज के विधान भी सुन्दर एवं कल्याणकर हुये, अन्यथा समाज के नियम दूषित और हेय हो जायँगे।

समाज, मानव के लिए दर्पण का कार्य कर सकता है, किन्तु कुछ ऐसे व्यक्तियों का उसमें समावेश हो जाता है, जो कृत्रिम बाह्य जगत् का अच्छा परिचय रखते हैं, जिनमें वाणी भी सबल कार्य करती है, वे ही समाज के नियम में परिवर्त्तन लाते हैं, और अपनी इच्छा के अनुसार नियम का निर्माण करते हैं। तब समाज के ये नूतन नियम व्यक्ति के नियम हो जाते हैं। और व्यक्ति के नियम कदापि समाज के लिए अनुकरणीय न होंगे। हाँ, यदि व्यक्ति ही समाज के गुण रखता हो तो कोई प्रश्न नहीं। किन्तु ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं। नियम-निर्माण में भी सीमा होनी चाहिए।

यहाँ तो प्रतिदिन-प्रतिक्षण नियम बनते-बिगड़ते हैं। फलतः प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति ऐसी जगह जाना चाहता है, जहाँ के नियम दृढ़ हों, सबल और स्थायी हों। वहाँ जाने पर यहाँ की अपेक्षा वहाँ वे और नियम में निर्बलता पाते हैं। और अब वे इतना श्रान्त हो गये रहते हैं कि जहाँ से चले थे, वहाँ लौटने की शक्ति नहीं रह ये जाती। वहीं की सारी क्रियाओं के पोषक हो जाते हैं। इस प्रकार के नित व्यक्ति हम खोते चले जा रहे हैं। कुछ दिनों में वे न मुझे पहचानेंगे, न हम उन्हें। जब इतिहास गढ़ने का समय आवेगा तो कह दिया जायगा, अमुक का पता इस अधार पर है, उस अधार है, अमुक का उस पर इस पर। कुछ दिनों बाद निर्णय पर पहुँचते हैं कि मेरी जाति के नहीं, मेरे यहाँ के नहीं। इस प्रकार इतिहास की रूप-रेखा बदल दी जाती है। यही हमारे वर्त्तमान इतिहास का स्वरूप है। समाज के विधान पर इतिहास के पृष्ठ रँगे जाते हैं। इसकी व्यवस्था इसके व्यक्ति और उनके व्यक्तित्व का लेखा-जोखा हमारे में रहता है।

समाज के परिवर्तित आज के स्वरूप में कोई निश्चयता, कोई निर्णय नहीं। राष्ट्रीय-ऐक्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम इतिहास के स्वरूप पर दृष्टि डालें, और समाज के विधान की ओर देखें। देखते हैं

तो पाते हैं, इसमें कोई निष्कर्ष नहीं। फिर स्वयं निष्कर्ष पर पहुँचना, एक प्रकार से असम्भव हो जाता है।

इसकी कुरीतियाँ भी उखाड़ी जानी चाहिये। नारियों की अधिकृति पर भी विचार करना चाहिये। सामाजिक विधान में चूँकि उनका कोई प्रश्न नहीं, समस्या नहीं, हल नहीं, अतः अपने को बिगड़ी हुई अवस्था में पाकर, आज वे अपना अधिकार माँग रही हैं। सम्भव है, वे भूल करती हों, किन्तु अच्छा होता, वे अपने अधिकार का उपयोग भी माँगना जानती। समाज मानों पुरुषों के लिए ही है। स्त्रियाँ उसमें गौण हैं। इसका यह भी कारण होगा कि प्रकृति ही उन्हें अपने किये का दण्ड देती है, इसलिए उनका प्रश्न न उठता हो। आज उसी के प्रतिफलन में कोई भी नियन्त्रण उन्हें मान्य नहीं, कोई भी नियम अमान्य है। वे भी एक ऐसी शिक्षा में पलने लगी हैं, जो अन्यत्र की संस्कृति की प्रचारिका हैं। इसमें पलकर वे अपने आपको खोये जा रही हैं, यदि इसी समय न सँभलीं तो निश्चय है, अपना अस्तित्व खोकर रहेंगी। भविष्य की विधायक शक्ति उन्हीं के हाथ में है, अतः उनके स्वरूप पर विचार करना, समाज का प्रथम, प्रमुख कर्त्तव्य है। पुरुष और नारी की समाज में समान रूप से व्यवस्था होनी चाहिए। उनका सन्तुलन एक प्रकार से होना चाहिये, हाँ नियम में परिवर्त्तन हो सकते हैं, चूँकि पुरुष और नारी में वैयक्तिक विभिन्नता भी है, जो एक नहीं हो सकती है। वह सदा की है, सदा की रहेगी भी।

आज की नारी की गति कुछ का कुछ करने वाली है। नारी को चाहिए कि वह भूल पर पश्चात्ताप का अर्थ जाने, पाप पर प्रायश्चित्त जाने। और समाज को चाहिए कि वह उन्हें आत्मसात कर ले। ऐसा नहीं करने का परिणाम यह हुआ कि आज नारी, नारी न होकर और ही कुछ हो गई है। उसकी प्रत्येक चाल में विविधता है जो ध्वंस-विध्वंस के मार्ग का निर्माण कर रही है। भारतीय समाज जब संस्कार और उसकी विधियों पर ध्यान दे तब नारी को भी उसमें स्थान दे।

जीवन एक कला है, या जीना

जीवन जीने के लिए है, उसकी रक्षा, सर्वतोभावेन होनी चाहिए। रक्षा कैसी या किस प्रकार हो, इसके प्रयत्न करने होंगे। Robert (रॉबर्ट) ने कहा Life is Art पर टेनिसन ने कहा, Living is Art दोनों में अन्तर है, किन्तु विशेष नहीं। भारतीय जीवन के लिए ये दोनों मत

अहितकर होंगे। चूँकि जीवन या जीने को कला मानकर वह नहीं अग्रसर होने का। और न सिर्फ जीवन को जीने के लिए ही मानता है। सिर्फ जीने का अर्थ हुआ, मरना या मरा हुआ पैदा होना। जीने की जगह जिलाने का उसके यहाँ अधिक महत्त्व है। उसका जीवन जिलाने के लिए ही है। और तभी वह जीता है, मरकर भी। यहाँ की परिस्थितियाँ वहाँ का अनुग नहीं बन सकतीं, चूँकि वहाँ की प्रत्येक वस्तु कला के लिए है।

वहाँ की नींव कला पर अवलम्बित है। वहाँ का अपूर्ण जीवन भी सम्पूर्ण कला है। यहाँ का पूर्ण जीवन भी शायद कला नहीं। चूँकि जीवन और कला में यहाँ के लोग विशेष अन्तर मानते हैं जो सर्वथा उचित है। व्यक्ति-व्यक्ति की प्रधानता देने वाले जीवन को वे कला की संज्ञा देते हैं जो भूल करते हैं। जीवन के थोड़े से महत्त्वपूर्ण पुष्ट अंग यहाँ के लिए भले ही कला के तत्त्व का निर्माण करें, किन्तु कला का क्षेत्र और उसकी क्रिया सर्वथा पृथक है। कला, वहाँ की कला भी कला के लिए है। यहाँ वैसी कला को लोग बला मानते हैं। Art for art के ये विरोधक हैं। यह सिद्धान्त हमें न भोजन देता है, न उसके साधन ही। और बिना भोजन के हम जीवन की रक्षा कर नहीं सकते। और भोजन हमें इसलिए चाहिये कि हम जी सकें। वहाँ भी वे बदल जाते हैं; उन्हें जीना इसलिए चाहिए कि वे खा सकें जिसके साधन उनके यहाँ एक नहीं अनेक हैं। उन्हें भोजन की विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती, अतः वे अन्न खाकर भी कह सकते हैं, हम कला खाकर जीते हैं। परन्तु बिना भोजन के कला तत्त्व को भी हम नहीं पहचान सकते, कला से पेट भरना तो दूर रहा। ऐसी कला को हम सुन्दर कल्पना अवश्य मानते हैं।

उनके लिए एक मामूली टेढ़ी-मेढ़ी लकीर भी कला है, अनेक रंग-विरंग भी कला हैं, वहाँ सब कुछ कला है। हमारे कला का प्राङ्गण पृथक् है, और वह सिर्फ कला ही के लिए है। और कला, कला को ही कला की संज्ञा नहीं दे सकती। भारतीय कला इसलिये अपने उच्च स्तर पर है। वहाँ तक पहुँच सबकी नहीं हो सकती। यहाँ का कलाकार अपनी कला को किसी भी मूल्य पर बेचने को प्रस्तुत नहीं, और वहाँ का कलाकार अपनी प्रत्येक कला को किसी भी मूल्य पर बेंचने में नहीं हिचकेगा; कला की सृष्टि करना, उसका पेशा है, व्यापार है। और यह कलाकार भूखा है, दीन-हीन है, एकदम साधन-रहित, फिर भी जब कभी वह भोजन प्राप्त कर लेता है, विचित्र विभूति उत्पन्न कर देता है। वहाँ का कलाकार पूर्ण है, साधन से भी, फिर भी दूसरों की कला का मुँहताज है।

कला के विश्लेषण के अब अनेक प्रकार हो गये। जीवन का अब उसमें प्राबल्य हो गया। समस्त योरोपीय कला, भारतीय कला, से उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। जीना, कला माना जा सकता है जब कि दोनों में से वह कुछ नहीं प्रमाणित होता। अन्तर्जीवन की स्थिति का चित्रण भी कला कहला सकता है। बाह्य जगत् के चित्रण के लिए भी, कला के निमित्त स्थान ढूँढ़ना होगा। कला को भोजन का साधन नहीं मानना होगा। अब प्रश्न उठेगा, फिर कलाकार के जीवन की रक्षा कैसे सम्भव है? उसके जीवन का भी तो आधार होना चाहिये। इस समस्या का हल उसे करना चाहिये। किन्तु समाज के पास न इसका कोई उत्तर है, न हल।

योरोपीय कलाकार के भोजन या जीवन की चिन्ता, वहाँ का समाज करता है। इसकी देख-भाल उसी के हाथ में है। और शायद इसीलिए लोगों की दृष्टि में वहाँ की कला अपने चरम को पहुँच गई है। भारतीय समाज भी वहाँ ही की तरह कलाकार के जीवन को अपने हाथ में ले ले, तो यहाँ की कला और भी चरम विकास पर पहुँच जाय। यहाँ के कलाकार जिस दिन से भोजन की चिन्ता से मुक्त हो जायँ, उसी दिन हर्ष-आमोद की अवस्था को ही कला का अन्तिम रूप दे डालें, पर यह स्वप्न-मात्र है। अपनी जिस कला पर हमें गौरव है, वह सब भोजन से विमुक्त कलाकारों की कृतियाँ हैं। अकाल, हाहाकार जबसे इनका युग भारत में आया, तबसे किसी कला विशेष की सृष्टि न हो सकी। खेद है, भारतीय आधुनिक वर्त्तमान समाज इस ओर तनिक भी ध्यान देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझ रहा है। कला में जीवन नहीं है, पर जीवन में कला अवश्य है। योरोपीय कला-सम्बन्धी सिद्धान्त मान्य हैं, पर भोजन-सम्बन्धी सिद्धान्त सर्वथा यान्त्र होने चाहिये थे। इसके प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्था स्थिति के समाज का अनुपात है।

कला में प्राण भी प्रमाणित हो सकते हैं। अणु-परमाणु में कला की विचित्र क्रिया विराजती रहती है। पर वहाँ तक सबकी पहुँच है कहाँ! जीवन, कला को लेकर चलने में शायद सफलता न प्राप्त करे। कला जीवन को मानकर चले तो आंशिक सफलता प्राप्त कर सकती है। कला के भवन की नींव विविध ईंटों पर है। साहित्य-संगीत चित्रकारिता, वैज्ञानिक-आविष्कार, सभी कला के विशिष्ट अंग माने जा सकते हैं। परन्तु जीवन-दर्शन में भिन्नता है। समस्त जीवन, एक दर्शन हो सकता है, कला का अंग भी, पर पूर्ण कला का उसमें शायद प्रतिष्ठान असम्भव है। व्यक्ति और टाइप की माध्यमिक अवस्था, व्यवहार में कुशलता लाती है। जीवन में बल, और कला में विकास

का साधन भी। परन्तु उस अवस्था को लोग लखें तब, अन्यथा उससे लाभ उठा सकना भी कठिन है।

जीवन में व्यक्ति, व्यक्ति में जीवन और उसके टाइप का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कलापूर्ण हो तो कला सीमित न होकर असीमित हो जायगी। फिर कला में सत्यता ढूँढ़ना भी तो एक कला है! जीवन के सत्य सहज ही, शीघ्र ही ढूँढ़े जा सकते हैं, पर कला के सत्य ढूँढ़ने की आँखें सूक्ष्म होनी चाहिये। ये आँखें सिर्फ कला-मात्र को ही देखने का प्रयास करें तो शायद सत्य दीख पड़े। पर जीवन के सत्य के लिए इतना परिश्रम अपेक्षित नहीं है। जीवन का निर्माण विचारों, कर्त्तव्यों पर दृढ़ है, पर कला के निर्माण की सामग्रियाँ कल्पना, सत्य अनुभव अधिक सहायक रूप में विराजमान हैं। विचार की तीव्रता में कला का सत्य नहीं भूल सकता।

जीवन के साथ हृदय का गहरा सम्पर्क है। कला का, अधिक गहरा सम्पर्क काल्पनिक सत्य के साथ है। हाँ, जीवन-सत्य का जब उसमें प्रतिष्ठान हो जायगा, तब कला की उत्कृष्टता में सत्यता रह सकती है। ऐसा सत्य अधिक काल तक जीवित रह सकता है। अन्यथा कला में स्थायित्व नहीं रह सकता है। इसका कारण, जीवन-सत्य कला में नहीं रह पाता। चूँकि आज का जीवन भी सत्य नहीं, न उसमें हृदय ही सन्निविष्ट है। असत्य, उसकी नींव है, हृदयशून्यता घर है, इसका यह अर्थ हुआ कि उसीका स्वरूप विकृत है तब कला में विकृति क्यों नहीं आ सकती। जीवन के सत्य अंग कला के भीतरी अंग हैं। बाह्य कला के अंग, योरोपीय असत्य हैं। वे कला की विवेचना विचित्र ही प्रकार की करते हैं। इस पर ठोस कुछ व्यक्त नहीं कर पाते। इसका कारण शक्ति का अभाव हो या इसका वे ढंग ही न जानते हों। जीने को यदि हम एक कला मान लें तो झूठ, मक्कारी-धूर्त्तता जीविका के साधन हैं तब ये ही कला हुये। और इस प्रकार जो जीये, वह सबसे बड़ा कलाकार है। यदि कला या कलाकार का यही मापदण्ड है तो इस दृष्टि से आज यहाँ इस संसार में अनेक क्या सभी कलाकार हैं। और यदि वे जीने का दूसरा अर्थ लगाते हैं तो वह अस्पष्ट है, इसलिए भी व्यर्थ है।

जीवन और जीने की विभिन्नता पर ही वे पहले अधिक सोच लें, फिर कला की व्याख्या की ओर झुकें। उनके जानते, कलाकार की अनेक प्रकार की व्याख्या होनी चाहिए, हो भी सकती है, इसकी कोई सीमा नहीं, पर संयत अवश्य रहे। शब्दों की भरमार ही न रहे इसीके अनर्गल प्रयोग को व्याख्या नहीं कह सकते। व्याख्याता का भी उत्तरदायित्व अधिक है। प्रत्येक

विषय का अलग-अलग व्याख्याता होता है। साहित्य के हमारे व्याख्याता मल्लिनाथ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। नारायण भी अच्छे व्याख्याकार हैं, पर मल्लिनाथ ने, जितने साहित्य के अंग-प्रत्यंग की व्याख्या की है, उतनी अन्य किसी ने नहीं।

इसी प्रकार और भी विषय के व्याख्याता होते तो उन-उन विषयों का प्रतिपादन सुन्दर होता, भारतीय कला की मान्यतायें उच्च कोटि की हैं, इनके सिद्धान्त मननीय हैं। कला के वर्त्तमान स्वरूप पर विचारने के पूर्व जीवन के अध्याय पृष्ठ पर सोचना होगा। जीवन की चेतना मनोगति के साथ-साथ एकदम उसके अनुकूल चलती है, मनुष्य की वृत्तियाँ उसी प्रकार परिवर्तित होती चली जाती हैं। इन वृत्तियों का जिसमें प्रतिष्ठान होगा उसमें कला के प्राण निहित रहेंगे। किन्तु सत्य वर्णन के आधार पर और सूक्ष्म नियन्त्रण के बल पर जिस जीवन का स्वरूप हो, उसके विषय में ऊपर कहा गया है। अन्यपरक अर्थ लगाकर उस स्वरूप में भी यदि किसी ने परिवर्त्तन किया और अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार किसी ने उसकी विवेचना की तो मेरे कहने के तात्पर्य में भिन्नता आ जायगी, चूँकि आज का आलोचक-वर्ग लेखक की उक्तियों का विचित्र ही विचित्र अर्थ लगाते हैं, अस्तु, जीवन की मार्मिकता का परिचय मिल जाने पर उसके स्वरूप-निश्चय में हमें सफलता मिल सकती है।

कला की व्याख्या का आधार यही है। इस आधार से पृथक होकर जो कला की व्याख्या करते हैं, वे अपने आप में ही महत्त्व रखते होंगे। जीने के ढंग को कला मानना कुछ अंशों में ठीक भी हो सकता है तो वह ढंग भी विकृत है। रूस की साम्यवादी भित्ति भूख, पेट, मजदूर, चावल, दाल, हँसिया-हथौड़ा पर निर्भर करती है। और अन्न उन्हें जीने का ढंग भी मालूम है। इस दृष्टि से वह भित्ति भी कलापूर्ण है। और कला का वहाँ पर्याप्त प्रचार है। रूस के प्रत्येक सिद्धान्त कला के प्रमुख अंग हुये। ब्रिटिश साम्राज्य के सिद्धान्त के पृष्ठपोषकों में इस दृष्टि से कला का सर्वथा अभाव है। विचार-विमर्षकर कला का लोग निर्णय करें, योंही शब्द-शक्ति के बल पर कला के विषय न बकते रहें, इसका प्रभाव उसके पक्ष में अहितकर ही होगा। कला और जीवन की भूमिका के लिये रोम या ग्रीस की ओर हमें जाना होगा, और उसके भी पूर्व कला और जीवन के लिए भारतीय भाव-भूमि पर उतरना होगा। अन्यथा कला के प्रत्येक अंग की व्याख्या हमें कहीं भी प्राप्त न होगी। आखिर जीवन-जीवन में, उसके कर्म-कर्म में विभिन्नता एवं विच्छिन्नता

होती है, फिर जगह-जगह की कला में क्यों न अन्तर होगा। किन्तु कला और जीवन, जीना और कला की विभिन्नता हमारी वर्त्तमान कला के स्वरूप में विचित्र ही प्रकार की भावना का समावेश करती है, कर रही है, जिससे भविष्य के विषय में अनेक प्रकार की बुरी-बुरी शंकायें मन में उठ रही हैं। संयत विचारों के बल पर और जीवन सम्बन्धी कटु अनुभव द्वारा हम बहुत कुछ भविष्य के विषय में सोच-समझ सकते हैं। किन्तु विश्वास और आस्था से हमारा सम्पर्क हो तब, अन्यथा दूसरी ओर भी हम प्रवाहित होंगे।

महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का शिष्ट सभ्य जीवन कला के सम्बन्ध में अपना अच्छा निर्णय दे सकता है, पर ऐसे व्यक्ति का जीवन शिष्ट होना अनिवार्य है। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपने जीवन को महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं। शिष्टता प्रदर्शित करते हैं—वास्तविकता से कोसों दूर रहते हैं। कृत्रिमता इतनी रहती है कि स्वयं अपने को भी पहचान नहीं पाते। 'शो' इतना रखते हैं कि दूसरे उन्हें सहज ही में अति शीघ्र पहचान नहीं सकते। कला की उपयोगिता कहाँ-कहाँ सिद्ध होगी, यह जीवन की गतियाँ या उसकी क्रियायें बता सकती हैं।

मानव-जीवन का स्तर ढीलाकर और उसकी स्वाभाविक रूप से चली जाती हुई विधान-गाड़ी में परिवर्त्तन ला दें, और उसके आगे की वृद्धि पर पूर्ण विराम का चिह्न खींच दें, सिर्फ कला के असत्य प्रचार के निमित्त तो यह अनुचित एवं अश्रेयस्कर होगा।

सामाजिक घटित-विघटित व्यवस्थाओं का साहित्य में स्थान देना भी एक कला है। इस कला का महत्त्व योरोपीय साहित्यकार अधिक देते हैं। किन्तु सच्चा-साहित्य-साधक कभी इस प्रकार का विषियों को कला को संज्ञा नहीं देता। ब्रिटिश के महान् साहित्यिक-तपस्वी साहित्य के प्रबल साधक 'बनार्डशा' ने इस प्रकार की कला का बराबर विरोध किया है। जीवन-साहित्य के साथ कला का सम्पर्क अवश्य दिखाया है। पर उसकी प्रत्येक परिस्थितियों के चित्रण को कला नहीं मान लिया है। उलझे जीवन को सुलझा देने का नाम भी कला ही है, इस प्रकार की भी उनकी उक्तियाँ हैं। बँगला के 'हेमचन्द्र बन्दोपाध्याय' ने जीवन की सूक्ष्म क्रियाओं को कला का नाम दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कला और जीवन-सम्बन्धी विचारों में अनेक मत-मतान्तर हैं। किन्तु वास्तविकता से इनमें कम ही का सम्पर्क है, सभी एक होकर कुछ निर्णय नहीं कर सके हैं। किन्तु इतना सत्य अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि कला, जीवन-सत्य का अंग है। पर जीने के प्रयोग और प्रकरण के निमित्त उसका सम्पर्क कला के साथ रखें तो अच्छा न

होगा, चूँकि एक बड़ी सीमा की रेखा खींची-सी लगती है। जीने के लिए कला का निर्माण करना, अनुचित है। सामयिकता सिद्ध करने के लिए अनुचित-उचित का ध्यान दिये बिना कला के विवर्त्तन-परिवर्त्तन पर हम जोर देते जायँ, यह उसके पक्ष में अन्याय होगा। कला की उत्कृष्टता, उसकी वास्तविकता में निहित है। कृत्रिम भावनाओं से आलोड़ित सामाजिक-जीवन की रक्षा के लिए या उसीको जिलाने के लिए सीमित कला का निर्माण करना उसकी दुरुपयोगिता सिद्ध करना है।

जीवन और कला का सम्बन्ध पारस्परिक सूक्ष्म ऐक्य का द्योतक या सूचक है। दोनों के अनुकूल-प्रतिकूल अंगों में कला और जीवन के अणु-परिमाणु प्राण हैं। और शायद इन दोनों के प्राण मिलकर जीवन के रूप हो गये हैं। साहित्य के क्षेत्र में जो आजकल कला-कला की चिल्लाहट है, वह व्यर्थ, निष्प्राण, निष्प्रयोजन है उसका कोई अस्तित्व नहीं। वास्तविक कला आज के साहित्य में नहीं, उसका निखरा रूप हमें वर्तमान के पूर्व साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। पूर्ण प्रगतिवादी-साहित्य में कहते हैं, जीवन ज्यादा है, पर हमें उसमें इसका सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। कहने के लिए उसमें यथार्थता रहती है, पर उसका ढोंग विकृत ही रहता है। देखो-सुनो सीमित घटनाओं का चित्रण रहता है चूँकि उसके साहित्यकारों में देखने की शक्ति का और अनुभव-प्रौढ़ता का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। कुछ ऐसे भी हैं, जो सिर्फ पढ़ या सुनकर तत्सम्बन्धी साहित्य की सृष्टि नहीं करते, अपितु देखकर सोच-समझकर साहित्य-सर्जना करते हैं, जिसका जनता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

यथार्थता की ऐक्टिंग करना फ़जूल है। इस प्रकार के छद्म को यथार्थ कहेंगे, तो सच यथार्थ-आदेश का कोई महत्व नहीं रहेगा। निम्न-वर्गीय जीवन में कला का प्रतिष्ठान होना, असम्भव नहीं, कठिन नहीं, पर उस पर भी झूठ यथार्थता की कूँची फेरी जायगी। और कहना नहीं होगा कि आज के प्रगतिवादी-साहित्य में सीमित-जीवन का ही चित्रण रहता है। अतः कला भी सीमान्त रेखा में ही विचरती है। अन्यथा कला की श्रेष्ठता और उसकी उसकी वास्तविकता में पूर्ण सन्देह हो जायगा।

प्रगतिवाद की रूप-रेखा

प्रगतिवाद और काव्य की आत्मा

प्रगतिवाद को जीवन-साहित्य में सम्मिलित करने के पूर्व, साहित्य के अन्य उपकरणों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है। साधारण स्तर पर स्थिर रहनेवाले साहित्य में पुष्ट अंगों की पूर्णता भी रहनी चाहिये। और कदाचित् वर्त्तमान निम्नता को अपनानेवाले प्रगतिवाद में इसका अभाव लक्षित होता है। आनन्द के अतिरेक में आन्तरिक-भावना की सहृदयता कार्य-कारण के आरोप से विशिष्ठता पूर्ण कार्य करती है। सहज अनुभूति की स्वाभाविकता के परिणाम में इस आनन्द का आत्मा से अधिक सम्बन्ध है, जो काव्य का प्रतीक स्वरूप है।

हृदय की सजग-भावना से अनुप्राणित होकर करुणादि व्यापक रसों के आविर्भाव के फलस्वरूप, मानव अपने आनन्द की अभिव्यक्ति काव्य के लाक्षणिक उपकरणों द्वारा करता है। काव्य की लाक्षणिक-प्रवृत्तियाँ आनन्द के अभिव्यञ्जित-स्वरूप पर निर्भर करती हैं। मानव के भौतिक निर्माण से पृथक् उसके स्वरूप निश्चित हैं। काव्य की आत्मा, अलङ्कार निरूपकों के मत में ध्वनि व्यञ्जना पर अवलम्बित है—काव्यस्य आत्मा ध्वनिः। हिन्दी में यह रूपान्तरित हो, अभिव्यञ्जना शैली से अभिहित होती है। मम्मट भट्ट, विश्वनाथराज या भामह के काव्यों की लाक्षणिक व्याख्या पर ध्यान न देना भी पुष्ट साहित्य के साथ अन्याय करना है।

स्थायी-साहित्य की विविधता पर जब हमारी दृष्टि जायगी तो स्वाभाविक रूप से काव्यात्मक-लक्षणों को सबल अंग के रूप में स्वीकार करना होगा। वैसी अवस्था में उन आचार्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती; चूँकि साहित्य की पूर्ण सबल अभिव्यक्तियाँ उन्हीं द्वारा हुई हैं। आनन्द और रस युक्त साहित्य की सर्जना सहज, सरल महत्त्वरहित घटना पर नहीं स्थिर होती है। आदर्श और यथार्थ को सम तुला पर तौल कर कल्याण की भावना से अनिप्रेत हो साहित्य की आवश्यकता का निर्देश करना, आचार्य के निष्कर्ष या निर्णय थे। जीवन की असहिष्णुता एवं संकुचित-दार्शनिक प्रवृत्तियों को साहित्य में अस्थान देने का अभिप्राय, उनके मतानुसार साहित्य को गौण तथा अव्यापक एवं अस्थायी सिद्ध करना है। मानव-जीवन से पृथक भाव को मुख्यरूप से

साहित्य में नहीं स्थान देना चाहिये, यह उनकी उक्ति कदापि नहीं है, परन्तु आवश्यकता एवं कल्याण की मापिका क्रिया-शक्ति पर अधिक दृष्टि रखना साहित्यिकों का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। इस पर अधिक जोर देने के पक्ष में वे थे। और वर्त्तमान परिस्थित में इस व्यापक दृष्टि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

नित घटती रहनेवाली घटनाओं के अतिरिक्त संकुचित जीवन को साहित्य में स्थान देना आवश्यक समझा जाता है। लोकोत्तर आनन्द अपेक्षित भी हो तो स्वाभाविक साधारण आनन्द मानव के लिये अत्यावश्यक है। परिवर्त्तन के विकास तत्त्वों से साहित्य के कार्य-कारण के उपकरण-भाव की गुप्त क्रिया को उद्दीप्त करने में साहित्यिक सहयोग नहीं देते हैं। परन्तु रसियन सिद्धान्त से आलोचित साम्यवाद का प्रतीक, प्रगतिवाद सस्ती भावुकता को ढोने की अधिक सामग्री एकत्रित करता है। यह प्रगतिवाद-साहित्य, प्रौढ़ता या विशिष्टता की पूर्णता से दूर है, अतः काव्य को सजीव आत्मा की अभिव्यक्ति उसमें नहीं है। हृदगत भावनाओं से सम्बन्धित-जीवन का स्वरूप भी उसमें लक्षित नहीं होता। भाव जगत में या भूमि प्राङ्गण में विचरने का यह अभिप्राय नहीं होना चाहिये कि मानव का धरातल निम्न हो, और उसीके अनुसार साहित्य भी निम्न एवं अधस्तल पर स्थित हो।

सहज स्वाभाविक अनुभूति साहित्य की विभूति है जो जीवन की विशिष्टता से संयुक्त है, और वह काव्यात्मक आनन्द की वाहिका भी। शरीर पर, हाड़-मांस पर अवलम्बित होनेवाली आत्मा, काव्य की भौमिक-आत्मा से पृथक एवं कम महत्त्व रखनेवाली है। उसके अनुपात के अनुसार साहित्य के अंगों को नापेंगे तो उसकी निम्नता ही भविष्य के लिये शेष रह जायगी। विभाव-अनुभाव संचारी-भाव प्रगतिवाद में स्थान नहीं पा सकेंगे। जिसके परिणाम में उसकी शक्ति और आधार अधूरे ही प्रतीत होंगे। गम्भीरता को ढोनेवाले साहित्यिक-उपकरण उपेक्षित नहीं हो सकते। निम्नता, गम्भीरता अपने-अपने अनुकूल वातावरण निर्मित करने में सफल सिद्ध होती हैं। भाव-भूमि की मुख्यता या प्रबलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, चूंकि क्रान्ति या अधिकार माँग को दबाने से अब कार्य नहीं चल सकता; परन्तु किसी भी अवस्था में साहित्य की पूर्णता या उसके विकास पर ध्यान देना अनिवार्य है। मैंने सर्वत्र कहा है, सीमा या संकुचित दायरे में विचरने के पूर्व साहित्य के मुख्य अंगों-उपकरणों पर सदैव विस्तृत दृष्टि रखनी होगी। निम्न-वर्ग में स्थित जनों के जीवन-दर्शन का वर्णन साहित्य में निषेध नहीं,

परन्तु मध्य-विशिष्ट-वर्ग में स्थित जनों की परिस्थितियों एवं भावों, अनुभावों, जीवन-दर्शनों का वर्णन भी अनिवार्य है। एक को ही लेकर चलना अच्छा नहीं, दोनों को समरूप से अपनाना होगा। फिर मुझे कही हुई की आवृत्ति करनी पड़ती है, यहाँ 'ही और भी का प्रश्न है' जो अत्यन्त सुस्पष्ट है। आनन्द और रस के अतिरिक्त गम्भीर वातावरण की लक्षणा, व्यञ्जना पर भी दृष्टि जानी चाहिये। उच्च धरातल को निम्न धरातल पर ला उतारना, साहित्य के पक्ष में कभी उचित नहीं हो सकता। दर्शन, विज्ञान, अद्वैत-द्वैत, आध्यात्म को साहित्य में सम्मिलित न करना, उसकी निर्बलता सिद्ध करना है। काव्य को गद्य बनाकर लाक्षणिक क्रियाओं की उपेक्षा करने से पृथक निम्नता आ जायगी; इसकी जगह हमारा उद्योग होना चाहिये था, उच्चता की लक्ष्य-सिद्धि पर पहुँचना अज्ञ को विज्ञ बनाने के लिये योग्य; पूर्ण की ओर अग्रसर होने वाले साहित्य के मार्ग को अवरुद्ध करना उचित नहीं। अज्ञ के उपयुक्त साहित्य का निर्माण करें। अर्थात् योग्यों के लिये गम्भीर विषयों का प्रतिपादन छोड़ निम्नों के उपकारार्थ निम्न-साहित्य की सर्जना करें!

ऊपर पहुँची हुई वस्तु को, नीचे लाने के बजाय, नीचे को ही ऊपर ले चलने में कदाचित् कोई हानि नहीं है। योग्य को अयोग्य बनाने की क्रिया का परित्यागकर, अयोग्य को योग्य बनाने की क्रिया ही प्रशंसनीय एवं उचित है। सस्ती भावुकता का सम्बन्ध काव्य से नहीं हो सकता, रोमांस को लेकर भौतिकवाद के सस्ते आधार को लेकर काव्य अपना स्थान निरुपित नहीं कर सकता। उसकी मान्यतायें मननीय एवं अनुकरणीय होनी चाहिये। वर्ग के अनुरूप साहित्य के स्वरूप और विकास के आगे (प्लस) और (माइनस) का मनमाना चिह्न खींचना अनुचित है। दोनों के उपयुक्त पृथक्-पृथक् साहित्य निर्माण करना, श्रेयस्कर और उचित है। दूसरे को उपहास की दृष्टि और उपेक्षा की दृष्टि से देखना अनुचित है। परन्तु काव्य-प्रणेता को लाक्षणिक अनुक्रमणिकाओं का बहिस्कार नहीं करना होगा। निम्न-वर्ग को अपनी परिस्थिति का ज्ञान कराने के लिये साहित्य का काव्य-पथ ही एकमात्र सबल साधन नहीं है। गद्य के आधार भी ग्राह्य हैं।

अध्ययन के अभाव के कारण काव्य-शक्ति का विध्वंस करने का किसी को भी अधिकार नहीं प्राप्त है। अध्ययन होने पर भी जो लोग नवीनता की ओट में कीर्त्ति की प्रेरक-शक्तियों को अपनाना चाहते हैं, वे कदाचित् इसे विस्मृत कर देते हैं कि इस नवीनता में कृत्रिमता तथा अस्थायित्व अधिक है। जीवन को जीने मात्र देने के लिये छोड़ देना, कर्त्तव्य-परिधि में उसे सम्मिलित

न करना, साहित्य को गौण बनाना है। परन्तु मूल व्यञ्जना-शक्ति की अभिव्यक्ति पर भी आँखें मोड़ लेनी चाहिये। आदि भौतिक क्रिया को जगाने के लिये और राजनीतिक अधिकार की प्राप्ति के लिये उसीका प्रश्रय लेना उचित है। इसके लिये साहित्य की विधियों, नियमों में परिवर्त्तन लाना हितकर नहीं प्रमाणित हो सकता।

साहित्य जीवन को विशिष्ट बनाने का अधिकार और योग्यता रखता है। काव्य गद्य दो आधार-भित्ति पर अवस्थित है, दोनों का उपयोग दो दिशाओं की ओर होना चाहिए। नवीनता में मौलिकता भी रहे, तब भी कल्याणकारी धरातल का अन्वेषण होना चाहिए, काव्य का प्रभाव व्यापक और उत्तेजक आवश्यकता से अधिक होता है, परन्तु तभी तक जब तक उसके आधार दृढ़ रहते हैं। यह दृढ़ता उसके स्वरूप बिगाड़ने पर नहीं रह सकती। प्रौढ़ता-गम्भीरता में ही उसकी दृढ़ता रह सकती है। अभिव्यञ्जना शैली पर भाव्य-भाव से अवलम्बित काव्य के लिए तो निम्न परिवर्त्तन अवनति के उपकरण एकत्र करने के साधन हैं। उधर अग्रसर होने के लिए, उसके समकक्ष योग्यता रखनी होगी। प्रगति का शिष्ट अर्थ जहाँ अपनी व्यापकता सिद्ध करता है, वहाँ उसके स्वरूप में बाधा-ग्रहण पथ नहीं उपस्थित होता। परन्तु अन्यपरक अर्थ की इच्छानुसार अनुकूलता, जहाँ प्रबल बल लेकर उपस्थित होती है, वहाँ काव्य की दृष्टि से प्रगति में विकृति आ जाती है। मानव-जीवन की उच्चता और निम्नता पर ध्यान देने के लिए काव्य के वास्तविक स्वरूप को विकृत बनाना, किसी भी दशा में अच्छा नहीं।

काव्य की पृष्ठभूमिका समस्त भावों की एकत्र अभिव्यक्ति चाहती है, इसके प्रतिकूल अग्रसर होनेवाली विधियाँ उसकी दृष्टि में काव्य के अनुरूप नहीं है। इस लाक्षणिक काव्यात्मक विचार का प्रगतिवादी पथ तीव्र विरोध और उपेक्षा करता है। काव्य की लाक्षणिक प्रवृत्तियाँ उसे स्वीकार नहीं हैं। भाव-भूमि की गम्भीरता, उसे इष्ट नहीं है। राजनीति की चादर में समेटकर काव्य की लाक्षणिक-शक्तियों, प्रवृत्तियों को रखना चाहता है। यह मान्य है कि उसकी काव्यात्मक विधियाँ सहज गम्य हैं, किन्तु स्थायी रूप से यह काव्य की प्रवृत्ति निश्चित हो जायगी, और वास्तविकता और गम्भीरता लुप्त हो जायगी। युग के विकास के अनुसार वर्त्तमान युग में पलनेवाले जन वर्त्तमान काव्यात्मक शक्ति तक, जब पहुँच जायेंगे तो आगे का मार्ग अवरुद्ध पायेंगे, वैसी स्थिति में ऐसा कोई नहीं शेष रहेगा जो विकास-साधन एकत्र

करने की योग्यता रखेगा, चूंकि निम्न और संकुचित वातावरण में पलने-वाले ही अवशिष्ट रह जायेंगे। उनकी ज्ञान-परिधि सीमित रहेगी।

उस भविष्य पर वर्त्तमान व्यापक, विस्तृत दृष्टि रखे। अन्यथा अवरुद्ध मार्ग के परिणाम में हिन्दी काव्य की वास्तविक प्रगति (विकास) रुककर ही रहेगी। प्रगतिवाद काव्य के लक्षण और उपयोग-प्रयोग से बहुत दूर है, और होता जा रहा है, फल-स्वरूप जोर का तूफान लेकर जैसे शान्त और निर्बल, महत्त्वरहित उपेक्षित होकर उसे भी कहीं शरण लेनी होगी। आरम्भ उसका भयानक और विद्रोहात्मक अवश्य है, किन्तु शक्ति परिमित है। चल-चित्र का रूप देकर उसका विकास कदाचित् असम्भव है। कर्त्तव्य आदर्श और कल्याण की भावना विराजमान रहती तो उसकी शक्ति अपरिमित हो सकती थी।

निर्जीवता को सजीवता में परिणत करने के समय काव्य का सर्व-भौम पक्ष द्रष्टव्य है। लक्षण की संयोजक-शक्तियाँ काव्य में मूर्त्त होकर अपनी सजगता का जहाँ परिचय देती हैं, वहाँ पहुँचकर उसकी मान्यतायें न स्वीकार करना, अपने साथ अन्याय करना है। भावुकतावश विद्रोहात्मक शक्तियों का आश्रय लेकर उसके पथ में रोड़ा अँटकाने के लिए पृथक् वाद-विशेष का प्रचलनकर अपने अनुकूल साहित्य निर्माण करने में उसे सफलता अधिगत हो सकती है। इसलिए कि विद्रोह क्रान्ति का दूत अंग है अतः वह अपनी नृत्य-क्रिया दिखलाएगी ही। परन्तु आँधी की शक्ति रखनेवाले साहित्य में क्षणिक ओज वर्त्तमान रहना स्वाभाविक है। स्थायित्व की सम्भावना उसमें नहीं है। जीर्णता ढोने में पीछे चलकर वह साहित्य सक्षम होता है।

अधिकार की उग्रता और परिस्थिति की उत्तेजक भावनायें जब अपना कार्य करने के लिए वाह्य होती हैं, तब आन्दोलन का जन्म होता है, क्रान्ति की सजगता व्यक्त होती है। इस आन्दोलन और क्रान्ति का काव्य में स्थान देना चाहिए। परन्तु कर्त्तव्य और आदर्श पक्ष का परित्याग भी अनुचित है। आनन्द की सामग्रियाँ जैसे सब रसों में हैं, वैसे ही भाव-पक्ष के ग्राह्य साधन सब कर्त्तव्य के आधार में सन्निहित हैं। जीवन के आधार का व्यतिरेक भी काव्य की आत्मा से संयोजित, परन्तु इतना अधिक सूक्ष्म है कि निम्नभावनाओं से ओत-प्रोत रहनेवाले साहित्य के पाठक इसे समझ नहीं सकते। काव्य का दर्शन-पथ काव्य का अवलम्ब विषय है, निम्न मानव का वहाँ स्थिति सम्भव नहीं, वर्त्तमान की किसी भी अवस्था का उसे अनुभूति नहीं है, अतः अधि-कार-पूर्वक काव्य की सूक्ष्मता पर दृष्टि डालने में वह अक्षम है। उसके

अधिकृत प्रदेश ही इतने संकुचित एवं अनुभवरहित हैं कि सर्जनात्मक साहित्य में काव्य की सार्वभौम-क्रिया अमूर्त्त रहती है। अनुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए घटना के आमुख पर उसकी शक्तियाँ नहीं अवलम्बित रहतीं, प्रत्युत वर्त्तमान दृश्य-स्वरूप पर वे स्थित रहती हैं।

काव्य की आत्मा जीवन की प्रेरक शक्तियाँ हैं, जिनमें अदृढ़ता या अस्वाभाविकता नहीं है। अन्तर और बाह्य अभिभूत प्रेरक-शक्तियाँ मनुष्य की गोपन क्रिया को उभाड़ती हैं। उनका कोई भी आघात-व्याघात ओट में नहीं होता। वाद-विशेष के निम्न स्वरूप के लिये कोई भी मूर्त्त क्रिया कार्य नहीं करती, व्यक्तीकरण में अभिव्यक्ति के अनुसार जिस पर जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा ही जन-वर्गवाद का रूप देता है। पूर्व में वाद नहीं स्थित रहता, उत्तर के निस्कर्ष के अनुसार वाद स्वरूप निश्चित होता है। प्रतिकूल आक्रान्त वातावरण से प्रभावित होकर वाद की कल्पनाकर, उसीके अनरूप काव्य-प्रणयन में लाक्षणिक-स्वाभाविक आत्मा का प्रतिष्ठान सम्भव नहीं है। भाव की प्रखरता को लेकर अभिव्यञ्जित करनेवाले काव्यकार प्रभावोत्पादक वातावरण को उपस्थित करने में सक्षम हो सकते हैं, उनकी योग्यता भी कुछ स्थान पर प्रमाणित हो सकती है, परन्तु मान्यतायें और आधार इतने निर्बल हैं कि लक्ष्य तक पहुँचने में कदाचित् नहीं ही असफल होंगे।

शक्ति और योग्यता के साथ-साथ वास्तविक जगत् में विचरकर, पक्षपात की भावना से दूर रहकर काव्य के आत्म-स्वरूप की सचेष्ट क्रियायें उन्हें स्वीकृत हो सकती हैं। वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये राजनीतिक आन्दोलन सफल अंग है, साथ ही काव्य की व्यञ्जना भी अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखती है, गति स्वाभाविक और सत्य होनी चाहिये। असह्य और अस्वाभाविक गति, प्रभाव की प्रक्रिया नहीं सिद्ध करती है। अहं, अज्ञता की वृद्धि करती है, जो प्रक्रियात्म-प्रभाव का परिणाम है। जीवन की प्रवञ्चना-शक्ति को वह उद्वेलित करने की प्रेरणा देता है, भावुकता की श्लाघा करता है, काव्य के रूप को विकृत और हेय प्रमाणित करने के लिये आतुरता का पहले ही से प्रश्रय ले चुका होता है, सर्वसाधारण भी इसीलिये उसीका समर्थन करता है। आनन्द, ब्रह्मानन्द, काव्य के आन्तरिक स्वरूप पर सीमा में अधिकार रखता है, अद्वैत भावना से अभिप्रेत होने पर ही यह सम्भव है, जो प्रगतिवाद के आधार पर स्थिर होनेवाले काव्य में सम्भव नहीं।

विभाव की अभिव्यञ्जना में अनुभाव की सहानुगति, मस्तिष्क में दृश्य-स्थिति का खाका खींचती है जो सत्य का केन्द्रीकरण करता है। भावुकता का

सहृदयता से जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक इस केन्द्रीकरण के पास उसकी पहुँच सम्भव है। अति सस्ती भावुकता, कृत्रिमता की ओर प्रवाहित होती है जो असत्य को अपना आदर्श मानती है, चूँकि जीवन को सबल बनाने में वर्त्तमान युग ने सिद्ध किया है, असत्य को भी जीवन में स्थान देना चाहिये, इसलिये कि रक्षात्मक साधनों में से वह भी एक है जिससे मानव परे नहीं हो सकता। विभाव में असत्य को प्रश्रय मिलना कठिन है, सुन्दर चित्तवाले मानव अपने को उससे सदैव दूर रखने की चेष्टा प्रचेष्टा करेंगे।

सत्य, सात्विक-वृत्तियों की स्वच्छता पर टिक सकता है जिसके पोषक वर्त्तमान परिस्थिति में बहुत कम हैं। दो, एक जो एक पार्श्व में उपेक्षित पड़े हैं, उनका विश्वास दृढ़, अटल रहता है। वे मस्तिष्क-शक्ति द्वारा समझ लेते हैं, सत्य में स्थायित्व अधिक है और विकृत उपकरणों से सदैव वह दूर रहता है, फलत: भविष्य के जीवन में श्रद्धा और विश्वास उन्हें दोनों सहज ही में प्राप्त होता है। सफलता के लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। वर्त्तमान की अपेक्षा, वह भविष्य अधिक चिरस्थायी और महत्त्वपूर्ण है। विभाव-अनुभाव के प्रतिकूल प्रवाहित होकर वर्त्तमान की सुन्दरता पर ही हम अधिक ध्यान देने लग जायँ और उसके अनुसार सारे उपकरण एकत्रकर जीवन को उसीके अनुरूप बना दें, तो कुछ क्षण के लिये ही क्यों, समस्त वर्त्तमान तक सम्पन्न और सुन्दर रह लेंगे, युग मेरा साथ भी देगा, किन्तु इतने शीघ्र हम गिरेंगे कि भविष्य प्रत्येक समय आँसू के संसार में ही निवास करने को विवश करेगा।

अच्छा आरम्भ, अच्छा अन्त का सूचक है। कृत्रिम भावनाओं से प्रपूरित आरम्भ, अन्त की परिस्थिति को सँभालने में कदापि सक्षम नहीं हो सकता। काव्य के अन्तर्गत अनुभाव-विभाव, आरम्भ-अन्त की ज्ञप्ति-विज्ञप्ति का विश्लेषण करते हैं, जिसके आधार पर किसी भी युग का मानव अपने को आगे बढ़ाता है। अपनी बिखरी शक्तियों को एकत्र करता है।

रस का प्रत्येक स्थल भी काव्यात्मक विभाव-अनुभव ही है, जो संचारी भाव पर ही अवलम्बित है। रति आदि भी रसता को उसी भाव द्वारा व्यक्त होते हैं। स्थायी भाव का दृष्टान्त देकर स्वच्छ हृदयवाले व्यक्ति काव्य की अभिव्यक्ति में उन भावों के मूर्धन्य पर पर्याप्त गम्भीरता से विचारते हैं, उनकी सर्वत्र व्यापकता स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। आचार्यों के इस मन्तव्य पर उनकी दृष्टि रुक पड़ती है कि

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिःस्थायी भावः सचेतसाम् ॥"*

इस मन्तव्य का प्रगतिवादी काव्य-प्रणेता महत्त्व नहीं देता। प्राचीनता को अवगत या आत्मसातकर रूढ़ि या परम्परा में सम्मिलित होनेवाले मन्तव्य या सिद्धान्त उसे स्वीकृत नहीं। नवीनता के पर्यायवाची शब्द में उसी के अनुरूप कार्य-कारण भी होने चाहिये। कार्य-कारण का आरोप काव्य के उच्चतम लक्षणों में भी परिव्याप्त है, परन्तु प्रकार में विभिन्नता अवश्य है।

जीवन की वास्तविक लाक्षणिक वृत्तियाँ कार्य में कारण बनकर मानवता का प्रचार करने में जहाँ सहायता करती हैं वहाँ काव्य की अभिधा शक्ति मूल में प्रत्यक्ष रूप से नहीं, प्रच्छन्न रूप से विराजमान रहती है। रहस्यवाद की द्वैत भावना का विश्लेषण सहज ही में दृष्टिगोचर हो सकता है। रहस्यवाद की कोई भी क्रिया प्रगतिवाद को मान्य नहीं है, यह सर्वविदित है। यद्यपि रहस्यवाद के भाव गुम्फन में अबोधता या अगम्यता मानव तक पहुँचने में विलम्ब करती है, फिर भी जब मानव उससे पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब आनन्द संसार-का अनुभव करता है। यह आनन्द चेतना के अन्तर्भाव में सन्निविष्ट है। इस चेतनायुक्त आनन्द को भौतिकवाद का सत्ता स्वीकार करनेवाले व्यर्थ की विलासिता समझते हैं, उनके जानते बौद्धिक चेतना द्वारा मानव की जागृति सम्भव है, और वह आनन्द मानव को सुषुप्त रखता है और साथ ही महान् आलसी भी बना डालता है।

स्वाभाविक सत्य परमाणु रूप में भी यह मानने के लिये प्रस्तुत नहीं है, किन्तु सत्य को गौण माननेवालों को इसकी चिन्ता नहीं, चूँकि दूसरे प्रतिकूल मार्ग पर अग्रसर होना, उन्हें इष्ट है। चेतना की क्रिया में गम्भीरता रहती है। अतः उसका आनन्द भी उसीकी श्रेणी में बैठता है। अपने को निम्न धरातल पर ले चलनेवाला उस आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता है। भावना की धारा में परिवर्त्तन लाना, उसके लिये सम्भव है, अनन्तर वह उस आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। प्रश्न उठ सकता है, आनन्द के लिये ही जीवन नहीं है, उत्तर प्रत्यक्ष है, भौतिकवाद की बौद्धिक क्रिया फिर चाहती क्या है ?

उसकी घोषणा में यह भी है कि आखिर निम्न-वर्ग का मानव-जीवन आनन्द का अर्थ क्यों नहीं जानता। आनन्द, हास्य भी जीवन के आवश्यक

*साहित्य दर्पण

अंग हैं, रस में इनकी गणना है, काव्य में इनकी महत्ता है। अभाव, आवश्यकता की पूर्त्ति के मूल में भी सुख शब्द से अभिहित होनेवाले ही आनन्द या हास्य हैं, किन्तु स्थान-विशेष में अन्तर है। भाव-अनुरूपता में भी भिन्नता है। रहस्यवाद की काव्यात्मक-प्रवृत्ति काल्पनिक अंगो-उपांगों पर निर्भर करती है, इसलिये उसकी आधार-भित्ति प्रत्येक मानव के लिये उचित नहीं है उसको enactments (विधियाँ) हमारे प्रगतिवाद के तात्विक अंगों के लिये उपयुक्त नहीं हैं। काव्य की आत्मा, सहज विधियों पर निर्भर नहीं कर सकतीं। इसे प्रगतिवादी सदैव भूल जाया करता है।

सहज क्रिया में उसकी अभिव्यक्ति भी सरल संकुचित होती है। विज्ञान की प्रधानता में प्रतिवाद को प्रयोगिक-सिद्धान्त निर्माण में सफलता कदाचित् प्राप्त हो जाय, पर समाजवाद के प्रचार में इस प्रयोगिक-सिद्धान्त को सफलता कदापि अनुरूप प्राप्त नहीं हो सकती। काव्य के रूपक पर उत्प्रेक्षा की ग्राहकता स्वीकारकर विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात होगा, अलङ्कारिक-भाव भूमि, काव्य के लिये जीवन का परिलक्षण प्रमाणित होगी, चाहे वह रहस्यवाद या प्रगतिवाद, किसी वाद में उसकी अनिवार्यता सिद्ध है। बौद्धिक आधार को प्रगतिवाद अपने काव्य में जहाँ महत्त्व देता था, आज अन्य वादों से अभिहित होनेवाले काव्य में भी उसी आधार का लक्षण वह पाता है।

समाजवाद की स्थापना के लिए प्रगतिवाद के जहाँ उद्योग हैं, वहाँ उसकी प्रशंसा करनी पड़ेगी, किन्तु एक मात्र समाजवाद की भावना के उदघोष के लिये काव्य के रूपों, लक्षणों की उपेक्षा करना उसकी आत्मा से पृथक् करना है। जीवन, काव्य में मूर्त्त होकर जब प्रकट है, तब उसीके लिये आत्मा का प्रश्रय लेता है, इस वर्णन की व्यापकता, काव्य में होगी तो बड़ा गम्भीर भाव संयत होकर व्यक्त होगा। अध्ययन की प्रौढ़ता पर इसकी अवगति निर्भर करेगी। समाजवाद का व्यक्ति यहाँ तक नहीं पहुँच सकता। प्रगतिवाद का बौद्धिक व्यक्ति भी इस अवगति से वञ्चित रहेगा। चूँकि अध्ययन, वह भी लाक्षणिक अध्ययन करने के बजाय कर्म की गति का अध्ययन, आवश्यक समझता है। और इसीलिये गम्भीर काव्य की उपेक्षा करने के लिये उसने पृथक् बहुरूप में अपना दल कायम किया है।

प्रगतिवाद की वर्त्तमान भाव-भूमि पृथक् आधार पर अवलम्बित है। पर्यायवाची शब्द में रूस की क्रियात्मक शक्ति का वह प्रतीक है। किसी भी काव्य में जीवन का सत्य भाव-उद्गम बनकर प्रकट हो सकता है यह उसे स्वीकार नहीं है। एक मात्र प्रगतिवादी काव्य में ही जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति

सम्भव है। चूँकि सर्वसाधारण तक के जीवन की सत्य-परिस्थिति से वही परिचित रहता है। सत्य-जीवन को आँकने की क्षमता प्रगतिवाद में ही है, यह गर्वपूर्ण घोष सर्वथा असत्य है, यह किसी को पता नहीं। काव्य की आत्मा, ध्वनि द्वारा अभिव्यञ्जित होती है, और यह ध्वनि प्रगतिवाद के किसी भी अंग में सम्मिलित नहीं है जीवन का स्वाभाविक सत्य उसमें स्थान नहीं पा सकता। उसका भी यह सत्य स्वीकार है कि समाजवाद के लिये हमारा पृथक् आन्दोलन है जो नया और हितकर है। किन्तु काव्य के साथ इसका सन्तुलन अनुचित है।

भाव की सूक्ष्मता, मनोविज्ञान के धरातल पर स्थिर है, वर्त्तमान बौद्धिक विश्लेषण के अनुसार काव्य की लाक्षणिक-प्रवृत्ति स्वीकार करनेवाले भी इसे मान सकते हैं, पर मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के प्रलोभन में अपनी मान्यताओं का परित्याग करने के निमित्त कदाचित् ही वे प्रस्तुत हों। दैविक-शक्ति के नियाकन में विश्वास करने के विरोध में काव्य को सर्जना करने के लिए प्रेरणायें देता है, वह, जो उसकी दृढ़ता का द्योतक है; किन्तु साथ ही उसकी अहमन्यता भी इसमें प्रकट होती है। और अहमन्यता काव्य का गुण नहीं; गर्व को स्थान देना, काव्य के प्रतिकूल लक्षणों में वह मानता है। गर्व की जगह गौरव की अभिव्यक्ति की कीमत उसके आगे अधिक है। उसकी उत्कृष्टता इसीमें प्रमाणित होती है। और यह उत्कृष्टता प्रगतिवाद के लिये अत्यन्त निकृष्टता है। काव्य की मान्यतायें ही ऐसी हैं जो युग का साथ देकर रुक जायँगी, चूँकि विकास का वहाँ अवकाश नहीं है। स्थायित्व पर विकास स्थिर है जो उसकी मान्यताओं में एकदम नहीं है।

स्पष्ट भाव से इस निस्कर्ष पर कोई भी व्यक्ति पहुँच सकता है, कि प्रगतिवादी काव्य निर्बल, असत्य और अस्थायी है। उसके कोई लक्षण, उसकी कोई विधि निश्चित नहीं है, अतः अनुकरण करनेवालों को सतर्क रहना चाहिये। उसके सहज सरल काव्य में आकर्षण के साथ-साथ प्रलोभन भी है, अतः उस ओर मुड़ पड़ना अस्वाभाविक नहीं है। और लाक्षणिक काव्य प्रणेता अपने स्थान से विचलित भी हुये हैं; परन्तु वास्तविक भाव-भूमि की क्रमिक-अवगति के अनुसार पुनः अपने पूर्व निश्चित स्थान पर आते से प्रतीत होते हैं। स्फूर्त्ति, जागृति और अद्भुत-शक्ति लेकर वह प्राथमिक अवस्था में अवश्य आया था। सहयोग भी बहुलता से प्राप्त हुए, किन्तु वर्त्तमान प्रतीति कह रही है, प्रगतिवाद का आधार क्रमशः निर्बल होता जाता है, और उसके सहयोगी भी धीरे-धीरे गोप्यरूप से ही अपना सम्बन्ध एक

प्रकार से विच्छेद कर रहे हैं। प्रगतिवाद की पृष्ठ-भूमि में काव्य का आत्मिक स्वरूप कहीं भी लक्षित नहीं होता।

प्रगतिवाद के आधार

समाजवाद की क्रियात्मक भावना, प्रगतिवाद के भू-भाग में व्याप्त है। अधिकार-याचना की उग्रता, शोषण, शासन, अभाव में भाव और परतन्त्रता में ही प्रगतिवाद के आधार हैं। मिल के मजदूरों की दयनीय परिस्थिति सँभालने के लिये और उनकी अभावगत समस्त समस्याओं को सुलझाने के लिये क्रान्ति का नैमित्तिक अर्थ अवगत कराने के निमित्त एक ऐसे साहित्य की सर्जना हुई जिसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई, दमन से ऊबकर, अपनी आवाज बुलन्द करने के लिये, निम्नवर्ग को उत्तेजित करने के लिये प्रगतिवाद की आवश्यकता समझी गई। आन्दोलन के लिये उत्साहित करना, अपने-अपने स्वायत्त सब अधिकार माँगने के लिये युद्ध करना, ये प्रवृत्तियाँ रूस की हैं। वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिये निषेध नहीं है, परन्तु इन प्रवृत्तियों में भारतीयता कहाँ तक है, और उसकी अनुकूलता पूर्ण है या नहीं, सब देखना होगा। साहित्य की शक्तियाँ या प्रवृत्तियाँ मानव के मस्तिष्क विकास में सहायता अवश्य प्रदान करती हैं, जहाँ तक वे समर्थ हैं; किन्तु प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ अक्षम, असमर्थ हैं। क्षणिक उत्तेजना लाने मात्र की उसमें शक्ति है, चूँकि पर्याप्त बल लेकर स्वयं वह नहीं आया है। उसकी नीव में दृढ़ता नहीं है।

अनुगमन की प्रवृत्ति वहीं तक श्लाघ्य है, जहाँ तक उदारभाव से ग्रहण करने की जिज्ञासा है। इसके प्रतिकूल आचरण या भावनायें उचित से अनुचित की ओर प्रवाहित करेंगी। प्रगतिवाद रोटी को उचित से ज्यादा प्रधानता देता है, मनुष्य के सारे स्वार्थ, सारी सत्ता, समस्त समस्या का निदान, इसी रोटी पर अवलम्बित है, ऐसा प्रगतिवाद का निर्देश है। किन्तु रोटी में कर्त्तव्य की भावना अत्यन्त सङ्कुचित है, मानव सिर्फ रोटी के लिये लड़े और मरे यह उसके अनुकूल आचरण नहीं है। उसके और अनेक कर्त्तव्य हैं, जिनका पालन आवश्यक है। रोटी की अधिकार-प्राप्ति मानव के अन्य कार्यों में सहायता देगी किन्तु मानव का इतना सङ्कीर्ण विश्लेषण नहीं है कि इसीकी सीमा में उसे बाँध दिया जाय। सिर्फ रोटी, मानव की प्रवृत्ति को कलुषित या विकृत बनाती है।

निम्नवर्ग अपनी रोटी के साधन-प्रसाधन एकत्रित करे, इसके लिये जिसका उसे प्रश्रय लेना पड़े ले, यदि वह इसमें अपना हित देखता है, किन्तु अन्य क्षेत्रों के लिये भी उसे अनेक अवश्य कार्य करने हैं, यह कदापि वह न भूलें। प्रगतिवाद रोटी के बल पर ही साम्यवाद से अनुप्रमाणित समाजवाद की स्थापना नहीं कर सकता, इसके लिये बौद्धिक सूक्ष्म प्रयास भी करने होंगे।

यदि ऐसा नहीं हुआ तो एक दिन जनवाध्य होगा, यह कहने के लिये कि प्रगतिवाद रोटीवाद का पर्याय है। और रोटीवाद के लिये निर्मित साहित्य में कहाँ तक मानवता के उपकरण वर्त्तमान रहेंगे, यह उसकी भावनाओं और प्रसरित कार्यों से ही विदित हो जायगा। प्रगतिवाद के प्रारम्भ में शान्ति की शिष्ट भावनायें साथ आयी थीं, किन्तु स्थिति का प्रौढ़ ज्ञान नहीं होने के कारण, उसकी विधियाँ परिवर्तित हो गईं, और सिद्धान्त रूप भी बदल गये। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये, जिस वस्तु साधन का प्रश्रय लिया गया, वह, राजनीति का आच्छादन अंग है। और राजनीति, साहित्य से प्रथक है, कुछ तर्कों के आधार पर यहाँ तक स्वीकार किया जा सकता है कि साहित्य में वह आ सकती है, किन्तु उसमें साहित्य नहीं प्रविष्ट हो सकता है।

राजनीति, प्रगतिवाद के प्रति शब्द रूप में व्यवहरित होती है। साहित्य-सन्तरण की अन्तर्धारायें एक ही ओर नहीं प्रवाहित हुई हैं, विभिन्न मार्ग, विभिन्न स्वरूप हैं, उसके। और प्रगतिवाद एक ही स्वरूप रखता है जो सीमित है राजनीति में। राजनीतिक अधिकार निम्नवर्ग के लिये आवश्यक हैं, अतः यह भी प्रगतिवाद के आधार में सम्मिलित है। परन्तु इसके लिये प्रौढ़, गम्भीर साहित्य का दृष्टिकोण आदेश देगा, प्रगतिवाद साहित्य पर अपना अधिकार न रखे उसे इसमें प्रश्रय नहीं प्राप्त हो सकता। जीवन और उसकी गति, साहित्य में व्याप्त हो सकती है, राजनीतिक वातावरण में नहीं। योरप के इस सिद्धान्त को अपने साहित्य में स्थान भी दें कि जीना भी एक कला है, तो सङ्कीर्णता की सम्भावना हो सकती है। जीना भी एक कला है में पुनः रोटीवाली समस्या उठ खड़ी होती है। अतः भारतीय साहित्य में उसकी प्रधानता असम्भव है। हाँ, आंगिक या आंशिक वर्णन-चित्रण हो सकता है, जितने से किसी भी वर्ग का व्यक्ति अपने लिये अवलम्ब, रोटी का अवलम्ब ढूँढ़ सकता है, और उसके अभाव भी दूर हो सकते हैं।

प्रगतिवाद, पूँजीवाद के विरोध में समाजवादी आन्दोलन के लिये सैन्य-वर्ग एकत्र करना चाहता है। शिष्ट, गम्भीर साहित्य का इससे विरोध नहीं हो

सकता, किन्तु किसी भी परिस्थिति में उसे यह स्वीकार नहीं हो सकता कि केवल शब्द की अभिव्यञ्जना में उसी एक आन्दोलन के लिये साहित्य का सम्पूर्ण अंग अकेले एक में नहीं समाविष्ट हो सकता है। पूँजीवाद की स्वार्थ प्रकृति उग्र अवश्य हो गई है जिस कारण निम्न-वर्ग में स्थितजनों की कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं जिसके लिये साहित्य का कर्त्तव्य है, क्रान्तिकारी भावनाओं की सृष्टि करना। परन्तु सांस्कृतिक भावनाओं का विध्वंसकर विदेशीय भावनाओं, सिद्धान्तों से अनुप्रमाणित होकर उन्हीं को समष्टि रूप से अपने यहाँ स्थान देकर क्रान्ति की व्यापकता के लिये अपने स्वाभाविक रूप में परिवर्त्तन लाना उसके लिये वाञ्छनीय नहीं है। इसमें उसकी अवनति है।

निम्न-वर्ग के उस पक्ष का वह समर्थन नहीं कर सकता जो भावुकता-प्रधान है। ऐसा होगा तो मध्यवर्ग भी अपनी अभाववाली परिस्थिति को लेकर उसके समक्ष खड़ा हो सकता है, उसकी भी माँग महत्त्व रखती है; और कहना नहीं होगा कि सत्य की मात्रा उसमें इतनी है कि केवल भावुकता, वह भी सस्ती, अपनी क्षुद्र प्रवृत्ति का परिचय नहीं देती। उसके किसी भी रूप को उसने अस्वीकृत किया है। भाव की प्रवीणता से पृथक् नहीं है, किन्तु उसकी व्यष्टि भावना भी अमान्य है। जीवन का जीना-सम्बन्धी मनस्तत्त्वों का विश्लेषण काव्य में आधुनिकता के कारण स्वाभाविक है। चूँकि वर्त्तमान परिस्थिति ने उन उपकरणों को यहाँ ला खड़ा किया है, जो स्वार्थयुक्त हैं किन्तु आवश्यक हैं।

छायावाद रहस्यवाद के काव्यों की प्रवृत्ति में आदि भौतिक क्रिया की बौद्धिक भावना स्वच्छ थी, अतः स्थायित्व उसमें, प्रगतिवाद की अपेक्षा अधिक था। परन्तु मधुर सुकुमार वृत्तियाँ विलासपूर्ण थीं, अतः उसे भी विश्राम लेना पड़ा, किन्तु हिन्दी-काव्यों में उसने प्रगति की लहर दौड़ायी जिसके परिणाम में अनेक उधर आकृष्ट हुये। छायावाद की विश्लिष्ट भावना के प्रभाव में वर्त्तमान बौद्धिक युवक अधिक अपने को खो चुके हैं, किन्तु रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ इतनी गम्भीर और विस्तृत थीं कि साधारण व्यक्ति वहाँ शीघ्र कुछ नहीं पा सकता था।

प्रौढ़ अध्ययन के अतिरिक्त मस्तिष्क की तीव्रता और सच्ची अनुभूति वहाँ अपेक्षित है। विशेषकर अद्वैत भावना गोपन-क्रिया जो कबीर का माध्यम थी, मीरा का अवलम्ब विषय, महादेवी का प्राण-तन्तु, कभी सहज गम्य नहीं है, हृदय की सरसता से इनका अधिक गहरा सम्बन्ध है। मानवीय

परिस्थितियाँ अत्यन्त उलझी हुई हैं, और उस वाद के लाक्षणिक सिद्धान्त या दृष्टान्त ऐसे हैं जो भोज्य पदार्थ के लिये कुछ नहीं स्थिर कर सके हैं। मानवीय भावनायें संकुचित न रहें, इसके लिये उसके प्रयास होते हैं। दार्शनिक उसके अन्तर्भाव अधिक संश्लिष्ट हैं।

ये भाव, मानव-जीवन के अवशिष्ट भावों को व्यक्त करने के गम्भीर प्रयत्न करते हैं। प्रगतिवाद के आधार, रहस्यवाद की भावनाओं की विरोध प्रकृति है, दायरे में उनकी संस्थिति सम्भाव्य है। रस की संजीवनी-शक्ति प्रगतिवाद में स्थान नहीं पा सकती, न वहाँ उसका उपयोग ही सम्भव है। अपने वर्त्तमान आधार पर अधिक देर तक वह नहीं टिक सकता, इसलिए कि अन्य अन्तरंग भाग बाह्य रूपों पर स्थित हैं। जिनका समन्वय इनके साथ असम्भव है। जीवन के विकास-सोपान पर अग्रसर होने का तनिक अवसर नहीं प्राप्त है। इनकी साधारणीकरण अव्यक्त भावों में ही सम्भव है। क्रान्ति को समक्ष रखकर प्रगतिवाद काव्य का निर्माण करेगा तो अन्य आवश्यक दृश्यों का छूट जाना स्वाभाविक है।

एकाङ्गी दृष्टिकोण काव्य के लिए सापेक्ष्य नहीं है। भाव व्यक्तीकरण की जो अभिव्यञ्जना शैली है, उसका भी सर्वथा परित्याग हो जायगा। एक व्यष्टि है जो काव्य का उपेक्षित अंग है, दूसरा समष्टि है, जो काव्य का अनिवार्य या अपेक्षित है, जिसका किसी अवस्था में बहिस्कार हेय है। साधारण उपस्थित दृश्य घटना से प्रभावित होकर लाक्षणिक अभिव्यक्तियों का परित्यागकर भी प्रभावपूर्ण जो शब्द सृष्ट होंगे, उनमें क्षणिकता की माध्यमिक क्रिया मूर्त्त रहेगी।

यह क्षणिकता, वर्ग-विशेष का कदाचित् साथ दे दे, परन्तु महान् बल लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं साध सकती। वर्त्तमान की प्रत्यक्ष भावना उपेक्षित वस्तु-आधार को अपनाने के लिए अवश्य बाध्य करती है। किन्तु वस्तु-आधार की सम्पूर्ण व्यवस्था यथार्थ से प्रभावित हो यह आवश्यक नहीं। जगत् का ऐकिक, निम्न-भाव इस प्रकार के उपकरणों को एकत्र करना चाहता है जो चलती-फिरती घटनाओं का आधार-अर्थ मात्र जानता है। इतर प्रान्त की स्थिति-वैषम्य घटित घटनाओं की आधार-शिला का अर्थ, प्रयासकर भी नहीं जान पाता।

आन्तरिक मनोवैज्ञानिक भाव, बौद्धिक वस्तु आधार को अपना सकते हैं जो प्रगतिवाद के लिए दुर्लभ पदार्थ है। यद्यपि और बिन्दु का केन्द्र

अपने ही को वह मानता है, चूँकि मनोवैज्ञानिक भावगुम्फन में बौद्धिक क्रिया ही जागरूक रहती है और भाव क्रिया को स्वत्व-भाव की प्रेरणा से निजी समझता है। साहित्य की गम्भीर क्रियाशीलता में बौद्धिक धारा का प्रवाहित होना स्वाभाविक है, सस्ते रोमांस में उसकी गति अवरुद्ध-सी प्रतीत होगी। मार्क्स की साहित्यिक प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक इस अर्थ में नहीं कि जड़ भाव को भी उसने बौद्धिक रूप दिया है। और उन वर्गों को अधिकार-ज्ञान दिया जो बुद्धि का सम, साधारण अर्थ भी नहीं जानते थे।

साम्यवाद के सिद्धान्त ने इस ओर सफलता पाली, अतः बौद्धिक या मनोवैज्ञानिक संज्ञा से अपनी क्रिया को अभिहित किया। पर गम्भीर वातावरण का उसमें समावेश न था, अतः उतने मात्र पर सन्तोष करना पड़ा फलतः बौद्धिक दृष्टिकोण भी संकुचित हो गया। अध्ययन की सामग्री न थी, न इस पर बल देकर ही कुछ निर्देश किया। भूमि की सजगता के साथ अध्ययन की प्रौढ़ता बौद्धिक आधार के लिए आवश्यक है। वर्गिक अन्तर-भाव की व्यापकता सिद्ध करने का जहाँ हमें अवसर प्राप्त होगा, वहाँ प्रगति-वाद का बौद्धिक आधार प्रतिकूलता का ही ज्ञान देगा, वास्तविकता और सार्थकता की दृष्टि से उसका मूल्य अल्प भी असम्भव है। जीवन की चेतना, विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचेगी, तब भी अन्वेषण-परिणाम में आगत् समस्त प्रगतिवाद के बौद्धिक आधार पर उसे सन्तोष नहीं हो सकता। चूँकि जीवन और चेतना के आधार स्वतः पूर्व ही से मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक स्तर पर स्थित हैं, किन्तु सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति इतनी गम्भीरता को ग्रहणकर आगे बढ़ती है कि संदिग्ध-भावनायें ही दृष्टि-पथ में आती हैं।

समवेतर प्रभृति-सिद्धान्त का निरूपण वैयक्तिक समागत प्रलोभन के लिए ही नहीं है, बाह्य सामूहिक चित्र स्थितियाँ उस निरूपण में प्रधान बन-कर निश्चित भाव से खड़ी रहती हैं। यहीं पर प्रगतिवाद की उच्चा डोलती है, प्रभाव को अक्षुण्ण रखने के लिए इतर संदर्शनों को जीवन में उड़ेल-कर, और उपेक्षित वर्ग का आश्रय लेकर उन्हीं में प्रविष्ट हो जाता है, यह उसकी पलायन-प्रवृत्ति की सूचना देता है। भाव-विश्लेषण में उसकी अयो-ग्यता प्रमाणित होती है। अभाव एवं आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए ऐसे उपकरण गूँथे गये हैं जिनका विभाव रूप से भी साहित्य के साथ गहरा सम्बन्ध न था।

वास्तविकता और यथार्थता की ओट में कृत्रिमता की व्यापकता प्रच्छन्न रूप से परिव्याप्त थी। समाजवाद के प्रसार या प्रचार के लिए प्रगतिवाद ने

साहित्य को प्रचार-शास्त्र का अवलम्ब विषय मानकर ग्रहण किया है। आत्म-गोपन क्रिया भी प्रबलता से व्याप्त रहती है जो मानव के हृदय तक नहीं पहुँच सकती। किन्तु वाचालता के प्राङ्गण में पलनेवालों का उदघोष है कि कोई भी क्रिया गुप्त नहीं, प्रकट है। श्रेणी अभिव्यक्तियाँ समसिद्धान्त के लिए हैं जो अपने उद्देश्य में सफलीभूत हैं, किन्तु प्रच्छन्नता का, प्रकटता से द्वेष-भाव है। किसी भी उद्देश्य की पूर्त्ति में सम्मिलित साधन बनकर सहयोग देना, उसके लिए दुष्कर है। प्रगतिवाद उस भावना की प्रतिक्रिया है जिसके मूलोच्छेदन के लिए सांस्कृतिक-निधियाँ समक्ष खड़ी हैं। उभचुभ की परिस्थिति विवशतापूर्ण, जिसका दिग्दर्शन कराना अनुचित नहीं है, किन्तु वाद-विशेष के समूलोन्मूलन के विरोध के मैटर पर ध्यान देना आवश्यक है, आखिर किस क्रिया की विक्षुब्धता में समूलोन्मूलन तक के लिए विरोधी प्रस्तुत हो गया, यहाँ तक पहुँचने के लिए किस आघात-व्याघात ने उसे बाध्य किया और क्यों! इसके उत्तर के लिए प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया कुछ नहीं कह सकती।

दैन्य वातावरण निम्न-वर्ग को ऊपर गर्दन उठाने का अवकाश देता है, उसी अवकाश में प्रगतिवाद अपना कुछ साध लेना चाहता है, सब कुछ में परिणत होने के लिए अन्य उपस्थित उपकरणों की ओर, उसकी दृष्टि संकुचित रहती है। वर्ग-भावना को लेकर वह अधिक उग्र और तीव्र है। उत्तेजना जो उमंग और आवेश की घटना विभावना मात्र है, सक्रिय भाग लेती है, वर्ग के समाश्रित अंगों में। पूँजीवाद के स्वार्थ में निवास करनेवाले वर्ग के विरुद्ध इसलिए अधिकार पक्ष को लेकर उत्तेजना से अभिभूत निम्न-वर्ग युद्ध करने के लिए प्रस्तुत रहता है कि उसके स्वायत्त समस्त भावों का वहाँ अपहरण होता है। जो उसे असह्य है।

यह निम्न-वर्ग ही प्रगतिवाद का ठोस आधार है, जिसके पीछे कम्यू-निज्म की भावना की पैठ है जो उसका प्रबल बल है, आधारभूत अंग है। एक और आन्तरिक क्रिया उसके अधिकार में सम्मिलित हो सकती जो किसी भी परिस्थिति में किसी के आगे 'व्यवधान' डालने का नित नया आयोजन करती है। बुद्धि से विशेष सम्पर्क नहीं रखनेवाले इस व्यवधान में उलझ पड़ते हैं। यह उलझना, उनकी अन्तर्मुखी ज्ञान-भावना की सङ्कीर्णता सूचित करता है, अन्यथा इस व्यवधान की उपेक्षाकर अपने मार्ग पर चलने-वाले कभी अपने ध्येय से विचलित नहीं होते। उनकी प्रज्ञा सार्वभौम की चिन्ता आवश्यक समझती है, यद्यपि इस चिन्ता को आँसू का प्रतिकूल रूप

मानकर शिष्ट भावपूर्ण साहित्य अपने में स्थान नहीं देता। किन्तु इस चिन्ता का मानव के ध्येय से अधिक गहरा सम्पर्क है।

इससे पृथक् रहनेवाला मानव शब्द से अभिहित होने का अधिकारी नहीं है। अज्ञेय ने अपनी 'चिन्ता' में संवेदनशील भावनाओं के विश्लेषण में कहा है, चिन्ता, मानव का धर है। और इसका शायद विरोध नहीं हो सकता। वर्ग की परतन्त्रता का ज्ञान कराने के लिए जिन व्यक्तियों को प्रगतिवाद के आधार ने प्रतिनिधि चुना है वे अनुभूतिशून्य (Incapable of feeling) को अपने हृदय में, विचारों में स्थान देते हैं, किन्तु साहित्य की किसी क्रिया में इसका स्थान सम्भव नहीं। जीवन, सत्य और अनुभूति का साहित्य अत्यधिक महत्त्व देता है।

इनसे रहित उपकरणों से निर्मित साहित्य की उपेक्षा होती है; स्थिर-भाव तो उसमें रह ही नहीं सकते। मस्तिष्क, हाँ, केवल मस्तिष्क की क्रिया अनुभूति से पृथक् रहती है, और बुद्धि की उपज वहीं से प्रारम्भ होती है, अतः अनुभव-अध्ययन अपना प्रभावपूर्ण महत्त्व नहीं रखे तो उसकी भी स्थायी संस्थिति सम्भव नहीं।

प्रगतिवाद का बौद्धिक निम्नस्तर पर स्थित आधार, भौतिकवाद का आख्यान है, जिसका प्रत्येक सिद्धान्त निरूपण में वह आवृत्ति करता है। भौतिकवाद का शारीरिक विकृत-रूप त्याज्य है, बौद्धिक नींव पर अवलम्बित होने पर भी, चूँकि विध्वंस की क्रिया ही वहाँ भी अपनी विशिष्टता रखती है। कहने के लिये तो मानवता का प्रचार वहाँ अधिक सम्भव है। चूँकि साम्यवाद अनेक वर्गों का प्रश्न हटाकर व्यक्ति की सत्ता विलुप्तकर, सम्पूर्णता या सामूहिकता से संश्लिष्ट नवीन एक वर्ग की स्थापना करता, जो मानवता को अति प्रिय होता, परन्तु भौतिकवाद का बौद्धिक आधार इतना निर्बल है कि स्वार्थ, हठ और कृत्रिमता से पूर्ण व्यवस्था को ही स्वीकृत करता है, फलतः मानवता को प्रश्रय इसमें नहीं मिलता है।

प्रदर्शन के लिए तो अनेक मार्ग सुव्यवस्थित हैं, और यही कारण है कि अभी तक उनकी जड़ विद्यमान है। जीवन के जीनेवाले प्रश्न को लेकर वे भी उलझे हुये हैं, आच्छादन को उन्होंने भी स्थान दिया है, बुद्धि की ओट में। यथार्थ की भावना बाह्यस्थिति को सँभाले रखती है। इसका अवसर नहीं देती कि वर्ग का कोई भी व्यक्ति उसका विरोध करे। प्रगतिवाद ने भी इसी को आत्मसात किया है, व्यक्ति व्यक्ति का नया वर्ग बनाकर अपने अंगों की पुष्टि करता है। साहित्य द्वारा पर्याप्त प्रचार हो सकता है, अतः उसको अपने

से पृथक् नहीं होने देना चाहता। वह देखता है, इसमें मेरी सबलता सिद्ध होती है। इसके अभाव में मुट्ठी भर का ही समाज हम में स्थान पा सकता है, जो उद्देश्य-सिद्ध में सहायक नहीं ही प्रमाणित होगा। जीवन की मौलिकता के विश्लेषण का जहाँ उसे अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ साहित्य की क्रियायें जागरूक ही हैं, अन्यत्र प्रसुप्तावस्था में निर्लिप्त भाव से कुछ का कुछ करती हैं।

विज्ञान-सदन में निवास करनेवाले समाज के नियमों के निर्माण में भूल करते हैं, वास्तविक ज्ञान के अभाव के कारण। इसीलिए विज्ञान के पथ में भी उनके कार्यस्तुत्य नहीं होते। प्रगतिवाद का विज्ञान, आश्रित अंग है, अपनी सर्जना में इसका भी वह अधिक महत्त्व देता है। परन्तु संवेदनशील अभिव्यक्ति यहाँ हो ही नहीं सकती, यथार्थ मन्तव्य इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते। भौतिकवाद. विज्ञान की महत्ता स्वीकार करता है, इस दृष्टि से प्रगतिवाद, भौतिकवाद का अनुग प्रमाणित हुआ। और अनुगता में अस्वभाविकता है, साहित्य की क्रियायें अपने आप में वहाँ अपूर्ण प्रमाणित होंगी।

विज्ञान, प्रयोगशाला का आविष्कार है, अतः उसीमें उसका निवास सम्भव है, साहित्य के साथ उनके सम्बन्ध का निर्वाह नहीं हो सकता। वर्गान्तर में पलनेवाले मानव विज्ञान की आवश्यकता विलास के लिये समझते हैं, उनका घातक समाज है, जिसकी व्यवस्था मानव की सहृदयता को दूर करने के लिये है। उनका भाव अत्यन्त शिथिल, शून्य है। यद्यपि कर्म की प्रधानता देने के लिये वैज्ञानिक प्रबल उद्योग करने के लिये प्रस्तुत थे, हैं। विज्ञान जीवन की व्यवस्था नहीं बन सकता, किन्तु प्रगतिवाद उसको जीवन के रूप में स्वीकार करता है। अपने आधारों में एक बड़ा आधार विज्ञान को समझता है। उसकी दृष्टि में विज्ञान, कार्य में मानव को सदैव प्रवृत्त रखता है, सत्यं और वास्तविक सत्ता पर उसका ध्यान नहीं रहता। हृदय की सहृदयता मानवता के प्रचार के लिये तभी तक साधन जुटा सकती है जब तक मानव वैज्ञानिक निर्जीवता से दूर होगा, अन्यथा उसे सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

चेतनायुक्त या सजीवता से पूर्ण मानव वैज्ञानिक प्रवृत्तियों को कल-कारखानों में ही सीमित रख सकता है, बाहर आने पर उसका जीवन, अन्य स्वाभाविक सरस भावनाओं से पूर्ण होगा। चूँकि विज्ञान की कोई भी क्रिया-मानव के जीवन से पृथक् है। निर्माण-प्रयोग में मानव अपने जीवन को लगा सकता है, कोई उद्देश्य की रक्षा के लिये, स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर। अन्यथा विवश परिस्थितियों के निवास के कारण रक्षा के हेतु अपने को उसमें अर्पित

कर सकता है, दूसरा मार्ग नहीं पा सकने के कारण। प्राण-रक्षा के लिये उसके सम्मुख अन्य कोई भी साधन नहीं दीखते, अतः वह ऐसा करता है।

व्यर्थ की भावनायें इस ओर मूक रहती हैं। मनोवृत्ति कभी ऐसा करने के लिये आदेश नहीं देती, परन्तु परतन्त्रता की कड़ियाँ निस्तब्ध वातावरण में ही विचरने की जगह देती हैं, अतः चुप के सिवा कुछ करने का मार्ग नहीं प्राप्त होता। रूस के सिद्धान्त को अपना आधार-स्तम्भ स्वीकारकर अनुकूल (Literary or Scientific Society) साहित्यिक या वैज्ञानिक समाज का निर्माण करता है, जो मानव की पूर्णता ढोने में अथम रहता है, उन भावों का गुम्फन उसमें नहीं हो पाता है जो हृदय की अनुभूतियों के प्रकटी करण में साथ देता है। विचलित अवस्थाओं का वर्णन या चित्रण करता है, जिन अभावों का विश्लेषण नहीं होना चाहिये, उसका भी एक प्रकार का अंग मानकर विश्लेषण होता है।

अभाव-भाव की भिन्नता एक ही दिशा का निर्देश नहीं करती। उद्दीप्त-भाव की उग्रता के कारण, उत्तप्त आकांक्षा की पूर्त्ति के साधन का अभाव रहता है, इस अभाव की भी व्यापकता रहती है जिसके लिए साहित्य के साथ अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित कर नारी भाव में कालुष्य का आरोप करते हैं, और विकृत अभावों का उल्लेख होता है जिसकी आवश्यकता मेरे जानते एकदम नहीं थी। निम्नवर्ग की प्रत्येक आकांक्षा अधूरी है जिसकी पूर्त्ति भी वर्त्तमान में अधूरी ही होगी। इसलिए अभावगत परिस्थितियों के दिग्दर्शन में भूल नहीं होनी चाहिये थी। साहित्यिक अंगों को जिस समाज के व्यक्तियों को जाग्रत रखने के लिए निमन्त्रित किया गया है, वे व्यक्ति मौखिक व्याख्यान से प्रथम-काल में विशेष प्रभावित होंगे।

साहित्य का अर्थ-ज्ञान कराने के लिए प्रारम्भ में आवश्यकता न थी। उनके समस्त वातावरण को उन्हीं में दर्शाकर उसके उपयुक्त साहित्य की सर्जना सर्वोपरि स्थान प्राप्त करती, अनन्तर की स्थितियाँ भी अल्प परिणाम में ही सही, सुलझ जातीं तो साहित्य की वास्तविक गम्भीर प्रवृत्तियों का परिचय दिया जाना कल्याणकर होता। भावुकता, उत्तेजना क्षणिक है जो युवक प्रवृत्ति के लिए स्वाभाविक है, किन्तु परिपक्वता आ जाने पर स्वतः उसमें परिवर्त्तन आवश्यक प्रतीत होते हैं, उस समय अतीत एकदम सङ्कीर्णावस्था में दीखता है और उसके समस्त सिद्धान्त एवं लक्षण अव्यावहारिक सिद्ध होते हैं।

किसी भी क्षेत्र के लिए उनकी वृद्धि अहितकर ही प्रमाणित होती है। इसका मुख्य विधेय अनुभूति शून्यता के साथ अन्ध अनुकरण प्रवृत्ति है। अपने समीपवर्त्ती वातावरण का समुचित अध्ययनकर और परिपक्वावस्था में पहुँचकर सृष्टि का प्रारम्भ उचित और प्रभावपूर्ण स्थायी होता है। स्थायी की चिन्ता सदैव होनी चाहिए। उद्देश्य-सिद्धि के लिए धैर्य अपेक्षित है। सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त आत्मिक अभिव्यक्ति का दमन हानिकर है।

धैर्य और विश्वास के साथ अपने को आगे बढ़ाने वाला, जनों की सहानुभूति प्राप्त करता है। नवीनता के कारण और उपेक्षित वर्गों को ही प्रश्रय देने के कारण वर्त्तमान के प्रभाव से प्रभावित साहित्य के प्रथम अमोघ बाण का प्रारम्भ में कार्य करेंगे, किन्तु वृद्धि के आगे तुरत विराम चिह्न उन्हें प्राप्त होगा। परिणाम-स्वरूप भविष्य ऐसे साहित्य पर विश्वास नहीं करेगा। इसकी सर्जनात्मक-शक्ति अवरुद्ध हो जायगी। यहाँ तक साहित्य की कोई भी क्रिया नहीं पहुँचनी चाहिये।

एकाधिपत्य स्थापित करने की भावना पूँजीशाही की प्रवृत्ति है जो अनुचित है। विज्ञान की पूर्णता सिद्ध करने वाला भौतिकवाद भी इसे नहीं मानता। निश्चय है, आत्मबल और आत्म-विश्वास पर दृढ़ रहने वाला ऐसे प्रगतिवादी साहित्य से कदापि लाभ नहीं उठा सकता। विद्रोहात्मक भावना को फैलाने के लिए राजनीति के आच्छादन में साहित्य का निर्माण व्यर्थ, निष्प्रयोजन प्रमाणित होगा। समाज के सिद्धान्त का महत्त्व देने के लिए भी उसकी संस्थिति स्वीकार की गई है। यह उसके पक्ष के लिए कभी हितकर नहीं है। साम्यवाद की बौद्धिक धारा कुछ सीमा तक उसमें प्रभावित हो सकती है।

साहित्य उसकी मान्यतायें बौद्धिक काल से मानता आ रहा है। एक देश की क्रान्ति की सफलता के परिणाम में वर्त्तमान युग मार्ग प्रदर्शन के निमित्त हिन्दी-साहित्य में इस समय विशेष-भावना से प्रभावित होने के कारण साम्यवाद में नहीं स्थान पा सकता, प्रस्तुत भारतीय साहित्य की यह उत्तम आवृत्ति है। प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त के असम को दूर करने को एक सम सिद्धान्त से प्रारम्भ में ही इसकी मूल समस्या हल होने को थी कि विभिन्नता, अविछिन्नता ने ऐसा नहीं होने दिया। मानवता की रक्षा का ही यद्यपि आरम्भ में भ' महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, किन्तु सापेक्ष्य अंगों पर नहीं विचारना, अनुचित समझा जाता था, एक से अभिभूत होना किसी भी अवस्था में इष्ट न था। साम्यवाद को अपना स्थान बनाने के लिए स्वयं प्रयास नहीं करना पड़ा था। हाँ, पृथक

भाव से आन्दोलन के रूप को सबल बनाने के लिए उसका स्वरूप नहीं निश्चित था।

वैदिक-काल के साम्यवाद में पली हुई, भावनायें वर्त्तमान युग के मानव की निश्चिन्त प्रसुप्त चेतनाओं में जागृति और संदीप्ति लाने में, पूर्ण सक्षम हैं। अनुकरण के परिणाम में भारतीय साम्यवाद भी निम्नों के लिए श्रेयस्कर नहीं प्रमाणित हो सकता। उनके सत्य से भी वह अपरिचित है। फिर भी अपने गुप्त भावों में उसके सत्य की अभिव्यक्ति प्रदर्शित करता है। उसके आधार निरवलम्ब, अतः निर्बल हैं। और जिसके आधार पूर्व से ही निर्बल हैं उनकी अनुकृति असंगत है। अब कहने को शेष नहीं रह गया कि प्रगतिवाद के आधार किन मन्तव्यों पर पुरस्कृत हैं और उसकी आधार-भित्ति क्या और कहाँ तक दृढ़ है।

प्रगतिवाद और जीवन-साहित्य

सादृश्य भाव से अभिप्रेत हो लौकिक व्यवहार के साथ संबंध-निर्वाह करने के लिए जीवन की पूर्णता और गंभीरतायुक्त साहित्य की बड़ी प्रतिष्ठा होती है। उसका प्रभाव भी स्थायी होता है। कर्म में व्यापृत जीवन, उत्साह, उमंग, जागृति का केंद्र प्रमाणित होता है। परंतु जीवन को जो कला के साथ संयुक्त रखना चाहते हैं, वे साहित्य की परख नहीं कर सकते। कला का जीवन कभी प्रतिशब्द नहीं बन सकता। उसकी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। कला का सम भाव में उच्च स्तर पर विराम, साहित्य के लाक्षणिक अंगों-उपांगों पर अवलंबित है। मानव-जीवन की प्राण-सजना भी एक कला है। इस दृष्टि से मापने पर दो कलाएँ विभिन्न स्वरूप पर स्थित होंगी।

साहित्य का केवल जीवन-पक्ष सजीव है, कला का प्रतिष्ठान होने पर उसमें निर्जीवता आ जाती है। स्वाभाविक रूप से जीवन की गति प्रवाहित होती चली जाती है और साहित्य की सरलता उसमें मूर्त्त रहे तो कला की प्राणभावना भी उसके साथ सम्मिलित रहेगी, जिसमें स्थायित्व की अधिक संभावना है। कला को प्रथम और मुख्य स्थान देकर जीवन-साहित्य का निर्माण करने वाले गौण भाव से किसी का चित्रण या वर्णन करते हैं। अस्वाभाविकता या कृत्रिमता के परिभाव उसके साथ चलते हैं। कर्म की गति, जीवन को सबल और संतुलित बनाती है। कला का प्रवाह उसे निर्बल और महत्त्वरहित प्रमाणित करता है। मानव-जीवन और उसका कर्ममय सम्मिलित प्रशस्त मार्ग दूसरों के लिए अनुग

प्रमाणित होता है। घटनाओं का सादृश्य न भी दिखाएँ और अभाव का न भी उल्लेख करें तो भी जीवन-साहित्य अपने स्थान पर अविचल खड़ा रहेगा।

यूरोप के दृष्टांतों को समक्ष रखकर अतिरंजित भाव से प्रभावित होकर सिर्फ कला के लिए मरने वाले जीवन के सत्य से बहुत दूर प्रतीत होते हैं। साहित्य के लक्षण में कला को ही जीवन मानना उन्हें इष्ट है, जीवन को कला मानना नहीं। प्रतिकूल भाव को अपनाने के कारण कला में सत्य, साथ ही जीवन में भी सत्य नहीं रहता है। फलतः साहित्य की अभिव्यक्ति भी असत्य और अपूर्ण होती है। शिष्ट पाठक की उसके साथ सहानुभूति नहीं रहती। वैसी अवस्था में सर्वसाधारण का क्या प्रश्न है! प्रगतिवाद का यह कथन मान्य होना चाहिए कि जीवन के आगे कला विशेष महत्त्व नहीं रखती। सर्वप्रथम जीवन की समस्याएँ हल करनी हैं; कला के भाव अंतर्हित हो जाएँगे। यहाँ पर साहित्य की महत्ता तभी स्वीकृत हो सकती है जब जीवन उसमें व्याप्त रहेगा। कला, जीवन के बाद की वस्तु है, पूर्व में उसका कहीं भी स्थान नहीं। विश्रामकाल में कला की स्मृति हमें सजीव करती है, प्रसन्नता या आनन्द की सामग्री बनकर, यद्यपि मानव के लिए आनंद महत्त्व रखता है, तथापि जीवन के कर्त्तव्य के आगे वह नितांत गौण बनकर स्थित रहता है।

कला को ग्रहणकर जीवित रहना कठिन नहीं, असंभव है। सिर्फ कला, जीवन की संकीर्णता व्यक्त करती है। अन्य व्यापृत भाव भी सिमटकर, सीमा में रहते हैं; मानव उनका साथ नहीं दे सकता। अंतर्वृत्ति की सजगता चेतना की स्वाभाविकता पर विश्वास करने के लिए विवश करती है, चूँकि जीवन का वह इतना व्यापक अवलंब-विषय है कि प्रेरणात्मक भाव प्रेरित होकर सच्ची परिस्थितियों को सम्मुख रखने का वह सबल साधन सिद्ध होता है। मानव अपनी गुप्त क्रियाएँ स्वार्थ में अभिभूत नहीं रखे तो कभी उसकी परिस्थितियाँ दयनीय नहीं होंगी। आवश्यकताएँ सीमित होंगी, जिनकी पूर्त्ति के लिए प्रतिकूल समाज की शरण नहीं लेनी होंगी, स्वतः उसके लिए वह सक्षम रहेगा। अभाव की अनुभूति न होगी, इसलिए कि उचित से अधिक उसकी आवश्यकताएँ नहीं हैं। एक मार्ग, एक क्षेत्र पर चलने का वह आदी होगा, बहुज्ञता की उसे चिन्ता नहीं होगी। चेतना सजग रहेगी, जीवन सबल रहेगा, कला अपने गौण भाव में ही महत्त्व रखेगी।

इस प्रकार तीनों के संयोग से मिश्रित साहित्य मानव को उचित दिशा की ओर प्रवाहित करेगी। एक ऐसी निर्देशक्रिया सबके सम्मुख प्रत्यक्ष बनकर

स्थित रहेगी जो कर्त्तव्य-भाव को अपनाने में ही सबका कल्याण बताएगी। साहित्य में जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति सत्य को आवरण में नहीं रखती। कला इसके प्रतिकूल कार्य करती है। प्रत्येक भावना प्रत्येक सत्य को वह एक आवरण में रखने की आदी है। साहित्य के कला-विभाग का यह गुण है। अन्य कलाएँ साहित्य से विभिन्न भाव को अपनाए रहती हैं; अतः इसमें उनकी संस्थिति नहीं हो सकती। कर्मभावना भी उनमें सुप्त रहती है। एकाधार, एक स्वरूप पर साहित्य में स्थित कला, जीवन से कुछ सीमा तक सम्बन्ध स्थापित रख सकती है जिसका अनंतर में महत्त्व होगा।

मैं यह नहीं कहता कि उसकी आवश्यकता ही नहीं है। अनिवार्य भाव से उसकी स्थिति होनी चाहिए, किंतु प्रथम में जीवन की महत्ता स्वीकार करनी होगी। यूरोप की धारणा के अनुसार कला को लेकर अपनी संपूर्णता नहीं सिद्ध की जा सकती। जीवन के आगे कला उनके लिए मुख्य है। यहाँ भी उसकी अनुकृति हुई तो परिणाम में मानव, निष्कर्ष या निर्णय पर पहुँचे बिना, अंधप्रज्ञा को स्थान देकर, किसी अनिश्चित दिशा की ओर चल पड़ेगा। प्रारंभ में वह कला की मुखयता स्वीकारकर उसीमें प्रविष्ट होगा, और जब जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, अभाव बढ़ेंगे तब कला से बाहर आने के लिए व्यग्र-उग्र रहेगा। किंतु संचित शक्ति का कला में ह्रास हो जाने के कारण अब उसकी शक्ति इतना भी शेष नहीं रह जाती जिससे वह जीवन के अन्य अभाव-अंगों की पूर्त्ति में सफल हो सकता है।

प्रगतिवाद का जीवन-साहित्य कला को प्रधानता नहीं देता, यह इस पक्ष के लिए प्रशंसनीय है; किन्तु जीवन-साहित्य का स्तर इतना निम्न है कि उससे सभी लाभ नहीं उठा सकते। सामान्य भूतकाल में विचरने के लिए प्रत्यक्ष परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है, इसको दूरकर हम जीवन-साहित्य का निर्माण नहीं कर सकते। परिस्थिति वाले भाव-पक्ष को नहीं ग्रहण किया जाएगा तो स्वाभाविक साहित्य की सृष्टि नहीं होगी। जीवन के विभिन्न स्वरूप प्रगतिवादी साहित्य में लक्षित होते हैं। उसके आधार से प्रभावित होकर कहा जाता है :—

'कहाँ है जीवन! कहाँ है चिरंतन आत्मा! हड्डियों का संघर्ष जीवन है, हड्डियों में बसा हुआ ताप ही आत्मा है।'*

---

* तारसप्तक पृ० ६१

आत्मा और जीवन, हड्डियों के खँडहर में अपनी अपूर्णता लेकर निवास नहीं कर सकता। संघर्ष, तापों की हलचल में जीवन विचलित अवश्य हुआ है, डावाँडोल अवश्य हुआ है, किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति उसमें संभव नहीं है। दबी हुई, कुचली हुई आत्मा और उसके जीवन विवश और मूढ़ हैं, परंतु साहित्य के अव्यवस्थित रूप में उसे स्थान देना, महत्त्वरहित करना है। आत्मा की अभिव्यक्ति, उसकी चेतना में है, और वह चेतना, जीवन का स्वरूप निर्दिष्ट करती है!

ऐसी स्थिति में उन्हें सस्ते रोमांस या सस्ती भावुकता में बाँधना अनुचित है। जीवन की चेतना, आत्मा के चरम में निवास करती है, जहाँ कर्त्तव्य और भावना का बंधन है। मुक्तछंदों की गति में, उसकी लय, उसकी धुन असम्भव है। दोनों ऐसे गीत हैं जो परंपरा में निवास करते हैं। और यह सर्वविदित है, प्रगतिवाद को परंपरा अप्रिय है। पूर्व-निश्चित अवयवों में चेतना से संबंधित जीवन और आत्मा का भाव-गुंफन औचित्यपूर्ण है, उसका विरोध अनुचित है। निम्न-वर्ग की दयनीय परिस्थिति की उलझन में साहित्य के रूप को विकृत करना, वह भी जीवन और आत्मा को लेकर, उसके साथ द्रोह करना है। परंपरा की विकृति नहीं अपनानी चाहिए, किंतु जो परंपरा अनुकरणीय है, उसके भी ज्ञान से वंचित रहना, अपनी अयोग्यता को प्रच्छन्न रखना है। जीवन-साहित्य का तब तक स्वाभाविक और सत्य चित्रण असंभव है, जब तक परंपरा के वर्णनात्मक जीवन-साहित्य का हम अध्ययन न कर लें। प्रगतिवादी नव-साहित्य निर्णायक उसका परित्यागकर अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सफलता शायद ही प्राप्त करे :—

'नवसंतति के कवि तब तक हिंदी-कविता को नवीन प्रगति नहीं दे सकेंगे, जब तक उन्हें पूर्ववर्त्ती काव्य-साहित्य का, अपनी परंपरा का ज्ञान न होगा।*

आत्मविस्मृत अवस्था में वे अपनी इच्छानुसार जिस साहित्य की सर्जना कर लें। सामाजिक जीवन-यापन करने वाले साम्यवाद नवीन विपर्य्ययों पर पर्याप्त ध्यान देकर स्वयं अपने अनुभव के आधार पर साहित्य का निर्माण करें, तो उसका विलक्षण प्रभाव पड़ सकता है। प्रगतिवाद, जनमत या जन-सहानुभूति की विशिष्टता मानकर अग्रसर होना चाहता है, किन्तु किस जनमत, किस जन सहानुभूति का वह इच्छुक है जो मूढ़ता और अज्ञा-

---

*'आरती' जुलाई-सितंबर १९४१

नता की परिधि में मड़राता है बौद्धिक आधार तक जिसकी पहुँच एकदम नहीं है। वर्त्तमान आंदोलन के परिणाम में भविष्य में उसका बौद्धिक आधार निश्चित हो जाए, यह प्रसंगेतर विषय-चर्चा होगी।

मूढ़ता को दूर करने के लिए सर्वप्रथम राजनीति के आश्रित हो आंदोलन करना चाहिए, इस दिशा की ओर कोई भी प्रयास प्रशंसनीय होगा। रूस की नकल करने के पूर्व उसकी और अपनी परिस्थिति पर एक बार आरंभ से अंत तक दृष्टि दौड़ा लेना आवश्यक है। वहाँ की प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक वातावरण, यहाँ से भिन्न प्रतीत होगा। यदि उसके सिद्धांत, अपने अनुकूल प्रमाणित हों तो उदार भाव से ग्रहण किए जा सकते हैं। किन्तु वहाँ का जीवन-साहित्य सबल है, इसलिए कि किसी की नकल पर अवलंबित नहीं है। जो कुछ है, उसका स्वयं का है. उधार या नकल नहीं है। चेखफ़ मोपासाँ, गोर्की, टाल्सटाय, रूसो और वोल्टेयर के साहित्य में जीवन व्यापक सत्य और महत्त्व पर स्थित है। यद्यपि ये सर्जक विभिन्न स्थलों की परिस्थितियों से प्रभावित हैं, फिर भी इनके जीवन-साहित्य-स्वरूप स्वतंत्र और स्वाभाविक हैं। भारतीय समस्या का एकांगी अध्ययनकर प्रगतिवाद के सर्जक अपने-आपमें ही अभी अपूर्ण हैं, फिर वाह्य वातावरण की पूर्णता की कैसे सम्भावना की जा सकती है! एक पक्ष, एक भाग का ग्राही, सम्पूर्ण पक्ष, सम्पूर्ण भाग का विश्लेषण करने का अधिकारी नहीं है। समाजवादी, साम्यवादी, छायावादी रहस्यवादी और प्रगतिवादी जीवन की अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुकूल मान्यताएँ नहीं हैं। सबका एकीकरण, एक व्यक्ति नहीं कर सकता। प्रत्येक के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि हैं, जो विशिष्ट महत्त्व को लेकर हैं।

प्रगतिवाद वर्ग के जीवन को महत्ता देता है, समूह की नहीं; भविष्य में समूह की ही प्रबलता लेकर आत्म-विकास करना चाहता है जो एक आरोप मात्र है, जिसमें असत्य की स्पष्टता अभिव्यक्त होती है। परंतु उपकरण की नवीनता के कारण किसी का उधर ध्यान नहीं गया है; स्वतः बिना कारण ही जब उसकी निर्बलता प्रकट होगी, तब उसमें प्रविष्ट व्यक्ति उससे भी अधिक नवीनता की खोज में निकलेंगे। इस प्रकार वर्त्तमान प्रगतिवादी-साहित्य से अभिप्रेत व्यक्ति नवीनता का प्यासा हो मृगमरीचिका में भटकता फिरेगा, फिर भी अंत में बिना निष्कर्ष पर पहुँचे ही विलुप्त हो जायगा। जीवन का कोई भी भाग उसका पूर्ण नहीं हो सकता। एक मंतव्य पर जीवन को मापने वाला प्रगतिवाद अधूरी सत्ता; अधूरी नींव पर अवलंबित है, परंतु राजनीति का

उसे बल प्राप्त है, अत: टिक सकने की क्षमता भी उसमें है। यद्यपि टिक नहीं सकता क्योंकि उसे राजनीति का बाह्य बल ही प्राप्त है अंतर के बौद्धिक भाग से भी वह अनभिज्ञ है, फिर भी वह क्षमता स्थापित्व नहीं ला सकती।

बँगला के साहित्य में भी वही आवर्त्तन विवर्त्तन हो रहा है। विशेषतः विनय घोष, बुद्ध देव बोस ने साहित्य के विश्लेषण में जीवन के रूप को इसी दृष्टिकोण से देखा है। उनके भी आधार भौतिकवाद पर ही निर्भर हैं। बल्कि उनके पूर्व के यतीन्द्रनाथ बागची ने जीवन से परिव्याप्त साहित्य के, भारतीयता के अनुकूल लक्षण स्थिर किए हैं। माइकेल मधुसूदन दत्त का युग ने साथ नहीं दिया, अन्यथा बँगला का वह आदि वाल्मीकि अपने साहित्य के मंतव्य को प्रत्येक के जीवन के साथ साम्य स्थापित करता। निबंधों, काव्यों की अभिव्यक्ति में प्रत्येक वर्ग के जीवन का उसने मौलिक विश्लेषण किया है।

प्रगतिवाद के पूर्वोक्त बंगीय समर्थक अपने से बाहर की भावनाओं, परिस्थितियों से भी प्रभावित हैं। अन्यथा उनकी मान्यताएँ भारतीयता से अनुप्राणित होतीं। आंदोलन की तीव्र भावना उत्तेजक है, किंतु जीवन का कटु सत्य नहीं वर्त्तमान है। वेदना को मूर्त्त भावना के लिए उनके यहाँ भी कोई स्थान नहीं है। निम्न-वर्ग की विवशता से सहानुभूति अवश्य है, पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद करने की प्रेरणाएँ दी गई हैं, किंतु वस्तुस्थिति से भी बहुत दूर हैं। गुजराती कलाकार कन्हैयालाल माणिक-लाल मुंशी ने अपने साहित्य के धरातल को यद्यपि बहुत उच्च रखा है, फिर भी दुर्बल-सबल वर्ग के उपयुक्त सर्वथा उचित साहित्य का निर्माण किया है। जिसमें जीवन की मूर्त्त भावना सर्वत्र प्रकट है। 'लोपा-मुद्रा' के स्थल ऐतिहासिक हैं। किंतु भावनाएँ वर्त्तमान युग की परिस्थितियों से अवगत हैं। वाद-विशेष में उनकी गणना नहीं हो सकती किंतु जीवन के सूक्ष्म सत्य की क्रिया सर्वत्र अभिव्यक्त है। वह प्रगतिवादी व्यक्ति के लिए हेय हो सकती है, किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से उसका मूल्य अल्प नहीं है। मनोवैज्ञानिक जीवन का महत्त्व अधिक दिया जाता है, पर यह आश्चर्य है कि उसके उपकरण मनोवैज्ञानिकता से सर्वथा पृथक रहते हैं। इतना समर्थ मानव नहीं हो सका है कि इतर विषयों का भी समावेश अपने में कर ले।

साम्यवाद के सिद्धांत के परिणाम-स्वरूप प्रगतिवाद, बौद्धिक आधार-भित्ति पर अवलंबित होकर मनोविज्ञान पर बल देने लगा है। किंतु मनो-विज्ञान का प्रत्येक निष्कर्ष तर्क पर आधारभूत है, इसे वह विस्मृत कर देता है।

और तर्क का दूसरा नाम असत्य है, इसे बौद्धिक क्रिया ने भी सिद्ध किया है। केवल तर्क पर लोहा को काठ और काठ को लोहा सिद्ध किया जा सकता है। और मूढ़ वर्ग उसी पर स्थिर होने में अपना हित देखेगा। अतः मनोविज्ञान और बुद्धि का दुरुपयोग अनुचित है। आत्म-निश्चित भावनाएँ ही अध्ययन की प्रौढ़ता द्वारा एक दिन दूसरे के योग्य बना देंगी, जब मानव मनोविज्ञान या बुद्धि की यथार्थता का सहज ही में परिचय प्राप्त कर लेगा। सबके मूल में समाजवाद की स्थापना की भावना प्रच्छन्न या प्रकट रूप से व्याप्त रहती तो सीमा तक उसके प्रयास मान्य होते, परंतु आवरण या कृत्रिमता में भी अहं की भावना और साथ ही महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अत्यंत लोभ वास्तविक ठोस और सत्य कार्य करने का अवसर नहीं देता।

जीवन को वह अनेक तुलाओं पर तौलता है : घटाव-बढ़ाव, अल्प-अधिक किसी पर बिना सोचे और विचारे निर्णय के रूप में बहुत कुछ कह देता है। यह कह देने की प्रवृत्ति निंदनोय है, घृण्य है। जीवन इतना सस्ता और महत्त्वरहित नहीं है कि स्वतंत्र भाव से उसका स्वरूप निश्चित किया जाना संभव है। यों आंदोलन और प्रचार की पुष्टता में उसका उपयोग-दुरुपयोग भी स्वतंत्र रूप से हो सकता है। परंतु जीवन को इतना संकीर्ण और विकृत रखना या बनाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। वर्त्तमान युग में जीवन को खाने से ही अधिक संबंध है। इसके बिना उसकी उन्नति संभव नहीं, यह भी मान्य है। किंतु इसी एक दायरे के लिए उसे संचित रखने की आवश्यकता सिद्ध करना कहाँ तक श्लाघ्य हो सकता है। जीवन को इसी एक खाने के साधन जुटाने मात्र के लिए समझें तो मानव का कर्त्तव्य भी पूरा नहीं हो सकता। खाना एक ऐसी समस्या है जिसके हल से इतना अवकाश भी नहीं है कि कर्त्तव्य की रूप-रेखा स्थिर करने की कोई चिंता करे। आंदोलन इसलिए करो कि खाना मिले, अधिकार इसलिए माँगो कि खाना मिले। उद्योग-धंधे इसलिए करो कि खाना मिले, व्यवहार युग के अनुकूल बनाओ, प्रयोग अधिक करो इसलिए कि खाना मिले।

इस प्रकार खाने से ही पूर्ण जीवन किस काम का है। स्वार्थ और विकृत भावों की उपज के परिणाम में कर्ममय जीवन को खाना या रोटी में बाँध दिया गया है। स्पष्ट है, यूरोप के सिद्धान्त का प्रभाव दम लेकर बोलता है। खाने के लिए हम जीते हैं परंतु भारतीय संस्कृतिक भावनाओं की उक्ति है, जीने के लिए हम खाते हैं, एक इस पर आश्रित होकर चलना, दूसरा माया के आवरण में जीवन को रखना, ये दो प्रवृत्तियाँ मानवता के

पथ के लिए नहीं हैं। मानव इनसे अच्छादित रहेगा तो राष्ट्रीय शक्ति निर्बल रहेगी, स्वतंत्रता की कोई कीमत नहीं रहेगी; सदियों से आती हुई विचारधारा में प्रवाहित होना आनंदप्रद प्रतीत होगा। परतंत्रता भार-स्वरूप नहीं प्रतीत होगी। राष्ट्र की हितचिंतना से दूर मानव रहेंगे, मरेंगे, जनमेंगे बस, इन दो के अतिरिक्त उनकी कोई सिद्धि नहीं हो सकती। और साहित्य की इसीलिए सर्जना नहीं हुई कि वह मानवता का विध्वंस कर सिर्फ उद्देश्यरहित निर्णय तक पहुँचाने मात्र के लिए वातावरण उपस्थित करे।

इससे अधिक बहुत अधिक के लिए उसे कार्य करने हैं, उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। उसमें भी जीवन-भाग की महत्ता विश्व में सिद्ध है। स्वच्छ, सत्य और उद्देश्यपूर्ण जीवन ही तो अमानुषिकता को दूर करने में सफल होता है। उसीकी क्रियायें स्तुत्य हैं। जीवन की अगाधता और विविधता ही तो मनुष्य को सत्य भावनाओं में आलोड़ित और विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है। भोजन में ही सीमित जीवन के आगे उचित, अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार-प्रश्न नहीं उठता। क्रूरता-हिंसा, स्वार्थ, दम्भ, वाचालता, ईर्ष्या, द्वेष की भावना में भोजन मात्र के लिए ही निर्मित जीवन, साहित्य के किसी भाग में हित-पथ के निमित्त स्वीकृत नहीं हो सकता। अन्यथा पशु और मानव-जीवन की पृथकता व्यर्थ सिद्ध होगी। दोनों को साम्य भावना रहेगी, कोई अन्तर, कोई वैषम्य नहीं रहेगा। ऐसा ही इष्ट है तो मानवता के प्रचार का उद्देश्य व्यर्थ और निष्फल है। प्रगतिवाद की समस्त जीवन-सम्बन्धी रचनायें खाने के चूल्हे में जल जायं, वही अच्छा होगा।

खाने के अतिरिक्त अर्थ की उपयोगिता में भी जीवन का प्रतिष्ठान हो रहा है, इन्हें प्रश्रय न दिया जाय, यह कहने का मेरा अभिप्राय नहीं है, साहित्य के ये भी अङ्ग हैं, अतः इन्हें भी स्थान प्राप्त हो, किन्तु इन्हीं में उलझा देना, उलझ पड़ना साहित्य की प्रगति को रोकना है। विकास में ये पूर्ण रोड़ा सिद्ध होंगे, जिसका परिणाम भविष्य के जनों पर बुरा पड़ेगा।

सुलझे हुये जीवन की अभिव्यक्ति सबके लिए कल्याणकर सिद्ध होती है। उस ओर की विमुखता साहित्य के रूप को बिगाड़ने के सिवा कुछ नहीं करती। मानव, प्रगतिवाद का निर्मायक मानव, अपनी बुद्धि का अपव्यय न करे, उसकी सार्थकता उसीके सिद्धान्त में निहित है। राष्ट्र में अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान रखना चाहता है तो उसके अनुरूप अपनी पृष्ठिभूमि का, अपना बैकग्राउण्ड प्रस्तुत कर ले, साहित्य और राजनीति में सम्मिलित भाग लेकर

वह किसी में प्रविष्ट होने की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता, न इसका वह अधिकारी ही है। ऊँची स्तर पर स्थिर रहने वाले जीवन के भाव भी गुम्फित होने चाहिये, किन्तु प्रगतिवाद के पास इसके उपकरण नहीं हैं, यदि अपनी आधार-भूमि वह दृढ़ करना चाहता है, तो अहं की भावना से निकलकर उदार भाव से सबके उचित को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का आश्रय ले और काव्य की लाक्षणिक-प्रवृत्तियों का अनुकरणकर जीवन के सत्य से पूर्ण साहित्य की सर्जना करे।

स्वच्छतायुक्त औद्धत्व या उद्दण्डता की प्रवृत्ति का परित्याग करे। प्रारम्भ की जिज्ञासु भावना अधिक तीव्र होने के कारण उसके मन्तव्यों पर विश्वास किया जा सकता था, विशेषतः जीवन की रक्षा वाले भाव को देखकर। परन्तु प्रतिकूलता की प्रतिक्रिया ने शिष्ट पाठक में, उसके प्रति घृणा के भाव भर दिये। उत्साह के साथ उसका सहयोग दिया जा सकता था जिससे उसकी जड़ मजबूत हो सकती थी, किन्तु मानव के ऐसे महत्त्वपूर्ण प्राणअंग, जीवन ही को डाँवाडोल परिस्थिति में उसने ला छोड़ा, जिसके परिणाम में एक बिलगाँव-सा हो गया। कल्पना पर यथार्थ की कूँची नहीं फेरी जा सकती, किन्तु विचार में दृढ़ता और सत्यता नहीं रहती, हृदय की सहानुभूति से दूर कार्य-भाव ही व्याप्त रहते हैं, अतः यथार्थ के नाम पर कल्पना में सजीवता लायी जाती है, जो निर्जीव ही सिद्ध होती है।

शिष्ट; उच्च वर्गों की सामन्तशाही प्रवृत्ति स्वार्थपूर्ण रहती है, अतः अधिकार-याचना को सदैव दबा देना चाहती है; कल्पना को इसलिए सत्य में सम-स्थान प्राप्त होता है। केन्द्रीभूत उपकरण-भाव में कल्पना पर दृढ़ रहने वाले साहित्य की सृष्टि होती है। सत्य पर आश्रित यथार्थ भावना, जीवन की कल्पना में नहीं समाविष्ट हो सकती। इसके प्रतिकूल, प्रतिफलन का यह अर्थ हुआ कि यथार्थ का सत्य-स्वरूप अनिश्चित होने की वजह वह ऐसा हुआ। अन्यथा काल्पनिक जीवन-साहित्य की अभिव्यक्ति निष्प्रयोजन व्यर्थ प्रमाणित होती, विकास होने पर वही हुआ भी इस जीवन-साहित्य का सर्वथा विनाश हो गया। छायावाद के प्रवाह में कल्पना को विशेष महत्ता नहीं, अतः उसका जीवन-साहित्य काल्पनिक हुआ, जो अविश्वास भाव से अधिक देर तक नहीं रुक सका।

प्रगतिवाद के साहित्यिकों ने अपेक्षित अंशों में भी कहीं-कहीं काल्पनिक जीवन की ही सर्जना में सहयोग दिया है। निम्नवर्ग की अपनी सबलता का ज्ञान कराने के समय उसके औद्योगिक जीवन पर भी ध्यान दिलाता है, जो

अभावों आवश्यकताओं से घिरा है। समाजवाद को सबल बनाने के समय नहीं, अभावपूर्ण जीवन इस भाव पर विश्लिष्ट होता है, जो विज्ञ को स्पष्ट बताता है, कल्पना का प्रच्छन्न भाव अपनाया गया है। प्रगतिवाद की यह क्रिया, कभी ही उसकी निर्बलता सूचित करता है।

कर्म में यथार्थता प्रदर्शितकर उसीको कल्पना में बाँधने की प्रवृत्ति भविष्य के मार्ग को अवरुद्ध करने के लिए है। जीवन के विकास के निमित्त उन प्रवृत्तियों का आश्रय लेना अनावश्यक है जो उसके स्वरूप में निश्चयता नहीं ला सकतीं। कल्पना में अविश्वास की भावना है, जिसका आश्रय अनुचित है। यद्यपि साहित्य में विशेषकर उपमा-उपमेय के स्थल में उपन्यास-गल्प की घटना-चक्र में उसकी नितान्त आवश्यकता है फिर भी जीवन के साथ उसका निर्वाह कठिन है, चूँकि जीवन, एक सत्य आधार-वस्तु है; और कल्पना असत्य का उद्दीपन भाव है, अतः उसका सामञ्जस्य इसके साथ नहीं हो सकता, यह कोई नवीन उक्ति नहीं है, दिङ्नाग-काल के साहित्यिक लाक्षणिक-प्रवृत्ति की यह घोषणा है। इसके पूर्व भी यह निश्चय हुआ होगा, आनन्द-उपकरणों में कल्पना आ सकती है, परन्तु सत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

विचार की अधिकता में कल्पना एक विशिष्ट किन्तु अन्तर्भूत अङ्ग हो गई है, अक्षय कोष लुटाने के समय मस्तिष्क की सारी शक्ति का व्यय हो जाता है, उस परिस्थिति में अपनी रक्षा करने के लिये काल्पनिक जगत का प्रश्रय लिया जाता है। प्रगतिवाद की बौद्धिक शक्ति सङ्कीर्ण है, फिर किस बल पर सिर्फ यथार्थ और सत्य पर वह अवलम्बित रह सकता है। दृश्य घटनाओं से पूर्ण प्रभावित है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, परन्तु प्रत्येक दृश्य घटनायें अपना विशिष्ट महत्व रखें, यह भी तो आवश्यक नहीं है। उसके जो वर्ग-आधारभूत हैं, उनका कोई भी भाग सत्य और यथार्थ रह सकता है। अधिकार प्राप्ति के अनन्तर अस्त्रों को समाजवाद के शत्रुओं के विनाश के लिए उत्पत्ति करने के निमित्त जो उत्तेजक भावनायें सबमें प्रविष्ट करायी गईं, वे सब विद्यमान थीं, जिसका आश्रय लेकर उन्हें प्रत्यक्षता या वस्तु-स्थिति कराया गया।

साम्यवाद की भावनाओं में भी कहीं-कहीं कल्पना को प्रश्रय दिया गया है, किंतु वहाँ वह बौद्धिक ही है जिसे सभी नहीं लख सकते। विश्वास और सहानुभूति प्राप्त करने वाला कोई भी वाद जो भी जनता के समक्ष स्पष्ट सिद्धान्त, दृष्टान्त रखे, उसे सफलता प्राप्त होकर रहेगी। कल्पना की

अभिगति भी ऐसी सी होती है। अवसर या समय आने पर भी ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि मानव उसमें सत्य ही सत्य पूर्ण देखता है। जन को आत्मसात करने लिए सत्य भाव की स्थापना अनिवार्य है, और पूर्ण विश्वास से लक्ष्य उठाकर प्रवञ्चना-शक्ति के द्वारा कल्पना में भी सत्य का प्रतिष्ठान प्रदर्शित किया जाता है, तब सर्वसाधारण को कोई ऐसा कारण नहीं अभिज्ञात होता, जिसके परिणाम में वह उसकी क्रियाओं में अविश्वास कर सके, और असत्य की झलक प्राप्त कर सके। यही कारण है कि प्रगतिवाद का काल्पनिक आधार सत्य में नहीं परिणत होता। उस पर अटल रहने वाले दृढ़ विश्वास करते हैं; किसी आरगूमेण्ट, किसी तर्क को उसके प्रतिकूल सुनने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। सम्पूर्ण निष्कर्ष है कि प्रगतिवाद का जीवन-साहित्य अपूर्ण, अदृढ़ है।

प्रगतिवाद और राजनीति

साहित्य का राजनीति से संबन्ध-पूर्णता के दृष्टिकोण से गहरा है, पर साथ ही यह भी सत्य है, उसमें यह बाँधा नहीं जा सकता। राजनीति का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है उसके उपकरण मात्र ही जुटाने का इसे अधिकार प्राप्त है, जिसके लिए वह राष्ट्रीय भावनाओं को अपनाता है। स्वतन्त्रता प्राप्त के लिए राजनीतिक आन्दोलन अपने में पूर्ण है किन्तु साहित्य उसके लिए कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है। उसकी व्यापक भावनायें हैं, स्वतन्त्रता का उनमें अत्यन्त अधिक महत्त्व है। किन्तु राजनीति के आगे हृदय का प्रश्न नहीं उठता, देश की वर्त्तमान, विद्यमान बोझिल समस्याओं के हल का प्रश्न उसके सम्मुख है विशेष रूप से, प्रबल रूप से।

हृदय की अनुभूति, आनन्द, रस से जैसे उसका एकदम नहीं, कोई नहीं सम्बन्ध है, परन्तु साहित्य के ये मूर्त्त और प्रधान भावपूर्ण विशिष्ट अंग हैं जिनकी वह किसी भी परिस्थिति में अवहेलना नहीं कर सकता। और विज्ञान विज्ञान के वर्त्तमान युग ने ऐसी परिस्थिति उपस्थित कर दी है, जिससे प्रभावित होकर अपने को राजनीतिज्ञ घोषित करने वालों ने साहित्य को राजनीति में सम्पूर्ण प्रविष्ट आधार वस्तु मानने के लिये प्रेरित किया है। और भौतिकवाद की सत्ता स्वीकारकर, वातावरण के अनुकूल ले चलने के लिए कुछ लोगों ने साहित्य को राजनीति के बन्धन में बाँधने का अनुचित प्रयास भी किया है। परन्तु राजनीतिक निष्कर्ष या निर्णय ने साहित्य को पृथक् रहने, रखने का ही प्रयास किया।

सत्य भाव और आस्था का परित्याग कर दिया जाय तब भी कहना या स्वीकार करना होगा, अतीत की राष्ट्रीय परिस्थितियाँ राजनीति से पूर्ण थीं। कोई भी सत्ता तभी अपना प्रभाव जमा पाती थी, जब उसकी जड़ में राजनीति की पैठ होती थी। धर्म या स्वार्थ किसी भी युद्ध को समक्ष रखा जाय, स्पष्ट प्रतीत होगा, उस समय की राजनीति ठोस और पूर्ण थी। उसकी शक्ति अक्षुण्ण नहीं थी। उसका क्षय असम्भव था। चाणक्य को राजनीति में इतना बल था कि उसके आगे शत्रुओं की कोई भी शक्ति व्यर्थ सिद्ध हुई। व्यापारिक चातुर्य में सफलता प्राप्त करने के निमित्त चाणक्य की नीति का प्रश्रय लेना अनिवार्य है।

'किरातार्जुनीय' श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है, किन्तु राजनीति की सर्वसाधक शक्ति की समस्त क्रियायें उसमें वर्त्तमान हैं। एक-दूसरे के शत्रु का किस प्रकार भेद-भाव या आन्तरिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है, इन सबकी सुन्दर व्यवस्था उसमें प्राप्त होगी। किन्तु काव्य के अन्तर्गत ही। राजनीति की समस्त क्रिया, कार्यशील भावनायें हिताहित की सामग्रियाँ एकत्रित कर गयीं। किन्तु साहित्य के विशिष्ट अंगों का मूल उच्छेदन कर नहीं। उन अंगों की सर्वत्र प्रभावपूर्ण व्याप्ति रही। साहित्य के आधार को न ग्रहणकर यदि राजनीति मात्र का विश्लेषण हुआ होता तो निश्चय ही स्थायी या कार्य-प्रयोग के उपयुक्त किरातार्जुनीय नहीं प्रमाणित होता।

'भारवी' की विलक्षण बौद्धिक क्रियायों ने साहित्य के साथ राजनीति का अच्छा सामञ्जस्य प्रदर्शित किया। टाल्सटाय की साहित्यिक सृष्टियाँ क्रान्ति से अभिभूत थीं, किन्तु राजनीतिक प्रतिष्ठान के लिए उसने साहित्य के आच्छादित सन्दर्भों का परित्याग नहीं किया। वे अपनी जगह पर ज्यों के त्यों स्थित रहे। अन्य राजनीतिक आधार भी साहित्य में ही सम्मिलित हैं, किन्तु यह कहीं भी आप नहीं पा सकते कि राजनीति की गुणग्राहकता में साहित्य अपनी सारी शक्तियाँ अर्पित कर रहा है। राजनीति की विभिन्नता या विच्छिन्नता, इस दृष्टि से आवश्यक भी है कि व्यक्ति की ऐहिक आकांक्षा का प्रश्न वह नहीं उठा सकती।

मस्तिष्क की समूल चेतना उसका साथ नहीं दे सकती, बुद्धि का सक्रिय उद्योग साहित्य में ही सन्निविष्ट है। व्यक्ति का विश्लेषणकर, उसके मन्तव्यों, अधिकारों की सापेक्षता-निरपेक्षा सिद्ध करने का साहित्य को ही अधिकार या शक्ति प्राप्त है। समूह की अभिव्यक्तियाँ भी उसीके द्वारा हो सकती हैं। व्यक्ति और समूह का उत्तोलन राजनीति से न्यायपूर्वक नहीं हो सकता।

यद्यपि प्रतिनिधित्व करने का अधिकार उसीको दिया गया है। परन्तु अवसर आने पर साहित्य उस अधिकार की उपेक्षा भी कर सकता है। राजनीतिक शक्ति उसका मरकर भी विरोध करने में अक्षम होगी। चूँकि ऐसे स्थल में साहित्यिक क्रियायें बड़ी सबल सिद्ध होती हैं।

हृदय की सरसता राजनीतिक की शुष्कता के साथ नहीं चल सकती। और ठीक उसके विपरीत वर्त्तमान भारतीय भू-भाग के व्यक्ति हिन्दी-साहित्य को राजनीति में स्थान ढूँढ़ने के लिए विवश कर रहे हैं। परन्तु मूल की सजग भावना विस्मृत नहीं हो सकती कि साहित्य अपने लिए हठ पर दृढ़ होकर स्थान नहीं ढूँढ़ता। यदि ऐसा हुआ तो उसकी निर्बलता सिद्ध हुई। जीवन को लेकर साहित्य विद्यमान है तो उसका स्थान कहीं भी सुरक्षित है।

आज के प्रगतिवाद के विश्लेषण के आधार, और मूल परिणति, राजनीति में निहित हैं। साहित्य के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों की व्याख्या वह अनावश्यक समझता है। परन्तु उसके सर्जक को कैसा भी वातावरण उपस्थित करने के पूर्व इसकी आवृत्ति कर लेनी चाहिये कि राजनीति एक अंग मात्र है, और साहित्यपूर्ण नहीं, सम्पूर्ण है। राजनीतिक अंग महत्त्वपूर्ण है, किन्तु साहित्य के अन्य अंगों को ढोने में सर्वथा असमर्थ एवं अपूर्ण है। जीवन की सत्य आख्यायिका का विकास साहित्य के मार्गों द्वारा सम्भव है, और राजनीति, जीवन के सक्षम उपकरणों को न एकत्र कर सकती है, न वैसा शिव वातावरण ही उपस्थित कर सकती है।

'फ्रायड' की विवेचनाओं के आधार पर मनुष्य अपने मस्तिष्क का विकास देखना चाहता है; उसके इस सिद्धान्त का वह अधिक पोषक है कि समस्त विश्व एक सेक्स है; यह सेक्स जिज्ञासु की प्रवृत्ति को उद्दीप्त रखता है जिसमें विलासिता की पुष्टि निहित है। युवक प्रवृत्ति इससे अधिक प्रभावित है। एक आधार, एक सुनिश्चित मार्ग पर चलने में वह अथक है, चूँकि उसे आधार स्थिर करने एवं मार्ग सुनिश्चित करने आता नहीं, सिर्फ मस्तिष्क पर ही अवलम्बित होकर अग्रसर होता तो भी सीमा तक उसके उद्देश्य में पूर्त्ति सम्भव थी; किन्तु अनेक जड़ व वादों में पड़कर शक्ति खोता है, विवशता है, खोनी ही पड़ती है; और जड़वाद मस्तिष्क को साथ लेकर बढ़ने देने का अवसर नहीं देता, फलतः बुद्धिवादी होता हुआ भी वह निर्बल बुद्धि वाला ही प्रमाणित होता है।

बुद्धिवादी न 'हीक्सले' वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आरूढ़ हो सकता है, न फ्रायड के सेक्स पर अवलम्बित हो सकता है। यद्यपि बुद्धिवादी इनके मतों,

सिद्धान्तों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन करने का अधिकारी है, किन्तु मूल में ही पढ़ने के उपरान्त के निष्कर्ष पर सोच लेना चाहिये। अन्य मानवीय आवश्यक उपकरणों पर दृष्टि डालने के पश्चात् उनके आधीन विषयों का अध्ययन करना चाहिये। सर्व दिशाओं की अज्ञानता में ही उसे यह कहना होगा। वैसी दशा में कुछ सुनिश्चित करने में अक्षमता ही रहेगी। उन दोनों की मान्यताओं से प्रभावित होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि उनकी ओर अग्रसर होने में मस्तिष्क की शक्ति व्यय करने की आवश्यकता नहीं होती है। सस्ती भावुकता उस ओर बढ़ने में अधिक प्रेरणा देती है। फलतः वास्तविकता से दूर हो विराम-स्थल पर वे पहुँचते हैं।

वैसी स्थिति में राजनीतिक भावनाओं को अपने में स्थान देंगे तो उसके प्रति कोई समझ की अच्छी दृष्टि या आस्था नहीं रहेगी। और वर्त्तमान जगत् के युवक उपर्युक्त व्यक्तियों से अधिक प्रभावित की अवस्था में ही राज-नीति को प्रश्रय देते हैं या अध्ययन का विषय बनाते हैं। राजनीति का महत्त्व अस्वीकार करने के लिए साहित्य आग्रह या निषेध नहीं करता, राजनीतिक अधिष्ठाता या उसका सम्मानित व्यक्ति उसके लिए श्रद्धा या आस्था का पात्र है।

किसी भी दशा में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दुःख-दीनता, दारिद्रय का वर्णन करने वाला साहित्यिक राजनीतिक शब्द से नहीं अभिहित होगा। और प्रगतिवादी उसे इसके विपरीत राजनीतिक ही कहेंगे। राष्ट्र की अभिव्यक्ति साहित्य में निहित है, अतः राजनीतिकों की राष्ट्र में भी उसकी महत्ता है। गान्धी जी एक महान् राजनीतिक व्यक्ति हैं, किन्तु उनकी सम्पूर्ण क्रियाओं का एक दिन ऐसा प्रभाव हो जाता है कि वे क्रियायें एक दिन वाद का रूप लेती हैं, और गान्धीवाद साहित्य का अंग बन जाता है। परन्तु गान्धीजी की क्रियायें स्थान पा सकीं, साहित्य उसमें स्थान न पा सका। गान्धीवाद का उत्तोलन साहित्य की तुला पर हुआ। दूसरी बात यह कि राजनीति लड़ाई लड़ सकती है, परन्तु परिणाम में किसी स्वरूप निश्चय में उसे साहित्य का प्रश्रय लेना अनिवार्य होगा। साम्यवाद से प्रभावित समाज-वाद की स्थापना के लिए साहित्य की भी आवश्यकता होगी। परन्तु पूर्व में ही निर्माण का आधार साहित्य होना चाहिये, राजनीतिक को नहीं। निर्माण के आधार में राजनीतिक भावनायें नहीं रहनी चाहिये। किसी भी आन्दोलन, हड़ताल को ही साहित्य में स्थान प्राप्त होगा। और शेष अंग छुट जायँगे तो ऐसा होने पर वर्त्तमान युग की परिस्थिति का सच्चा ज्ञान सबको नहीं प्राप्त होगा, फलतः उस युग के साहित्य की महत्ता कम होगी।

योरप के साहित्य की यह विशेषता है कि वर्त्तमान को वह भागने नहीं देता, तुरत उसे आत्मसात कर लेता है। परन्तु हमारी परिस्थितियाँ परतन्त्रता की भावनायें राजनीतिक त्रुटियों का उल्लेख करने में सहायता नहीं देतीं। परन्तु प्रत्येक आवश्यक आन्दोलनों, हड़तालों को साहित्य में अवश्य स्थान देना चाहिये। अन्यथा युग की दृष्टि में वह महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध होगा। गांधी जी के उपवास या कांग्रेस के आन्दोलन भी साहित्य में ग्राह्य हैं। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में:—'गान्धी जी के २१ दिन उपवास का साहित्य २१ वर्ष का साहित्य होना चाहिये था, परन्तु इस ओर दो-एक साहित्यिकों का ही ध्यान गया।

इसका आशय हुआ कि उस युग, उस वर्ष का साहित्य सम्पूर्ण साथ ही असत्य भी हुआ। इस प्रकार की उपेक्षा करने वाले साहित्य में अस्थायित्व रहेगा। परन्तु इसके साथ के अन्य अंगों या घटनाओं का परित्याग भी अनुचित होगा। प्रगतिवाद अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों की उपेक्षा करने का आदेश देता है, राजनीतिक जड़ों को ही अपनाना साहित्य का वर्त्तमान युग में कर्त्तव्य होना चाहिए, ऐसा उसका मन्तव्य है। 'डी० एच० लरेन्स' की राजनीतिक उक्तियाँ साहित्य के लिए अधिक ग्राह्य हैं। चूँकि जीवन के सम्पूर्ण पथों का उनमें समर्थन है, जिसे प्रगतिवाद अस्वीकार करेगा।

उसे 'रोबिन्सन क्रूसो' की मान्यतायें प्रभावित करेंगी। अभाव, दुःख-दारिद्र्य, आवश्यकताओं का वर्णन करना ही इष्ट है। राजनीतिक अवलम्ब विषयों को ही उसने अपनाया है, साहित्य में उनसे अधिक इनका महत्त्व है।

प्रगतिवाद का यह सिद्धान्त भी अग्राह्य है कि एक साहित्यिक का श्रेष्ठ राजनीतिक से कभी अधिक महत्त्व नहीं है। साहित्यिक, राजनीतिक भावनाओं की व्याख्या कर सकता है, उसकी आवश्यकतायें; उसकी सच्ची परिस्थितियों का वह दिग्दर्शन करा सकता है। परन्तु राजनीति साहित्यिक के लिए सब कुछ नहीं कर सकती। हाँ, उसके विकास का साधन जुटा सकती है, परन्तु वह भी यदि प्रगतिवाद के विचारानुसार राजनीतिक हुआ तो इसके लिए भी एकदम अक्षम रहेगा।

साहित्य पर राजनीति का विशेष प्रभाव अशुभ का लक्षण है। प्रगतिवाद, क्रान्ति के सर्जकों की नीति को अपनाता है। मार्क्स की अभिव्यक्तियों को वह साहित्य के विकास के लिए आवश्यक समझता है। मार्क्स एक बौद्धिक व्यक्ति था, जिसके विचार जड़वादियों के लिए अनुकरणीय हो सकते हैं, चूँकि उनका जीवन से कम सम्बन्ध है। जड़वादी जीवन की यथार्थता से

दूर है, और भविष्य के साहित्य में बौद्धिकता के नाम पर इसका पूरा, प्रयोग कर रहे हैं। मार्क्स के नाम पर ऐसे अनेक भावों के प्रचार हो रहे हैं, जो राजनीतिक लिए सुव्यवस्थित कहला सकता है, परन्तु साहित्य के लिए वह घातक है। बौद्धिकता की शुष्कता, साहित्य की क्रियाओं को शिथिल बना देती है। मार्क्स के विचारों से प्रगतिवाद प्रभावित है, अतः उसीके अनुरूप साहित्य का निर्माण चाहता है। उसीके दृष्टिकोण के आधार पर साहित्य को मापता है, उसका विश्लेषण करता है। फलतः साहित्य का भविष्य असुन्दर है।

मार्क्स की बौद्धिक अभिव्यक्तियों में जीवन मूर्त्तभावना में अधिक नहीं है, अपने आप में वे राजनीति के लिए पूर्ण कहला सकती हैं। प्रगतिवाद जोरों से बल लेकर उसके प्रयोगों का साहित्य में प्रयोग कर रहा है। प्रयोग के पूर्व साहित्य के भविष्य पर उसे सोचकर निर्णय कर लेना चाहिए कुछ विकास पर पहुँचे हुओं का कहना है, साहित्य में मार्क्स की बौद्धिकता कार्य नहीं करती है, परन्तु उसकी अधूरी सत्ता स्वीकार करने वाले उसीकी भावना को अपनाकर काव्य की सृष्टि कर रहे हैं :—'आये दिन भारतीय साहित्य में मार्क्स के नाम पर बौद्धिकता का अधिकाधिक समावेश होता जा रहा है, जो साहित्य के लिए शुभ नहीं जान पड़ता। मार्क्स का प्रत्यक्ष जड़वादी समाजवाद, राजनीति की सुन्दर व्यवस्था का एक बहुत ही उपयोगी और सुन्दर दर्शन है, किन्तु जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे सीधे स्वीकार कर लेने से कल्याण की संभावना निश्चय ही शिथिल पड़ जायगी।

जीवन निर्माण-भावनाओं में शिथिलता नहीं आती, यदि मार्क्स के सारे विचारों को जीवन में सम्मिलित नहीं किया जाता, विशेषतः उसकी बौद्धिक क्रियायें नहीं अपना ली जातीं। यहाँ के साहित्यिकों को जीवन के लिए सदा स्मरण रखना चाहिए :—'साहित्य का आधार सम्पूर्ण जीवन है।' प्रगतिवाद कदाचित् इसे अस्वीकार करता है, जिसका कारण उसकी सम्पूर्ण राजनीतिक भावनायें हैं। मार्क्स चेतना को जीवन में स्थान नहीं देता, ब्रह्म के आनन्द का, उसके आगे कोई मूल्य नहीं, जड़ पदार्थ को ही अपनाना, वह सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य मानता है!

वैसी परिस्थिति में उसकी भावनायें, उसके सिद्धान्त साहित्य के लिए उपेक्षित होंगे। प्रगतिवाद हमेशा मार्क्स को प्रधान मानकर, आदर्श मानकर साहित्य की सृष्टि करने के लिए कहता है, जिसका परिणाम भयङ्कर होगा, अहितकर होगा। प्रगतिवाद के सिद्धान्तों के अनुसार राजनीति की परिणति साहित्य में होनी चाहिये, इसलिए कि समाजवाद की स्थापना करनी है,

जिसका राजनीति से अधिक सम्बन्ध है। परन्तु हमें देखना यह है साहित्य में उसकी क्रियायें निहित हैं, या नहीं।

राजनीति में जीवन का विश्लेषण सम्भव नहीं, साहित्य के किसी भी भाग में जीवन की महत्ता स्वीकार की गई है, इससे शून्य कोई भी साहित्य महत्त्व नहीं रखता है। राजनीतिक भावनाओं से जो प्रभावित या पुष्ट हैं, वे ही प्रगतिवाद की अन्तरङ्ग व्याख्या करते हैं। उनके सामने मज़दूरों की एकाधिपत्य वाली भावना ही उपस्थित रहती है, जो साहित्य के लिए भी चाहते हैं। और प्राचीन सुदृढ़ इमारतें भी ढाह दी जायँ, इसके लिये आन्दोलन करते हैं। वह साहित्य युग के साथ नहीं चल सकता जो मजदूरों के अधिकार-प्रश्न के लिए न लड़े। और उनकी स्थिति का चित्रण न करे।

प्रगतिवाद का जहाँ विशुद्ध अर्थ अग्रहण किया जाता है, वहाँ उसका मैं विरोध नहीं करता, किन्तु जहाँ सिर्फ रूस का समाजवादी सिद्धान्त कार्य करता है, और जहाँ उसीका महत्त्व स्वीकार किया जाता है, जिसके परिणाम में प्रगतिवाद का राजनीतिक भाव मूर्त्त होकर व्यक्त होता है, वहाँ उसका अभिप्राय सिद्ध हो जाना स्वाभाविक है। प्राचीनता को ढाह देने की प्रवृत्ति राजनीति की क्रान्ति से निकली, भारतीय राजनीति की सबलता यहाँ व्याप्त रहती तो ऐसा सम्भव नहीं था, किन्तु वर्त्तमान परिस्थिति में प्रगतिवाद की राजनीतिक भावना रूस की है, जो साम्यवाद की स्थापना के लिए अवतरित हुई।

इसी प्रभाव से, उसका अनुकरणकर प्रगतिवाद उस साहित्य का विरोध करता है, जो जीवन की विषम परिस्थितियों को लेकर अपने में पूर्ण है। होमर, शेक्सपीयर, दांते, मिल्टन, शेली, कीट्स, गेटे और गाल्र्सवर्दी की सृष्टि के विध्वंस से साहित्य अपूर्ण-सा प्रतीत होगा। इनकी उपेक्षाकर साहित्य के विकास की हम आशा नहीं कर सकते।

प्रगति का अर्थ सङ्कीर्ण नहीं है। राजनीतिक भावनाओं. सिद्धान्तों में चातुर्य सबल है जो साहित्य की कला की रक्षा में असमर्थ है। कला जीव न-चेतना से अधिक सुसम्बद्ध है, जो किसी सीमित वर्ग के आन्दोलन में सन्निविष्ट नहीं हो सकती। सामन्तशाही या पूँजीवाद के विरोध में ही प्रगतिवाद ने जोर देकर आवाज उठाई है, जो राजनीतिक वातावरण के लिए ही उपयुक्त थी। परिस्थिति और जीवन से जहाँ प्रयोजन था वहाँ साहित्य की भावनायें सफल होती, साम्यवाद या समाजवाद की पृष्ठभूमिका में उत्तेजना, आन्दोलन. क्रान्ति सम्मिलित कार्य करते हैं जो राजनीति के प्रधान अंग हैं, इनका प्रश्रय

लेकर जो साहित्य अपना विकास करेगा वह राजनीतिक विकास करेगा, उससे साहित्यिक विकास कदापि सम्भव नहीं है। इसका कोई भी पक्ष उसमें वर्त्तमान नहीं है।

प्रगतिवाद की जड़ में समाजवाद की भावना है, जो एक वर्ग के लिए है, एक वर्ग की चिन्ता करता है जिसके आगे वर्ग महत्त्व रखता है, एक वह है, निम्न वर्ग। यह वर्ग दयनीय अवश्य है, किन्तु वर्त्तमान परिस्थिति में चूँकि साम्राज्यवाद की स्वार्थ-प्रवृत्ति अधिक उग्र हो गई है, अतः मध्यवर्ग उससे भी अधिक दयनीय हो गया है जिसकी ही उसे चिन्ता करनी थी, किन्तु दृष्टिकोण की सङ्कुचित भावना ने इसके प्रति दूसरी ही भ्रान्तिपूर्ण धारणा बना ली है।

राजनीति भी एक के लिए ही सब कुछ नहीं करती, उसके आगे अनेक वर्गों का प्रश्न है। परन्तु प्रगतिवाद की समस्त शक्तियाँ चूँकि रूस के समाजवाद—साम्यवाद पर अवलम्बित हैं, अत: सिर्फ एक ही कल्पना या वर्णन में वह निमग्न है। उद्देश्य एक तक ही सीमित है। फलस्वरूप उसके सिद्धान्त से प्रभावित जो साहित्यकार या काव्यकार हैं वे साहित्यिक सृष्टि की अपेक्षा राजनीतिक सृष्टि ही करते हैं। प्रारम्भ में इसका आधार साहित्य की दृष्टि से इसलिए दृढ़ प्रतीत हुआ कि इसके स्वरूप-निश्चय में साहित्य की मान्यतायें ही कार्य कर रही थीं। परिस्थितियों का प्रभाव सब समय परिलक्षित होता है, वर्त्तमान परिस्थिति में कोई भी बौद्धिक व्यक्ति अपने नाम, यश का अधिक इच्छुक हो गया है।

नेतृत्व की भावना उसे कर्त्तव्य-से दूर ले जाती है, सत्-असत् पर सोचने का अवसर नहीं देती। प्रगतिवाद के प्रवर्त्तकों ने साहित्य में नेतृत्व भावना लानी चाही, फलतः साहित्य का स्वभाविक विकास-मार्ग अवरुद्ध हो गया। पाठकों में भ्रान्ति हो गई कि वे राजनीति का मैटर पा रहे हैं या साहित्य का। जीवन की प्रगति को लेकर, लक्ष्य, उद्देश्य को लेकर प्रगतिवाद अग्रसर हुआ होता तो उसमें स्थायित्व अधिक होता। पाठक पर अक्षुण्ण प्रभाव पड़ता। इसके आन्दोलन का रूप राजनीतिक क्रान्ति है। बल्कि छायावाद-रहस्यवाद का प्रारम्भिक आन्दोलन इसके मूल में भी हुआ होता तो आज हमारे सम्मुख प्रगतिवाद इस रूप में उपस्थित न हुआ होता।

छायावाद-रहस्यवाद प्रगतिवाद से अधिक सुदृढ़ एवं महत्त्वपूर्ण है, इसलिए कि वह राजनीति से पृथक रहा है। इस वाद का प्रतिनिधित्व 'हंस' और 'नया साहित्य' करता है, जो इसके सिद्धान्तों के प्रचारक हैं। साहित्य की

दृष्टि से उनका महत्त्व कम नहीं है। परन्तु उन्हीं भावनाओं से युक्त साहित्य को अपने यहाँ वे स्थान देते हैं जो प्रगतिवाद की राजनीति का पोषक है।

कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता सब उसीके आधार पर अवलम्बित हैं। ग्रामीण-वातावरण का चित्रण-वर्णन करना प्रगतिवाद विशेष रूप से चाहता है, जो किसी भी वाद से अभिहित होने वाले साहित्य में हो सकता है, होता है। श्रद्धा-भक्ति के समन्वय में राजनीतिक नेता के स्वागत उनके गुणों का, उनके कार्यों का परिचय साहित्य ही देता है, परन्तु प्रगतिवाद की तरह, उसकी ओट में राजनीति का कोई भी कार्य नहीं होता। प्रगतिवाद का शिष्ट, स्वाभाविक अर्थ ही किसी को ग्राह्य होगा, राजनीति की आंगिक क्रिया भी वहाँ उपेक्षित होगी। राजनीति के वातावरण स्वतः साहित्य में स्थान पायेंगे. चूँकि वे उपेक्षित होने योग्य नहीं हैं। परन्तु सिर्फ, राजनीति ही एक में पूर्ण रहेगी, जिसका वर्णन-चित्रण प्रगतिवाद में ही सम्भव होगा तो परिणाम भी सुस्पष्ट है, सिर्फ राजनीति ही उसे ग्रहण करेगी, चूँकि वह उसी-का वस्तु होगी।

परन्तु प्रारम्भ की इस भावना का सदैव स्मरण होना चाहिये कि प्रगतिवाद साहित्य की वस्तु है, राजनीति की नहीं। इसके विपरीत परिणाम में प्रतिकूल भावना यदि अपने आपमें सफल हुई तो निस्सन्देह प्रगतिवाद-पूर्ण और स्थायी होगा। राजनीति की सबलता इतनी व्याप्त है कि स्वतः किसी भी साहित्य में मूर्त्त होकर वह आयेगी, इसके लिए साहित्य को कुछ नहीं करना होगा। और यदि इससे विमुख साहित्य हुआ तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि अपने युग का वह प्रतिनिधित्व बल लेकर नहीं करता है। अन्य अंगों-प्रत्यङ्गों के साथ राजनीति भी पृथक उसमें व्याप्त है, केवल राजनीति ही की भावना उसमें नहीं है।

और कहना नहीं होगा कि प्रगतिवाद में केवल राजनीति कार्य करती है। शेष भाग को उसमें प्रश्रय नहीं प्राप्त है।

भारतीय साम्यवाद की राजनीतिक भावनाओं में जीवन की क्रियायें मूर्त्त होकर विद्यमान हैं। अतः उनका साहित्य में समावेश होना अस्वाभाविक नहीं है। चूँकि भारतीय साम्यवाद गान्धीवाद से अनुप्राणित या प्रभावित है। उदार भावनायें, सत्य के प्रति आस्था प्रकट करती हैं, इसलिये साहित्य उन्हें सहज ही में आत्मसात कर लेगा। गान्धीवाद का राजनीतिक पक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के क्षेत्र के लिए चातुर्यपूर्ण कार्य करता है, परन्तु जीवन में आने के लिए उससे पृथक हटकर सद्व्यवहार की क्रियायें एकत्र करता

है। ये व्यावहारिक क्रियायें साहित्य का विशिष्ट अंग सिद्ध हो सकती हैं यदि उनका प्रयोग-उपयोग अनुचित न हो।

गान्धीवाद का साम्यवाद, सामाजिक दृष्टिकोण को एकदम जनता के निकट रखता है। बौद्धिक-शक्तियाँ भी उसमें केन्द्रीभूत हैं, साथ ही गान्धीवाद के दार्शनिक विचार भी प्रगतिवाद के लिए मान्य होने चाहिये चूँकि स्थायित्व लाने की वे प्रेरक शक्तियाँ प्रमाणित होंगे। साहित्यिक यदि उनका उपयोग करना जानें, तब उस ओर अग्रसर हो सकते हैं। 'गान्धीवाद' को सूक्ष्म और उच्च दर्शन के तन्तुओं को बिहार के अध्ययनशील प्रौढ़ कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने समझा है। परन्तु प्रगतिवाद का पाठक चूँकि दर्शन को सस्ती भावुकता में तौलता है, अतः 'प्रभात' जी के विचारपूर्ण, बुद्धि की तुला पर तुलित गान्धीवाद के दार्शनिक आधार की उपेक्षा भी कर सकता है इसलिए कि उनके धरातल अत्यन्त उच्च हैं।

प्रगतिवाद की भौतिक प्रवृत्तियाँ उसमें नहीं स्थान पा सकती हैं, यद्यपि बुद्धि की वे प्रधानता स्वीकार करती हैं, किन्तु उसके अर्थ की व्यापकता नहीं सिद्ध करतीं। 'प्रभात' जी का 'संवर्त्त' गान्धीवाद के दर्शन की 'क्रान्ति' की विशिष्ट अभिव्यक्ति मानता है। उसमें सामाजिक भावनायें भी सन्तुलित हैं। उसमें बुद्धि की सर्वत्र सक्रियता सिद्ध है। बल्कि 'संवर्त्त' का प्रौढ़ विकास 'काल-दहन' में हुआ है। 'प्रभात' जी ने इसमें गान्धीवाद को क्रान्ति का प्रतिशब्द कहा है। प्रगतिवाद का दृष्टिकोण इसमें सन्निहित मिलेगा। बुद्धि, क्रोध, ईर्ष्या की भावनायें एकदम सन्तुलित उतरी हैं। विज्ञ पाठक ही उसकी पृष्ठि-भूमिका से लाभ उठा सकते हैं। 'कालदहन' में यद्यपि दार्शनिक सर्जनात्मक शक्तियाँ हैं, परन्तु उनका स्तर काल्पनिक नहीं, अनुभूति और स्यत्व का शिव-रूप है। उसका ठौट 'टेक्नीक' स्वाभाविक है, तौल में भारी भी।

भारतीय साम्यवाद की अनुकूल प्रवृत्तियों के अनुग और भी हैं। परन्तु वे साम्यवाद को सीधे गान्धीवाद से प्रभावित नहीं मानते हैं। कम्यूनिज्म की बाह्य शक्तियाँ अपना कार्य नहीं करती है, परन्तु वे अनुग प्रगतिवाद के उस अर्थ की अभिव्यक्तियाँ स्वीकार करते हैं, जो असहाय, विवश अवस्था में निवास करने वाले मानव के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हैं। भोजन में ही सिमटी क्रियाओं की प्रधानता नहीं देते, न इसीमें बद्ध साहित्य-सत्ता का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

तथाकथित प्रगतिवादी, सत्य, नग्नता पर भी चादर डालना चाहता है। परन्तु सच्चे अर्थ में प्रगतिशील साहित्यकार सत्य को सत्य, नग्न रखता है। दीन-हीन मानव की अवस्था का वह हृदयग्राही चित्रण करता है। पं० हंसकुमार तिवारी की कुछ वैसी ही कविताएँ हैं, जिनमें प्रदर्शन की भावना नहीं है। दीपक को जलते देखा है? कविता वैसे वातावरण में पलने वाले मानव का चित्र उपस्थित करती है जो अपने आपकी बुझिल समस्याओं में उलझा है। विचारों की थकान में सुस्त है। वह सर्वहारा वर्ग का है, पर एक की संस्थिति में ही नहीं है। इस कविता की शक्ति दृढ़ है :—

> छोटे-सा नंगा सूखा तन
> कमजोर विवश चिर भूखा मन
> बदबू, मवाद से भरे ज़ख्म
> मक्खी करती रहती भन भन
> इस भिखमंगे को आशा से
> सिर के बल चलते देखा है!
> गालों पर खिलती-सी रोली
> आँखों में मादकता घोली
> सुघटित पेशी, साहस सहचर
> दिल में अरमानों की टोली
> ऐसे यौवन को भूखों से
> असमय में ढलते देखा है?'

प्रगतिवाद का समर्थक इस कविता को भी उसी श्रेणी में रख सकता है, जिसकी क्रियायें निम्न-वर्ग के लिए ही हैं। यदि उसीकी उक्ति स्वीकृत भी हो, तब भी स्थायित्व इनमें अधिक है।

प्रगतिवाद के समर्थकों में 'नरेन्द्र शर्मा' का भी नाम आता है। इनका अध्ययन प्रौढ़ है, अतः विचारों में गम्भीरता है। प्रगतिशील कवियों में अध्ययन की दिशा की ओर निर्देश करने वाले वे ही एक सम्मानित कवि हैं, जिनके विचार, जिनकी बुद्धि का निष्कर्ष मननीय है। यद्यपि उनकी स्तालिन-गाड या निम्न-वर्ग की स्थिति को सुधारने के लिए जिस समाजवाद की स्थापना का आग्रह करने वाली कवितायें हैं, वे प्रगतिवाद की समर्थ साक्षियाँ नहीं होतीं हैं। 'मिट्टी और फूल' की अपेक्षा 'पलाशवन'

'प्रभात फेरी' विशेषतः 'प्रवासी के गीत' में उनका जीवन है। हृदय की वृत्तियाँ उन्हीं में सजग हैं। उन्होंने धरती पर उतरने का 'मिट्टी और फूल' में नया प्रयास किया है, किन्तु प्रदर्शन की भावना एक कोने में विराजमान है। अध्ययन के अनुरूप हृदय से अलग होकर कवितायें नहीं की जा सकतीं। भावनाएँ, शुष्क रेतीली जमीन पर चलने वालों की रहेंगी।

प्रगतिवाद का प्रभाव

परिस्थिति जन्य विवशतायें मनुष्य की उन्नति के मार्ग का अवरुद्ध कर देती हैं, विशेषत: साम्राज्यवाद के इस भीषण स्वार्थ के युग में। वैसी स्थिति में जब कि उसके विरुद्ध में प्रगतिवाद जोर का आन्दोलन करता है, उसका जनता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। राजनीतिक क्रियायें भी उसमें मूर्त्तरूप से वर्त्तमान हैं, गहरे प्रभाव का यह भी एक कारण है। परन्तु यह प्रभाव अक्षुण्ण रहेगा, इसकी कम सम्भावना है। चूँकि उसका अर्थ बड़ा सकुचित रखा गया है।

प्रगतिशील-साहित्य का जो उचित परिमाण है, उसके अनुसार उसका अर्थ नहीं ग्रहण किया जाता। मेरे जानते, परिवर्त्तित होते हुए विकसित स्वरूप को ही प्रगति कहेंगे, अनन्तरवाद शब्द उसमें संयुक्त होगा। प्रगति का संश्लिष्ट अर्थ केवल विकास हो सकता है। संस्कृत के अनुसार प्र० + गम् + क्तिन् = प्रगति होता है, जिसका अर्थ पूर्ण या उत्कृष्ट रूप से किसी भाव को, किसी विचार को गतिमान करना है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार इसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर अर्थ निकाल सकता है। यह व्यापक एवं पूर्ण शब्द है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूप से हो सकती है! परन्तु केवल राजनीति या केवल समाज में उसे बाँधकर एक संकुचित अर्थ लगाना, उसके विकास को रोकना है। युग की परिस्थितियों के अनुसार ससार में परिवर्त्तन होता है जिसकी विधियों पर दृष्टि डालता हुआ साहित्य अपना स्वाभाविक रूप स्थिर करता चला जाता है।

इस दृष्टिकोण से समाज और राजनीति का वर्त्तमान रूप आधुनिक साहित्य में प्रबलता से व्याप्त रहेगा। इसके लिये आन्दोलन का प्रश्रय लेना ही आवश्यक नहीं। अतीत का अन्तिम युग महान् परिवर्त्तन लेकर आया, उसका स्वागत हुआ। परन्तु उसकी भावनायें योरुप के लिये ही अधिक कार्यकर सिद्ध हुईं, और चाहिये था, परिस्थिति के अनुसार नितान्त स्पष्ट।

समझने के लिए, मस्तिष्क की सञ्चित शक्ति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होनी चाहिए थी। बौद्धिक-चेतना, बौद्धिक आधार, उस साहित्य के लिए अपेक्षित था। परन्तु प्रत्येक वर्ग उससे पर्याप्त लाभ नहीं उठा सकता था अतः उससे स्पष्ट और जीवन-युग के साहित्य का स्वागत हुआ। जिसके प्रारम्भ में जागृति का सन्देश था, उमङ्ग का आवेश था, जीवन में बल, भावों में गहनता और गम्भीरता थी।

परन्तु उसकी नींव में सामाजिक, राजनीतिक और साम्यवादी भावना ही विशेष रूप से कार्य कर रही है, जिसके परिणाम में उसने कोई ठोस कार्य नहीं किया। सामाजिक-राजनीतिक भावना को अपने में स्थान देकर उसने भूल नहीं की, परन्तु इन्हीं को ही समक्ष रखकर उद्देश्य को लक्ष्य मानकर साहित्य की गति विधियों को उसने परखना आरम्भ किया, और उसके अनुसार निर्माण भी, जो सीमित वातावरण के लिए ही उचित हो सका। अनुकृतियों के आधार पर साहित्य की नींव दृढ़ करने के लिए प्रस्तुत हुआ, जिसमें स्थायी प्रशंसनीय सफलता न प्राप्त हो सकी। यद्यपि कुछ प्रगतिवादी साहित्यकार उसकी अनुकूल विवेचना भी करते हैं, किन्तु उनकी क्रियायें प्रतिकूल होती हैं। उसके प्रभाव से अभिभूत हो कहते हैं—'प्रगतिवाद का अर्थ है, साहित्य का समाजिक-समाजीकरण।'*

प्रगतिवाद का यह एकाङ्गी अर्थ है, व्यापक अर्थ में समाजीकरण के अतिरिक्त भी विशिष्ट भावों के मान्य अर्थ होते हैं। समाज का प्रभाव, उग्रता से व्यक्ति पर पड़ता है, और वह व्यक्ति की सत्ता या प्रधानता स्वीकार नहीं करता। उसका इसके विषय में कहना है :—'प्रगतिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक है, और व्यक्तिवाद का शत्रु।' परन्तु दोनों दृष्टि से वह व्यक्ति की उपेक्षा करता है। यदि ऐसा होता तो कभी व्यक्ति के आधार पर निर्मित 'स्वान्तः सुखाय' का विरोध नहीं करता। कल्पना-जगत् की निरर्थकता नहीं सिद्ध करता। वह यह भी घोषित करता है कि :—'प्रगतिवाद संस्कृति का नाशक नहीं।' फिर प्राचीन संस्कारों की अवहेलना क्यों करता है। उसे रूढ़ि या परम्परा में सुधार इष्ट नहीं, फलतः इनका ध्वंस चाहता है। रूस के वातावरण से जब वह प्रभावित है तो निश्चय ही अपनी संस्कृति का नाशक है, चूँकि वहाँ वालों को धर्म अप्रिय है, संस्कृति अप्रिय है। भारत की दृष्टि

---

* 'हंस' दिसम्बर-नई १९४६

इसके विपरीत दोनों प्रिय हैं, और प्रत्येक के मूल में इसीलिये वह इनकी स्थापना चाहता है।

रूस अपनी उन्नति, अपने विकास का इन्हें रोड़ा मानता है। अतः प्रगतिवाद की यह घोषणा आत्म-प्रवञ्चना का द्योतक है। प्रत्येक प्रगतिवादी साहित्यकार इनका विरोध अनिवार्य समझता है। अन्यथा उसके उद्देश्य-सिद्धि में कदाचित् सफलता नहीं मिलने की। मानव के विकास में हमारी कुछ संस्कृतियाँ इतना हाथ रखती हैं कि मूल में वे न स्थित रहें तो मानव एकदम संकुचित वातावरण में पलेगा, फिर उससे निर्मित सामाजिक सिद्धान्त कहाँ तक अनुकरणीय प्रमाणित होंगे।

काव्य के पूर्व में हमारी सांस्कृतिक विधियाँ रहनी चाहिए। काव्यकार किसी भी अवस्था में, किसी भी वाद में इन्हें उपेक्षित समझकर परित्याग न करे। और परित्याग करता हुआ भी अपने निर्मित साहित्य को विनाशक के रूप में नहीं स्वीकार करता, यह उसकी बड़ी भूल है, जो भविष्य के लिए उचित नहीं, कल्याणकर नहीं। प्रगतिवाद के लिए यह भी कहा जाता है :—'प्रगतिवादी-साहित्य भावों और विचारों का वाहक होता है। और वादी साहित्य किसका वाहक होता है?' इसके उत्तर में भी वही कहना होगा। फिर उसकी यह कोई नई विशेषता नहीं।

किसी भी वाद में निवास करने वाला साहित्य, भावों और विचारों का वाहक होता ही है! हाँ, उसके प्रकारों में विभिन्नता रहती है, परन्तु प्रकारान्तर भाव का यहाँ कोई उल्लेख नहीं। प्रगतिवादियों की यह भी एक अभिव्यक्ति है :—'प्रगतिवादी की कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकता में होता है। एक ओर जहाँ वह कल्पना में सजीवता नहीं पाता, दूसरी ओर वास्तविकता कैसे पा सकता है?' यदि ऐसा होता तो छायावाद-रहस्यवाद के काल्पनिक आधार की सत्ता उसने क्यों नहीं मान ली। उसकी कल्पना के आधार में भी जीवन की ठोस वास्तविकता थी जिसमें अनुभूति की प्रधानता भी थी। महादेवी की ये पंक्तियाँ

मधुर मधुर मेरे दीपक जल!
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

काल्पनिक-जीवन की वास्तविकता के आधार हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। या प्रसाद की ये पंक्तियाँ—

'सुख-आहत शान्त उमङ्गे,
बेगार साँस ढोने में,

यह हृदय समाधि बना है,
रोती करुणा कोने में।'

इसके अतिरिक्त कामायनी की काल्पनिक अभिव्यक्ति भी नितान्त ठोस और वास्तविक है। परन्तु प्रगतिवादियों ने उनके काल्पनिक वास्तविक जीवन के आधार को अस्वीकार किया है। इसका यही अभिप्राय अभिव्यञ्जित होता है, उन्होंने प्रगतिवाद के अर्थ को समझने में भूलें की हैं, इसीलिए स्वयं उनके दृष्टिकोण संदिग्ध एवं भ्रान्तिपूर्ण हैं। निश्चित निष्कर्ष पर वे अभी नहीं पहुँच पाये हैं।

प्रगतिवाद में औद्धत्य है, अति उत्तेजना है, अतः वह विप्लवकारी है, और विप्लव में मानव-जीवन शायद सन्निविष्ट नहीं है। विप्लव का अर्थ क्रान्ति है तब तो वह और भयानक है। चूँकि अर्थ की स्वाभाविकता वहाँ नहीं है। यों क्रान्तिकारी-साहित्य महत्त्वरहित नहीं है, परन्तु विभिन्न अर्थ की ओट में उसका निर्माण एक व्याज है जिसका प्रभाव अनुचित पड़ता है। प्रगतिवाद यदि विप्लव में नहीं संयुक्त है, तब अपने अर्थ में, क्रान्ति की भावना भी रखता है, जिसमें शिष्टता है, आवश्यकता के अनुसार ही उसमें इसकी संस्थिति रहती है।

आज तथाकथित प्रगतिवाद में अति विप्लव ही उग्र रूप से वर्त्तमान है। परन्तु प्रगतिवादी की दृष्टि में प्रगतिवाद के साथ विप्लववाद की कोई भी क्रिया अपना प्रभाव नहीं प्रदर्शित करती जिसके लिए उसका कहना है:—
'प्रगतिवाद और विप्लववाद को बहुत से लोग एक ही चीज समझते हैं।'
शब्द तो दो अवश्य हैं, किन्तु क्रियायें एक हैं, जिनका परिणाम भी एक है। अपने सिद्धान्तों का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए जहाँ अपना प्रभाव डालना पड़ता है, वहाँ विप्लव का प्रश्रय लेना पड़ता है। शान्त भाव की स्थिरता, गम्भीरता का प्रश्रय लेकर प्रभाव डाला जाता तो निश्चय ही विप्लववादो का द्योतक न होता। जिनका व्यक्तित्व से पुष्ट स्वाभाविक प्रभाव है; उनके लिए तो किसी का प्रश्रय अपेक्षित नहीं है। परन्तु जो प्रबल है, जिनके पास अपनी सञ्चित कोई निधि नहीं, उन्हें रोष, औद्धत्य के बल पर दृढ़ रहना पड़ता है जो विप्लववाद के सक्रिय अंग हैं।

इनके प्रतिकूल सक्रिय भाग ग्राह्य होते तो विप्लववाद का नाम भी न आता। अपने निर्माण में उन्हीं क्रियाओं को उन्होंने स्थान दिया जो उग्र, कठोर हैं जिनकी संस्थिति, किसी भी वाद के लिये घातक है। अपने में पूर्ण प्रगतिवाद के लिए विशेषरूप से यह अनुचित था। इसीलिए लोगों की यह धारणा असत्य नहीं प्रतीत होती कि प्रगतिवाद विप्लववाद का प्रतिशब्द है,

साम्य-भावना का एक व्यक्तीकरण है। परन्तु प्रगतिवाद के कुछ साहित्य-कारों की मान्यतायें, क्रियायें या उनकी कृतियाँ सिर्फ़ प्रगतिवाद के गुणों से भी विभूषित हैं। जिन्हें विप्लवाद का नाम लेने का भी अवसर नहीं आता।

सच्चे अर्थ में प्रगतिशील-साहित्य किसी एक वाद, किसी एक भावना को लेकर नहीं अग्रसर हो सकता। उसके अन्तर्गत, सब भावनायें, समस्त साहित्यिक समस्याओं के समाधान निहित रहेंगे। परन्तु एक में ही पलने वाले प्रगतिवाद में समस्त धारायें वर्त्तमान हैं और रहेंगी, ऐसा उनका कहना है :—'साहित्य की समस्त नई धारायें प्रगतिवाद के भीतर आती हैं।' कई वादों से निर्मित साहित्य की विभिन्न धारायें तभी एक वाद में वर्त्तमान रह सकती हैं, जब साहित्य के समस्त लक्षणों, विधियों पर साहित्य अवलम्बित होगा, अन्यथा यह भी सम्भव ही प्रमाणित होगा। जब कि यह प्रगतिवाद दूसरों पर आधारभूत है।

समाजवाद की शक्ति में केन्द्रीभूत होने वाले प्रगतिवाद के लिए आवश्यक होगा कि वह व्यापकता और समष्टि के प्रश्न को लेकर सम्पूर्णता की चिन्ता करे। अन्यथा एक धारा की कल्पना करनी होगी, एक की फिक्र करनी होगी। वैसी स्थिति में नई, विद्यमान सब भावनाओं का प्रगतिवाद में गुम्फित होना, सम्भव नहीं। वर्ग के विकास में सम्पूर्ण मानव का विकास असम्भव है। इसलिए सम्पूर्ण मानव के उत्कर्ष के हेतु समस्त भावनाओं का दिग्दर्शन कराना श्रेयस्कर होगा। और उसी स्थिति में एक वाद में समस्त धारायें आ सकेंगी। जीवन के सम्पूर्ण अंगों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। परन्तु इसके प्रतिकूल प्रगतिवाद की क्रियायें हैं। उसे इस युग में केवल उनके लिए कुछ करना, कर्त्तव्य हो गया है जो अभाव, आवश्यकता को लेकर अपने स्वार्थ में निमग्न हैं। इतने सङ्कुचित वातावरण में पलने वालों को लेकर प्रगतिवाद अपना प्रभाव डालना चाहता है, यह घोषित करता हुआ कि उसमें समस्त की व्याप्ति है।'

अनुभूति और सौन्दर्य का प्रगतिवादी कवि इसलिए महत्त्व नहीं दे रहा है कि उनमें सत्य, या यथार्थ कुछ भी नहीं है। परन्तु जीवन का उनके साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि उनका परित्याग भी सम्भव नहीं, चूँकि वे सत्य और यथार्थ हैं। साम्यवाद की चादर उन्हें ढँक नहीं सकती। प्रगति नवीनता का प्रतिशब्द है, इस दृष्टि से भी उनका महत्त्व अधिक है। अनुभूति की साहित्यिक सरसता कहीं के लिए भी अपेक्षित है। परिणाम या निष्कर्ष पर

पहुँचने पर स्पष्ट प्रतीत होगा, आदर्श की वस्तु अनुभूतिपूर्ण साहित्य में सुरक्षित रहती है, जो प्रकाश देने का कार्य करता है। परन्तु वह वस्तु इतनी सूक्ष्म है, जिसको देखने या पाने के लिए सूक्ष्म आँखे भी चाहिए।

सत्य घटनाओं दृष्टि डालने पर वाला साहित्यिक अनुभूति का मूल्य आँक सकता है। किन्तु स्मरण रहे, वे घटनायें क्षणिक या महत्त्वरहित न हों। साहित्य की एक बहुत बड़ी शक्ति, अनुभूति है, जिसको दबाकर रखने का अभिप्राय होगा, असत्य का निर्माण करना; परन्तु वह हठपूर्वक दबायी भी नहीं जा सकती। सच्चे अर्थ में जो प्रगतिशील हैं, वे इस शक्ति के आधार को भी समझते हैं; स्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी करते हैं:—साहित्य की सबसे बड़ी प्रचण्ड और अद्भुत शक्ति अनुभूति है जिसके आलोक में पड़कर वस्तु, आदर्श और अदर्श सत्य हो जाता है।'*

साम्यवाद से प्रभावित प्रगतिवाद इसे स्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु जीवित रहने वाले साहित्य के निर्माण काल में पायेगा, अनुभूति की उपेक्षा करने पर वर्त्तमान विद्यमान तक के लिए ही उसकी निर्मित वस्तु किसी तरह स्थिर रह सकती है, भविष्य में स्थिर रहने की उसमें क्षमता नहीं है। एक गौण की मुख्यता देकर, आगे के लिए जीवित-साहित्य के निर्माण में अक्षम रहेगा। समस्त यथार्थ, साम्यवादी भावना में ही नहीं निहित है।

परिस्थिति के प्रभाव में इसकी भी उपेक्षा नहीं होगी, किन्तु इसी एक को आत्मसात भी नहीं किया जा सकता। और इसे भी नहीं भूलना चाहिए कि अनुकृति में प्रगतिशीलता नहीं है। तब तो उसमें प्रगति नहीं, अगति है जिसका नाम मृत्यु है। और प्रगतिवाद, अनुकृति पर ही पल रहा है। मौलिक-सृष्टि में सत्यता है, जीवन है, जागृति भी। प्रत्युत मेरे जानते, सदा नवीन, चिन्तन प्रगति है, अनुकरणकर सत्य की सृष्टि नहीं की जाती। राजनीतिक क्षेत्र में सम्भवतः अनुकरण का महत्त्व होगा, परन्तु साहित्य में नहीं कला के विकास में भी वह कदाचित् महत्त्व रखता हो; 'गजानन सालुङ्के' के मतानुसार। परन्तु साहित्य की गतिशीलता में अनुकरण एक बाधक ही सिद्ध होगा। इसमें उसकी सार्थकता नहीं सिद्ध होगी। सर्वथा अनुभूति की प्रधानता में प्रगति का विकास और नवीन अर्थ ग्रहणकर समस्त वातावरण की यथार्थता का चित्रण करना ही, जीवित साहित्य का लक्षण होना चाहिए।

---

*'रसवन्ती' पृष्ठ ६

सौन्दर्य और कला का भी स्वाभाविक रूप से उसमें प्रतिष्ठान होगा। इस अवलोकन पर वे ही प्रगतिशील कवि सिद्ध होंगे जो अनुभूति को, सौंदर्य की कला की विष्टता मानेंगे। अनुकरण के आधार पर स्वयं साहित्य की सर्जना नहीं करेंगे। इससे प्रतिकूल प्रवाहित होने वाला, तथाकथित प्रगतिवादी की श्रेणी में सम्मिलित हो सकता है, किन्तु वस्तुतः उसकी अप्रगतिशीलता में गणना होगी। अनुग बनने में स्वाभाविक विचार में परिवर्त्तन लाना होगा, और दूसरों के सिद्धान्त पर दृढ़ रहकर, उसीके आधार पर साहित्यिक निर्माण करना होगा, फलतः अपनी परिस्थितियों को भी उसी दृष्टि से देखेगा, जिस दृष्टि से दूसरों को देख चुका रहेगा। उस समय इसे वह विस्मृत कर देगा कि परिस्थितियों में सदैव विभिन्नता और विच्छिन्नता रहती है।

एक में सबको बाँधना, निरर्थक और अनुचित प्रमाणित होगा। और उसी अवस्था में निर्मायक यह भी प्रयास करेगा कि कला की वास्तविक स्वाभाविक गति भी विद्यमान रहे। कला की गति, तीव्रता में नहीं रहती, उच्छृङ्खलता में नहीं रहती; सत्य, सौन्दर्य, अनुभूति में उसकी संस्थिति होती है। किसी अनुकृति में इसकी कल्पना भी व्यर्थ है। अनुकरण की नींव अदृढ़, अस्वाभाविक है, उसके कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकते; और जिसके सिद्धान्त स्थिर नहीं हैं, उनमें प्रगतिशीलता का समावेश कठिन है। विचारों के निर्णय में यही हुआ कि सदा नवीन, मौलिक, विकास-पथ पर अग्रसर होने वाला कोई भी कवि प्रगतिशीलता की संज्ञा से अभिहित होगा :—
'वे सभी लेखक प्रगतिशील हैं, जो किसी प्रकार भी अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते।*

इसके प्रतिकूल प्रगतिशीलता की व्याख्या करने वाले की धारणा भ्रान्तिपूर्ण न भी कही जाय, तो भी अपूर्ण अवश्य कही जायगी। दूसरों के विचारों पर अवलम्बित होकर किसी वाद का वास्तविक विश्लेषण असम्भव है। जिस साहित्य में जीवन-शक्तियाँ विद्यमान हों, उसके लिए अनुकरण व्यर्थ है, और यदि वह ऐसा करता है, तो स्पष्ट है उसकी निर्माण-नींव एकदम कमज़ोर है।

इस विचार से भी प्रगतिवाद के आधार अदृढ़ हैं, चूँकि वह अनुकरण का दृष्टान्त देता है, उसे आदर्श मानता है। जीवित रहने की उसमें क्षमता नहीं है। इसलिए वह सार्थक नहीं है। सुतरां स्वीकार करना पड़ता है :—

---

*'रसवन्ती' पृ० २

आज वह सार्थक साहित्य है, जो आज जीवित आया हैं, और आगे भी जीवित रहेगा।*

प्रगतिवादियों की दृष्टि में उनका साम्यवाद पर आधारभूत केवल रोटी-दाल वाला साहित्य ही जीवित है और रहेगा। किन्तु अभी तक की सृष्टि के परिणाम में सार्थक जीवित रहने वाले साहित्य का आविर्भाव न हो सका है। यह उसके आधार की निर्बलता का सूचक है। अनुकृति में भी मौलिकता आ सकती थी, परन्तु उसकी निर्माण-विधियों में विभिन्नता स्वभाविक है। पाश्चात्य साहित्य में पाश्चात्य वातावरण के अध्ययन का प्रभाव हम पर पड़ेगा, किन्तु अपनी पृष्ठ-भूमिका के अध्ययन के उपरान्त और उसके अध्ययन का निष्कर्ष, दोनों के सामञ्जस्य से दूसरे के ग्राह्य भाव ग्रहण किए जायँगे। वैसी परिस्थिति में वहाँ या यहाँ के सर्जक में मौलिकता रहेगी ही।

वहाँ अनुकृति का अवसर नहीं प्राप्त होगा। परन्तु केवल वर्ग-निमित्तक पाश्चात्य साहित्य और वातावरण के अध्ययन के प्रतिफलन में मौलिक, सत्य सृष्टि की सम्भावना नहीं की जा सकती। समर्थ, वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के विश्लेषण के लिए और निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आवश्यक है, एक बार हम 'दिनकर' की 'रसवन्ती' की पृष्ठ-भूमिका का समुचित पक्षपातरहित, निष्पक्षभाव से अध्ययन करें। इसके अतिरिक्त पं० इलाचन्द्र जोशी के इस विषय के निबन्ध या 'प्रेत और छाया' की भूमिका से अवगत होना उचित होगा। दूसरी ओर 'हंस' के प्रगति-अंक एवं यशपाल के 'मार्क्सवाद' पुष्टि के लिए सामग्री देंगे। अभी-अभी का 'नया-साहित्य' भी प्रगतिवाद की रूप-रेखा स्थिर कर सकता है। हिन्दी-साहित्य में तथाकथित प्रगतिवाद के लिए अभी से ही कुछ मसाला दे सकते हैं। पाश्चात्य साहित्य में इसकी सामग्रियाँ अधिक मिलेंगी। तथाकथित प्रगतिवादी-साहित्य में मार्क्सवाद की पूर्ण सामाजिक, आर्थिक-अभिव्यक्ति अधिक महत्त्व रखती है। एक भाव, एक पक्ष का समर्थनकर इनका अध्ययन करें तो परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा; अतः निष्पक्षभाव के शब्दों को प्रयुक्त करना पड़ा।

अपनी पूर्वनिश्चित धारणा के अनुकूल अध्ययन करने पर उसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा, जहाँ धारणा ले जा चुकी रहेगी। धारणा के अनुरूप ही भावना परिवर्तित होती है, इसीलिए पहले ही से एक निश्चित,

---

*'रसवन्ती' पृ० ४

निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर होने के लिए वह बाध्य करती है, वैसी अवस्था में अपने प्रतिकूल विचारों पर अवलम्बित, वाद की यथार्थता या सत्यता पर विश्वास नहीं होता। प्रगतिवाद की धारणा के अनुसार भावना की निश्चित प्रवृत्तियाँ, निम्न-वर्ग, मज़दूरों के लिए ही किसी भी साहित्य का निर्माण करने की प्रेरणायें देती हैं। स्वामियों के विरुद्ध भाव की जागृति के लिए प्रगतिवादी-साहित्य ही प्रथम प्रयास कर रहा है, परन्तु यह प्रयास बहुत पहले से हो रहा है। कोई नया नहीं, रूस को ही इसका श्रेय नहीं, उसीसे सब नहीं लिया गया। हाँ, आन्दोलन में सर्वप्रथम उसे ही प्राप्त हुई, अतः उसीके उदाहरण को समक्ष रखा जाता है। अन्यथा साम्यवाद की भावना के प्रचार के लिए वैदिक ऋचाओं को भी समक्ष रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्वामियों के अत्याचार के अन्त के लिए आज से बहुत पहले सौ वर्ष पूर्व सूफी कवियों ने अपनी आवाज बुलन्द की। अन्य शक्ति-साधन के अभाव में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई, परन्तु उन्हें डराया, धमकाया अवश्य। अन्त में प्रजा-वर्ग के सन्तोष के लिए 'सनाई' ने कहा :—

न दादे आलिमाँ मानद, न जुल्मे जाँलिमः मानद।
न जौरे जाबिराँ मानद, न मखदूमाँ खदम चीनी॥

१—न विद्वानों की प्रशंसा ही शेष रहेगी; न आततायियों के अत्याचार ही रह जायँगे। न आतंकवादियों का आतंक रहेगा, न स्वामियों का ही अस्तित्व रह जायगा।*

बौद्धिक-प्रवृत्ति के समावेश के निमित्त ज्ञान और विश्वास की भावना के बल पर प्रभुओं को सचेत किया। जीवन के अन्तिम परिणाम में हमें कोई भी ऐश्वर्य-वैभव साथ नहीं देने वाला है, इसलिए उस ओर से विमुख रहना चाहिए। सुख, लिप्सा, स्वार्थ-पूर्ति की आकांक्षा के मूल में यह भावना अवश्य विद्यमान रहनी चाहिए कि ये सब पतन, अवनति की सामग्री एक करने में सहायक सिद्ध होते हैं, इनका त्याग सर्वोपरि अनिवार्य है। परन्तु विज्ञान और बुद्धि के इस भयङ्कर युग में ऐसी भावना का समावेश कठिन है चूँकि जीवन-रक्षा के ये महत्त्वपूर्ण साधन माने जाते हैं।

प्रगतिवादियों की दृष्टि में वही मानव है, जो किसी भी प्रवृत्ति का आश्रय ले, अपनी-प्राण-रक्षा कर लेता, चाहे वह कलुषित प्रवृत्ति का हो या महास्वार्थपूर्ण, इसकी चिन्ता व्यर्थ है। अन्यथा जीवन-रक्षा कठिन है। परन्तु दूसरी प्रवृत्ति का आश्रय ले 'सनाई' ने प्रभुओं, स्वामियों के लिए

---

*ईरान के सूफी कवि, पृ० १०

गर्वपूर्ण कहा :—'आज हम सुन्दर भवनों में बड़े आनन्द से शान के साथ लेटे हुए हैं, कल हमें कब्र में शरण लेनी पड़ेगी :—

इमरोज पुखतायेम चो असहाबे कहफ़ बार।
फ़रदाज़ गोर बाशद कहफ़ो रकीमे मा॥*

ऐसे ही कितने उदाहरण प्राप्त होंगे, जिनसे ज्ञात होगा, बहुत पहले से स्वामियों, प्रभुओं का विरोध होता आया है। किन्तु उस समय की परिस्थिति भिन्न रही है, और समाजवाद, साम्यवाद, रूस के आधार पर नहीं दृढ़ था, न अधिक सचेत ही। तथाकथित प्रगतिवाद की आरम्भिक क्रियाओं का जन-वर्ग पर अधिक प्रभाव पड़ा। क्रान्तिकारी भावनाओं का सहज ही उनमें सञ्चार हुआ। साहित्यिक समस्त विशिष्टतायें उसमें विद्यमान होतीं, और उधार न ली गई होतीं, तो सच्चे अर्थ में प्रगतिवाद आज अपने विकास के चरम पर पहुँचा होता।

इसका वर्त्तमान विकास, आज हमारे आगे भविष्य के लिए अन्धकार के रूप में खड़ा है। उसके अनुरूप जो काव्य निर्मित हो रहे हैं, उन्हें पढ़ते सभी अवश्य हैं, किन्तु अधिक उनसे प्रभावित नहीं होते; जिन पर उनका प्रभाव पड़ता, वे भी अस्थायी, अनर्गल, कोई महत्त्व नहीं रखते। अज्ञ-वर्ग, जो निम्न-वर्ग है, और अभी अभी अपना बौद्धिक द्वार खोल रहा है, वह उन काव्यों का कुछ देर के लिए महत्त्व दे सकता है। परन्तु विकास की अवस्था में वह भी उनसे विमुख हो जायगा। काव्य के प्रकार या लक्षण पर उनका माप नहीं होता, प्रगतिवादी जितनी कवितायें लिखी जा रही हैं, उनमें काव्य के कोई भी लक्षण नहीं घटित हो सकते हैं। चूँकि योरप की कविताओं का अनुकरण हो रहा है।

परन्तु वे कवितायें मूल, मौलिक हैं, उनकी भित्ति दृढ़ है, इसलिए कि अपने काव्यों के लक्षणों से अनुप्राणित हैं। इसके अतिरिक्त उनमें बल अधिक है, साथ ही उनके पाठक उसी प्रकार के बौद्धिक हैं। हिन्दी-काव्यों के पाठक, और वहाँ के पाठक में महान् अन्तर है। प्रगतिवादी-साहित्य से प्रभावित हो आज अनेक उसी वातावरण के उपयुक्त सस्ता साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप प्रगतिवाद के विकास के परिणाम, परिपाक में 'किरण-वेला। अमृत और विष, तार-सप्तक, मास्को, आदि कविता पुस्तकें तैयार हो सकी हैं।

* ईरान के सूफी कवि, पृ० १६

हमारे स्थायी साहित्य के दृष्टिकोण से इनका महत्त्व कितना है, अध्ययनशील विज्ञ पाठक अनुमान कर सकते हैं। बल्कि कहना चाहिए, किसी भी वाद का वर्त्तमान गद्य पूर्व की अपेक्षा अधिक ठोस या पुष्ट है, परन्तु काव्य के क्षेत्र में हमारी अवनति ही कही जा सकती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रगतिवाद का मैं शत्रु हूँ, वास्तविक अर्थ में जो प्रगतिशील है, उसका मैं अनुग और प्रशंसक हूँ।

[प्रगतिवाद के वाच्यार्थ में सम्मिलित होने वाले कुछ प्रतिनिधि कवियों के काव्यों की विवेचना की जायगी। विवेचना का आधार प्रगतिवाद पर ही अवलम्बित रहेगा। प्रगति का जो मेरे जानते अर्थ है, उसकी मापक-विधि के अनुसार जो कवि सम्मुख आये हैं वे प्रगतिवाद के अन्तर्गत हैं। इस दृष्टि से निराला जी भी प्रगतिशील कवि हैं। उन्होंने प्रगति वहाँ की है, जहाँ मुक्तक-छन्दों की हिन्दी में मौलिक सर्जना हुई है। पन्तजी भी प्रगतिशील हैं, युगवाणी, युगान्त और विशेषतः ग्राम्या की सृष्टि की दृष्टि से नहीं, अपितु छन्दों की नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से। इस माप-प्रणाली के अनुसार और भी कवि प्रगतिशील-शब्द से अभिहित होंगे। प्रिन्सिपल जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' ने भी हिन्दी कविता को नई गति, नया जीवन दिया है। हृदय की वृत्तियाँ स्वच्छ और सत्य हैं। उनकी सच्ची अनुभूति में जीवन्त-शक्तियाँ हैं, प्रयोग की दृष्टि से औरों की उनसे तुलना नहीं हो सकती। प्रगति (विकास और नवीन और जीवन के अर्थ में) की अनुकूल धारा उनके काव्यों में विद्यमान है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी सच्चे अर्थ में छायावाद रहस्यवाद के युग के ही प्रगतिशील कवि हैं। परन्तु यहाँ उन्हीं कवियों का उल्लेख करूँगा, जो प्रगतिवाद की वर्त्तमान तुला पर तौले जा सकते हैं।]

९—हमारा प्रगतिशील साहित्य

दिनकर और प्रगतिवाद

अपने संस्कार को जीवित रखता हुआ, परिवर्त्तन और नवीनता का स्वागत करनेवाला साहित्य प्रगतिशील है, जिसमें जीवन और गति दोनों समान रूप से स्थान पाते हैं। इस स्थापना के आधार पर दिनकर के साहित्य का अध्ययन हमारा अभीष्ट है। साम्राज्यवाद की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति का दिनकर भी शत्रु है। उसकी कृषकों, मिल-मजदूरों, श्रमिकों के प्रति गहरी कारुणिक सहानुभूति है। परन्तु भौतिकवाद के वैज्ञानिक भावों से पुष्ट प्रगतिवाद का वह पोषक नहीं। वह उन साम्यवादी क्रियाओं का विरोधी है, जो राजनीति के आन्दोलनात्मक भारों को ढोने के लिए सदा प्रेरित करती हैं।*

यह इसलिए कि साहित्य की सार्थकता केवल राजनीति में नहीं है। अन्य कर्म की मनोदशाएँ भी अपना यथेष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्रगतिवाद राजनीतिक जीवन का प्रचारात्मक रूप ही कहा जा सकता है, यद्यपि जीवन की. प्रधानता, प्रबलता वह भी स्वीकार करता है। किन्तु इसके प्रकार पाश्चात्य सन्धानों में केन्द्रीभूत हैं, जो वस्तु-प्रधान भौतिकता को एकत्र करने का आदेश देते हैं। सांसारिक प्रवृत्तियों को स्थान न देना, प्रगतिवाद की दृष्टि में अपने विकास-मार्ग को अवरुद्ध करना है। दिनकर ने ठीक इसके विपरीत, प्रतिकूल भावों को अपनाया है। अपने सांस्कृतिक विनाश किसी भी विशिष्टवाद से अभिहित होनेवाले काव्य में देखने के लिए प्रस्तुत होना, उसके लिए कदाचित असंभव ही है।†

---

* 'साहित्य के क्षेत्र में हम न तो गोयबेल्स की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हमसे नाजीवाद का समर्थन लिखवाये और न किसी स्टालिन की ही, जो हमें साम्यवाद से तटस्थ रहकर फूलने-फलने नहीं दे सकता।''

—दिनकर : उदयपुर कवि-सम्मेलन में दिया गया अभिभाषण।

†अन्तर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा।.. ...जो लोग अन्तर्राष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर मास्को की ओर लगाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं। —दिनकर

पर वह प्रगतिवाद का शत्रु नहीं है, प्रगतिवादी मूर्त्त-सजीव भावों का महत्त्व उसे भी स्वीकार है। किन्तु, उसका मनमाना तीसरा अर्थ लगाकर प्रगतिवाद का जो विश्लेषण किया जाता है और जिस प्रगतिवाद की एक-मात्र सीमा है, मजदूर या निम्नवर्ग और राजनीति, उनको दिनकर कृत्रिम और कठोर मानता है। जन-पक्ष की जगह लोक-पक्ष उसके लिए ग्राह्य है। चूँकि जनमत की भावना या उसकी स्वीकृति पर जिस साहित्य का निर्माण होगा, वह भी सीमित वातावरण का ही वर्णन होगा, और लोकमत को ध्यान में रखकर जिस साहित्य का आधार स्थिर होगा, वह वर्त्तमान की समस्त परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर चुका रहेगा और अतीत की यथार्थ, सार्थक भावनाओं को भी सजीव रखने के पक्ष में रहेगा। वर्त्तमान प्रगतिवाद मार्क्स के सिद्धान्तों से स्पष्ट प्रभावित है जो अर्थ पर ही अवलम्बित है, जिसका भाव-प्राङ्गण राजनीति है, जिसका विकास साम्यवादी भावनाओं पर निर्भर करता है। साम्यवादी क्रियात्मक आन्दोलन साहित्य में गौण रूप से ही स्थान प्राप्त कर सकता है, उसकी मुख्यता साहित्य के लिये अनुचित होगी। समाजवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, भौतिकवाद या कोई भी बौद्धिक आधार पर स्थित रहनेवाला वाद हो, साहित्य में एक इकाई बनकर ही स्थान पा सकता है। इसके विपरीत जिस साहित्य में इनका भाव-निरूपण होगा, वे अनुकरणीय कदाचित् ही हों। चूँकि समस्त भावों का वाहक साहित्य सम्पूर्णता की महत्ता प्रदर्शित करेगा।

एक क्षेत्र की क्रियात्मक शक्ति के आधार को अपनानेवाले प्रगतिवाद की वास्तविकता में असन्तोष की भावना अधिक उग्र है; संघर्ष जीवन में बल का आरोप कर ले, किन्तु वास्तविकता की आड़ में जो प्रचारात्मक भावना है, उसकी अवहेलना अनुचित नहीं है। कल्पना के सुखद भवन का निर्माण अवास्तविक अवश्य है; किन्तु जीवन के एक निर्जीव पक्ष को ग्रहणकर निर्मित नीड़ भी वास्तविक नहीं कहला सकता, एक प्रकार से यह मार्क्सवादी नीड़ होगा, जो किसी भी साधारण आँधी में अपना अस्तित्व खो सकता है।

व्यक्ति की प्रधानता में भी कवि ने प्रगतिशीलता की जड़ देखी है। क्रान्ति की जागरूक भावनाएं व्यक्ति के हृदय से फूटती हैं। समूह की विचार-धारा व्यक्ति में भी सन्निविष्ट हो सकती है, यदि व्यक्ति एक की सीमा से बाहर निकल चुका है। रूढ़ियों का परित्याग उसे कदाचित् अप्रिय है। क्रान्ति की आग सुलगाने के लिए इनको तोड़ना वह आवश्यक नहीं समझता, और

प्रगतिवादी दृष्टिकोण को यह अमान्य है। समूह के निर्णय और समूह की अभिव्यक्ति का इस ओर पूर्ण संकेत रहता है कि रूढ़ियाँ और परम्पराएँ त्याज्य हैं। प्रगतिवादियों का भी विश्वास है, समूह के विचार में समाजवाद की स्थापना के लिए किसी भी प्रकार के आन्दोलन के उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत है। अत: उसकी समस्त प्रतिक्रियाएँ स्वीकृत होनी चाहिए।

व्यक्ति-वाद में वर्त्तमान जागरण के सारे लक्षण विद्यमान थे। इस दृष्टि से उसकी प्रवृत्तियाँ भी मान्य होनी चाहिए थीं। क्रान्ति के जन्म के कारण यद्यपि समूह में रहते हैं, उसे प्रगट करनेवाली आग व्यक्तियों के हृदय से फूटती है। समूह की पीड़ा की अनुभूति व्यक्ति के लिए हृदय की गम्भीरता में होती है, और क्रान्ति की योजना भी व्यक्ति ही बनाता है। अतएव यह बहुत आवश्यक था कि हमारे वर्त्तमान जागरण का उद्भव व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियों से हो।

रूढ़ियों के परित्याग के कारण हैं उनकी शृंङ्खला तोड़ने की भावनाएँ। ये सब व्यक्ति के सीमा-बन्धन में निहित हैं। अपने भविष्य को अन्धकारमय जब वह देखता है, स्वाभाविक रूप से उन शृंङ्खलाओं से उसे घृणा हो जाती है। हृदय की क्रान्तिमय उथल-पुथल के परिणाम में उन्हें छिन्न-भिन्न करना चाहता है। परन्तु बौद्धिक चेतना निर्बल रहने के कारण वह उन्हें शत्रु समझने के लिए बाध्य होता है। कवि का कहना भी है—'रूढ़ियों की शृंङ्खला तभी टूटती है, जब व्यक्ति अपने निर्बन्ध विकास के लिए आतुर हो उठता है।' रूढ़ियाँ कहाँ तक उसके विकास-पथ में बाधक या सहायक हैं, इस पर ध्यान सहज ही नहीं जाता, जिसका कारण बुद्धि की चादर ओढ़ना है। प्रगतिवाद की प्रचारात्मक शक्ति में आन्दोलन की निश्चेष्ट चेतना है, जो बौद्धिक प्रौढ़ता को ढोने में असमर्थ है। समाजवाद के सिद्धान्त में इसके विरोध की क्रिया को तीव्र करने की जो आस्था है, वह भारतीय स्थिति को सुधारने में असफल सिद्ध होगी, चूँकि उसके प्रवर्त्तकों ने यहाँ की स्थिति को मापने के लिए वहीं के दृष्टिकोण को अपनाया है। समूह समाज का पर्याय बनने को दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत है। किन्तु व्यक्ति की उस सत्ता को वह स्वीकार नहीं करता, जो उसीकी समस्याओं को अकेले हल कर लेती है। इसकी उसमें पूर्ण क्षमता है। साधारण सीमावाली स्थिति में वास करनेवाले व्यक्ति के विचारों को महत्त्व देने का आग्रह नहीं है; व्यापक, सम्पूर्ण विस्तार या विकास की चिन्ता में निमग्न रहनेवाले व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करने का आग्रह है, चूँकि स्वार्थ और प्रचारात्मक भावना को उसमें सम्भावना नहीं

है, समूह में यह सम्भव हो सकता था, चूँकि उसके प्रवर्त्तक स्वार्थ की क्रियाओं को प्रचार के रूप में ग्रहण कर चुके हैं। उनके विश्वास का आधार आन्दोलन है, जिसमें राजनीतिक भावनाएँ वर्त्तमान हैं। कवि के हृदय की सहृदयता को वह प्रश्रय नहीं प्राप्त हो सकता। और व्यक्ति-कवि अपनी सहृदयता का सर्वत्र प्रदर्शन करता है, जो प्रचार से सम्भव नहीं है। और यदि इससे पृथक् हटकर प्रगतिवाद के समाजवादी आन्दोलन में बल लाने के लिए उसीके अनुरूप काव्य की सृष्टि करेगा, तो कला और सौन्दर्य स्थान नहीं पा सकते; परन्तु इतना सत्य है कि वह प्रगतिवाद के सम्पूर्ण सिद्धान्तों की प्रचार-क्रिया को ढोने की क्षमता रखता है, समूह की आवाज का अन्दाज अकेले वह लगा सकता है। विश्व के विविध प्रश्नों का उत्तर वह व्यक्ति-कवि सरलतापूर्वक दे सकता है। इसके लिए आंगिक भावनाओं, क्रियाओं का परित्याग आवश्यक है। दिनकर के प्रगतिवाद के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण हैं, वे भारतीय साहित्य के अवलम्ब-पक्ष को ग्रहणकर मार्ग-निर्देश करते हैं। सत्य में सौन्दर्य का प्रतिष्ठान भी काव्य की सूक्ष्म लाक्षणिक-विधियों को अपनाकर ही हुआ है। सामन्तवाद और जारशाही के विरुद्ध दिनकर ने भी व्यापक भाव व्यक्त किए हैं; किन्तु भारतीय संस्कार और काव्य के लाक्षणिक सिद्धांतों का बहिष्कार करके नहीं। जीवन के सत्य का विद्यमान रहना उसने काव्य की विशेषता समझी है। मनुष्य की आत्मा का प्रभाव काव्य पर स्पष्ट पड़ना चाहिये। श्रमिकों की अधिकार-प्राप्ति के लिए राजनीतिक भावनाएँ ग्राह्य होनी चाहिये; किन्तु उसकी विवशताओं, अभावों, दुःख-दैन्यों को काव्य का रूप दिया जाना उसे अधिक इष्ट है। प्रगतिवाद के लिए उसके हृदय में विद्रोह की भावनाएँ नहीं हैं; परन्तु साम्यवाद, समाजवाद की राजनीतिक शक्ति को अपनानेवाले प्रगतिवाद के प्रति उसे सहानुभूति नहीं है*।

काव्य की आत्मा का उसमें वह अभाव देखता है। शिष्ट-जीवन की सार्थकता भी उसमें सिद्ध नहीं होती। इसका यह संकेत नहीं है कि कवि राष्ट्रीय-क्रान्ति को, जो राजनीति से सम्पर्क रखती है, अस्वीकार करे। युग के साथ चलने में वह अपना पग पीछे नहीं रखता। साम्राज्यवाद की भयंकरता

---

*"साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं, बरन् उससे भिन्न एक स्वतंत्र देवता है और उसे पूरा अधिकार है कि जीवन के विशाल क्षेत्र में से वह अपने काम के योग्य वे सभी द्रव्य उठा लें जिन्हें राजनीति अपने काम में लाती है।"

—दिनकर

में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रसार उसे इष्ट नहीं था। शान्ति-क्रान्ति, हिंसा-अहिंसा, दोनों को अपनाने की आवश्यकता उसने अनुभव की। पाश्चात्य-क्रान्ति की आग की लपट भारत के लिए उसे उचित प्रतीत नहीं हुई। अतः यहाँ के लिए उसने दूसरी ही क्रान्ति का स्वरूप स्थिर किया। गान्धीवाद के व्यावहारिक, दार्शनिक भाव ने भले ही उसे प्रभावित किया हो, किन्तु साम्राज्यवाद की कठोरता और उग्रता का उत्तर देने के लिए गान्धीवाद के अहिंसात्मक सिद्धान्त को उसने अक्षम समझा है। क्रान्ति के विश्लेषण में केवल आग की उत्तेजना ही उसने स्वीकार न की, वरन् उत्साह, विश्वास, बल, धैर्य, सहिष्णुता की सत्ता भी। भूखों, कंगालों की दीनतापूर्ण याचना की पूर्त्ति क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव है। अतः युग के असत्य, स्वार्थ और अनाचार को रोकने के लिए जिस शक्ति, जिस प्रयत्न का उसने स्वागत किया, उसमें अहिंसा को स्थान नहीं। अनाचार, अत्याचार और असत्य के दमन के लिए, इस सिद्धान्त का एक प्रकार से उसने विरोध किया है। परतन्त्रता की जकड़ में वह कड़क उठाना चाहता है। और इसीलिए एक बार गान्धीवाद को लक्ष्यकर कह उठता है—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गांडीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।

क्रूरता, नृशंसता, हिंसा के इस सबल युग से होड़ लेने के लिए युधिष्ठिर (गान्धी) के सिद्धान्तों पर आरूढ़ रहना उचित न होगा। क्रान्ति-अनल के स्रष्टाओं की सत्ता ही इसकी क्षमता रखती है। परन्तु इसकी भूमि में अमानुषिकता का प्रचार नहीं समझना चाहिये। मानवता की नींव डोल उठी है, हिल उठी है; इसीलिए कवि की आत्मा में इन भावों का उन्मेष हुआ है। मानव की ध्वंस-लीला, वह देखने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

काव्य के आधार में कल्पना जहाँ तक अपना महत्त्व रखती है, वहाँ तक दिनकर ने उसको स्वीकार किया है। परन्तु प्रगतिवाद की मान्यताएँ कल्पना को थोड़ा भी प्रश्रय देना उचित नहीं समझतीं। दृश्य-काव्य के विस्तार के निमित्त कल्पना-जगत् में विचरना आवश्यक हो जाता है, परन्तु सत्य वहाँ छोड़ा नहीं जाता। कोरी कल्पना की महत्ता वह भी नहीं मानता। उसका सत्य और कल्पना के लिए कहना है—"*अगर किसी ने कवि की कल्पना में*

सत्य का आरोप माना है तो केवल इस विश्वास पर कि आखिर कवि भी वस्तु-जगत् का जीव है, और उसकी उड़ान का आधार संसार ही रहेगा।" अनुभूति और अध्ययन के आधार पर काव्य की सृष्टि करने-वाले कवि की कल्पना असत्य की वाहिका शक्ति नहीं सिद्ध होगी। प्रगतिवाद का दृष्टिकोण कल्पना के स्वप्न का विरोध करना आवश्यक समझता है। यह उचित है। सत्य या वास्तविकता जहाँ तक अपना प्रभावपूर्ण कार्य किये जाती है, वहाँ तक उसका विरोध अनुचित है। काव्य की भूमि कल्पना पर ही निर्मित हो तो उसकी सत्ता कोई नहीं मान सकता; उस भूमि की उपज अपना प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकती। 'रेणुका', 'रसवन्ती' में कुछ ऐसी भावनाएँ अवश्य व्यक्त की गयी हैं, जो सत्य का अवलम्ब नहीं ले सकी हैं। किन्तु 'हुँकार' में कवि अपने सत्य-सदन में निवास करता है। 'द्वन्द्व-गीत' की पंक्तियों में दर्शन की आन्तरिक अभिव्यक्ति है; फिर भी वस्तु-प्रधानता की उसमें सुन्दर अभिव्यंजना है।

परन्तु प्रगतिवाद के वर्त्तमान अर्थ की अभिव्यक्ति 'हुंकार' में हो सकी है। राष्ट्रीय चेतना अभाव की पूर्त्ति के लिए सजग होती है। जमीन्दारों, मालिकों द्वारा दलित मानव के लिए विद्रोह की भावना का प्रचार आवश्यक समझता है। उन्हें सत्ताधारियों से अधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ने का आदेश नहीं देता, बल्कि मालिकों को दलित, पीड़ित, शोषित मानवों की स्थिति समझाता है। शरीर पर अपना भी अधिकार है, यह समझने की भावना देता है। राष्ट्र की उद्बोधन-शक्ति जरा दूर हट जाती है। चूँकि समाजवाद की स्थापना की भावना उसमें नहीं है। वह सिर्फ इतना ही जानता है—पीड़ितों, शोषितों की विवशताएँ उन्हें खाये जा रही हैं। इनकी दयनीय अवस्था का अन्त करने के लिए क्रान्ति का शान्त रूप आवश्यक है। इससे हटकर राष्ट्रीय परतन्त्रता को दूर करने के लिए वह क्रान्ति का उग्र रूप चाहता है। दोनों के लिए क्रान्तियाँ आवश्यक हैं; किन्तु उनके स्वरूप में भिन्नताएँ हैं। प्रगतिवाद के सिद्धान्त को अपनाकर यदि दिनकर के काव्य को विभाजित किया जाय जो प्रतीत होगा, राष्ट्र की मनोदशाएँ मूर्त्त रूप से उसमें अधिक प्रकट हैं और प्रगतिवाद समाजवाद की भावना से पुष्ट है जो अपने आप में सीमित है। कवि की आँखें एक ओर विवश मानव की दीनता की ओर गयीं, तो दूसरी ओर समूचे राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रश्न को लेकर उलझीं। वह मार्क्स के दृष्टिकोण पर अपने काव्य के स्वरूप को नहीं दृढ़ करता। समाजवाद के मूल में उसकी भारतीय नीति, रूस की स्थिति से पृथक् है।

क्रान्ति की क्रिया भारतीय समस्याओं के समाधान में सफलता प्राप्त करे, यह उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तीकरण है।*

एक विशेष परिस्थिति में पलनेवाले मानव के अभाव की ही उसे चिन्ता नहीं, अपितु किसी भी मानव का अभाव उसे असह्य है। रोटी-दाल और वसन की पूर्ति किसी भी मानव के लिए आवश्यक है। परन्तु मूल में यह वह भूल न सका है कि सीमा में स्थित मानव को इनका अभाव अपेक्षाकृत अधिक है। किन्तु उसकी वाणी मूक है। यदि उसे वाणी प्राप्त हो गयी तो स्वयं वह अपना अधिकार प्राप्त कर सकता है।

राजनीतिक आन्दोलन से इस कला की परिव्याप्ति असम्भव है; किन्तु वर्ग-नैमित्तिक साहित्य का सर्जन करनेवाला कलाकार भौतिकवाद और राजनीति में इसके प्राण फूँकने की विफल चेष्टा करता है। यहाँ वह तर्क की सरलता से यह सिद्ध करना चाहता है कि कला कोई परे की वस्तु नहीं है। इसकी यह सिद्धि-प्रणाली यूरोप की है जो वस्तु-प्रधानता का अच्छा उदाहरण है। और राजनीति में कला का पूर्ण प्रवेश सम्भव है, कलाकार व्यर्थ की पृथकता प्रदर्शित करता है। किन्तु मानव-जीवन की उच्चता की महत्ता चूँकि वे स्वीकार नहीं करते, अतः कला की परिणति राजनीति में समझते हैं। जीवन की साम्य-भावना में उनकी दृष्टि इस सीमा में रही है कि सम्पूर्ण वर्गीय-जीवन एक ही भाव को ग्रहणकर अपना स्वरूप निश्चित करे। वैसी अवस्था में एक के जीवन की उच्चता नहीं स्वीकृत हो सकती। कर्त्तव्य की अपेक्षा अधिकार-पूर्णता का उनके यहाँ अधिक महत्त्व है। और कला कर्त्तव्य की महत्ता स्वीकार कर अपना महत्त्व सिद्ध करती है। मानव-जीवन में कर्त्तव्य-पालन एक सौन्दर्य का विधान है, जिसकी कला पूजा करती है। बल्कि कला इस सौन्दर्य का अधिकृत अंग है, जो भौतिकता या राजनीति की नीरसता या शुष्कता में अमूर्त्त है। दिनकर चूँकि उनकी इस आधार-शिला पर दृढ़ नहीं है, अत: उसका निष्कर्ष है—"कला राजनीति से ऊँची न भी हो, लेकिन निश्चय ही वह राजनीति से भिन्न है। और यह देखा भी गया है कि देश के गीतों की रचना करने वाले इस चिन्ता में नहीं रहे हैं कि उनका कानून बनाने वाले कौन हैं।† कला की नीति, राजनीतिक नीतियों में सम्मिलित

---

* पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने ही देश का मनुष्य होता है। — दिनकर

† हमारे सामने का हिन्दी-गद्य। —दिनकर

नहीं हो सकती, जिसका एक रूप उसने यहाँ प्रदर्शित किया। जीवन-धर्म के साथ जिसका सूक्ष्म सम्बन्ध है, उसका आन्दोलन-विपर्यय में हठ-पूर्वक समावेश कराना अनुचित है, इस उद्योग में काव्य-पक्ष गौण और अधूरा रहेगा और जीवन की प्रत्येक क्रिया को स्वीकार करने वाले काव्य की अभिव्यञ्जना कला की पोषिका है। मानवात्मा उसमें मूर्त्त होकर प्रकट होती है और कला इसीलिए मानवात्मा की अभिव्यक्ति को अपना एक विशिष्ट सौन्दर्य मानती है। परन्तु कला के सौन्दर्य का अन्वेषण करना, समाजवादी प्रगतिवाद को अनपेक्षित है। कहने के लिए वह तत्त्व का अन्वेषक है, सौन्दर्य का नहीं। यद्यपि उसके आधार पर दृष्टि डालें, तो स्पष्ट होगा, सौन्दर्य का वह इतना मोहक है कि तत्त्व की चिन्तना उसके लिए असम्भव है और इसकी प्रवृत्तियाँ इसलिए ऐसी निश्चित हुईं कि रूस के समाजवाद के अनुकरण में उसने सारी शक्ति लगा दी। आश्चर्य तो यह है कि अपने काव्यात्मक टेकनिक का विकास भी इसी अनुकरण में वह देखना चाहता है।* साम्यवाद की भावना में मूलतः वह पृथक् होकर भारतीय समाजवाद की विधियों पर अवलम्बित हो और जीवन के स्तर को निम्न में ही विभक्त न करे तो उसका विकास सम्भव है, अन्यथा संदिग्ध, भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ स्वतः उसके निर्णय के प्रतिकूल प्रवाहित होंगी। यद्यपि अपनी ही बौद्धिक दिशा की ओर वह अग्रसर होना चाहता है, तब भी परिणाम में वही होगा। आर्थिक सुधार के अनन्तर भी निम्न जीवन की प्रधानता में उसकी अपनी विधियाँ ही जीवित न होंगी; इसके लिए कई बार वह राजनीतिक क्रान्तियाँ ही क्यों न करे। सत्य के अभाव के कारण कला की कोई प्रगति शील रेखा उसमें नहीं हो सकती।

सङ्कीर्ण जीवन-यापन करने वाले कृषक-श्रमिकों की विवशता, दीनता के साथ सहानुभूति रखने के लिए उल्लसित वाणियाँ गूँथना दिनकर ने अपना कर्त्तव्य समझा है। वर्त्तमान प्रगतिवाद के इस आशय को बहुत पहले ही उसने व्यक्त किया कि जमीन्दारी प्रथा में कृषकों का शारीरिक या अन्य सब प्रकार का ह्रास है। निरन्तर परिश्रम के परिणाम में उनके ऋण घटने के बजाय बढ़ते ही जाते हैं, सुख की चेतना कुण्ठित हो जाती है, तप्त धरती पर

---

*प्रगति शब्द में जो नया अर्थ ठूँसा गया है, उसके फलस्वरूप हल और फावड़े कविता का सर्वोच्च विषय सिद्ध किये जा रहे हैं और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरने वाले कवि सिर उठाकर नहीं चल सकें। —रसवन्ती की भूमिका।

पैर में छाले पड़ते हैं । उनकी कराह में अन्तर्दाह है । इसी विवश भाव को कवि ने यों व्यक्त किया है :—

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी ।

पूँजीवाद के अनाचार की प्रवृत्ति का यहाँ अच्छा व्यक्तीकरण होता है । प्रगतिवाद का पर्याय भी यहाँ सिद्ध हो जाता है, बल्कि आन्दोलन में नेतृत्व की भावना से अभिप्रेत होकर जिन आधुनिक प्रगतिवादी कवियों ने कविताएँ की हैं, उनमें इसकी अपेक्षा स्थायित्व कम है । हृदय की अनुभूति से सजग होकर सत्य को कवि ने उतार दिया है । अपने को कहीं भी अस्पष्ट असत्य में व्यक्त करने का उसने प्रयास नहीं किया है । जनतन्त्र की भावना भारतीयता को लेकर है, उसका स्वरूप रूस के साम्यवादी आधार पर नहीं निश्चित किया है । यद्यपि अपने को उसने संकुचित दायरे में रखा है, परन्तु संकुचित दायरे की विवशता जो पूँजीवाद के कारण घर कर गई, उसे भी कवि ने विस्मृत नहीं किया है । दीन भावों के प्राङ्गण में निवास करने वाले कृषकों की आत्मा की याचना को ठुकराया जाना उसे भी असह्य है; किन्तु प्रचार के व्यापार से दूर रहने वाले व्यक्तियों की उक्तियों में अविश्वास की भावना है ।

आत्म-निर्भरता के साधन ढूँढ़ने की फिक्र में सांस्कृतिक गुण की विशिष्टता अस्वीकार करने वाले जनों का कवि विरोधी है । प्रगतिशील साहित्य के एक पक्ष को यह अप्रिय है । साम्राज्यवाद की भयंकर परिस्थिति में विश्व-युद्ध के पूर्व की अवस्था दयनीय थी ही, परन्तु उसका वर्त्तमान रूप और भी भयंकर, उग्र और साथ ही दयनीय हो गया है । विश्व-युद्ध में पलने वाले जनों की पीड़ा पराकाष्ठा पर पहुँच गई है । इनकी मनश्चेतनाएँ जैसे प्रसुप्त हो गई हैं, इनकी जाग्रति का कोई भी प्रयत्न विफल होगा । परन्तु दिनकर ने विश्वयुद्ध के पूर्व की दयनीय अवस्था में पतितों के लिए जो कहा, वह आज सन्देश का कार्य करने के लिए प्रस्तुत है, यदि जान-बूझ कर उसकी हम उपेक्षा न करें । उसकी जीवन्त-शक्तियाँ अधूरी और निर्बल नहीं हैं । अभाव की विवशता में बसने वालों के लिए उसकी प्रगतिशील पंक्तियाँ सुनिश्चित पथ का निर्देश करती हैं । अदम्य उत्साह और दृढ़ विश्वासपूर्वक अपने कार्य को हम पूरा करें, तो कदाचित् ही लक्ष्यसिद्धि तक पहुँचने में

असफलता प्राप्त हो। प्रगतिशील भावनाएँ, उनकी चेतना और बुद्धि मानवके विकास की सामग्री एकत्र करती हैं। दिनकर को अपनी कृतियों के स्थायित्व पर दृढ़ विश्वास है और इसी विश्वास का आरोप दीन-हीनों में भी करना चाहता है। पूँजीवाद के पोषकों या सत्ताधारियों का ध्वंस अनिवार्य है; किन्तु भारतीय भाव की प्रतिकूलता को अपनाकर नहीं। पंक्तियाँ उन्हें सजग करने में पूर्ण समर्थ हैं। जारशाही के प्रचारकों को अनाचार की वृद्धि के लिए सचेत करता है। क्रान्ति के स्फुलिंग समस्त सत्ता को जलाकर खाक कर डालेंगे, अन्यथा तुम सँभलो—

दुनियों के 'नीरो' सावधान
दुनिया के पापी जार ! सजग
जाने, किस दिन फुँफकार उठें
पद-दलित काल सर्पों के फन।

इन पंक्तियों में हृदय की वृत्तियों को सजग रखने की पूरी शक्ति है। श्रमिकों को इन्हें पढ़कर उत्साह प्राप्त होगा, जैसे वे समझेंगे, मुझमें भी आग की शक्ति है। अपूर्व बल का संचार उनमें होगा। ऐश्वर्य-वैभव का सुख भोगनेवाले को कवि भर्त्सनापूर्वक कहता है—तुम्हारे इस सुख के मूल में कितने विवशों की हड्डियाँ गली हैं! किसके पसीने की कमाई पर विलास-भवन का निर्माण किया है तुमने? तुम्हें अपने प्रति हेय की भावना होनी चाहिए थी। व्यर्थ गर्व से अपना सर ऊपर उठाते हो।

कवि में रवीन्द्र की ग्रामीण भावनाएँ भी विद्यमान हैं। कृषकों, मूकों को भाषा देने के पक्ष में कवि भी है। बौद्धिक ज्ञान देना उसे भी इष्ट है। आशय स्पष्ट है कि शिष्टतापूर्वक प्रगतिशीलता का जो वास्तविक अर्थ है, कवि ने उसे अपनी काव्य-चेतना का अंग माना है। अतीत की आवृत्तिकर सँभल जाने के लिए वह निर्देश करता है:—

आहें, उठीं दीन कृपकों की
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी! गरीबी के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें ।

वर्त्तमान में इठलानेवालों की आँखों की धूल झाड़ने की गरज से कवि अभिव्यञ्जना-शैली द्वारा भाव प्रकट कर रहा है। कल्पना के आकाशविहारी पंखों में भी धरती की मिट्टी की उड़ान है; चूँकि कवि को धरती के कोलाहल के बीच का जीवन अप्रिय नहीं है।

जनारण्य से दूर स्वप्न में
मैं भी निज संसार बसाऊँ

× × ×

रह-रह पंखहीन खग-सा मैं
गिर पड़ता भू की हलचल में। —हाहाकार

परन्तु श्रमिक-साहित्य की सृष्टि के मूल में दिनकर की राष्ट्रचेतना जाग्रत है। सर्वप्रथम व्यक्ति से ऊपर उठकर राष्ट्र की सुप्त चेतना की जागृति की उसे चिन्ता है। वह स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अमोघ मन्त्र फूँकना चाहता है। आँखें मनस्तत्व के विश्लेषण में जब चारों ओर दौड़ती हैं, उनका प्रसार पर्याप्त हो जाता है, तब कवि राष्ट्र के विकास का सबसे बड़ा साधन समाज की वास्तविकता को समझता है। वैसी अवस्था में उच्च-वर्ग स्वाभाविक रूप से अभाव से परे है या इसके अर्थ से भी वह अविदित है। मध्य-वर्ग विवश और अपूर्ण है, किन्तु अधिक चिन्ताशील। तीसरा है, निम्न-वर्ग; वह अभाव का स्पष्ट और पूर्ण अर्थ जानता है; किन्तु मध्य-वर्ग की तरह वह चिन्ताशील नहीं है। चूँकि उसकी परिस्थितियाँ जीविका से विमुख नहीं हैं, बड़ा अन्तर यह है कि परिश्रम (शारीरिक) द्वारा भोजन प्राप्तकर सकना उसके लिए विशेष कठिन नहीं है। किन्तु विवशता और व्यक्तिगत असुविधा भी है। सुख, शान्ति, सन्तोष नहीं है। इसलिए कि विश्राम का अवकाश या अवसर नहीं प्राप्त होता है। किन्तु मध्य-वर्ग जो परिश्रम करेगा, वह बौद्धिक ही, जो शारीरिक श्रम की अपेक्षा अधिक निर्बल है। परिस्थितियों में विभिन्नता अवश्य है। राष्ट्र की शक्ति दृढ़ करने के लिए समाज की वास्तविक नींव पर दृष्टि जानी चाहिए। एकाङ्गी समाज-विधान वर्ग-विशेष की ही सुविधा पर ध्यान देगा। कवि चाहता है, वर्ग समूह के अर्थ में अभिव्यञ्जित हो, और व्यापक भावना के बल या आधार पर उसके समाज का शिलान्यास हो; प्रगतिवादी साहित्य की सीमा में उसे विचरने देने के पक्ष में वह नहीं है।

दिनकर की प्रवृत्तियाँ

जीवन-साहित्य की विशद व्याख्या में प्रगतिवाद का सीमित अर्थ संकुचित वातावरण का ही निर्माण कर सकेगा, अतः कवि अपनी स्वतन्त्र-दृष्टि से उसकी पृथक् मापक-विधि प्रस्तुत करता है। जीवन की विशिष्टता गुण और धर्म से युक्त कर्त्तव्य द्वारा सिद्ध होती है। उसमें असत्य-सत्य, पाप-पुण्य अभाव-पूर्णता का समुचित विश्लेषण रहता है, उसके विस्तार या प्रसार के लिए अन्तर की स्वच्छ प्रवृत्तियाँ सहायक-स्तम्भ प्रमाणित होती हैं, साहित्य का अलङ्कार पक्ष इन स्वच्छ प्रवृत्तियों की प्रगति पर पूर्ण विश्वास का आदेश देता है। परन्तु प्रगतिवाद बुद्धि की प्रयोगिक शक्ति के मूल में इन प्रवृत्तियों को विनाशक घोषित करता है। कर्म की प्रधानता में जैसे विश्राम-शान्ति का स्वप्न भी निषेध हो। उसके भाव रूप में हृदय की स्वच्छ प्रवृत्तियाँ कदाचित् कर्म की ओर उन्मुख न करती हों, किन्तु भावनाओं के प्रारंभ की क्रियात्मक शक्तियाँ कहीं भी ऐसा समझने का अवसर नहीं देतीं। बुद्धि की चिन्तन-क्रिया यदि भौतिकता से पृथक् रहे तो प्रवृत्तियों की जागरूकता पर कर्म की सुनिश्चित विधियाँ प्रभाव सिद्ध कर सकती हैं; किन्तु जड़ और नीरसता की प्रच्छन्न गुप्त क्रियायें विचारों के जाल में जनों को उलझा देती हैं, फलतः निसर्ग की विकृतियाँ सम्मुख विरोध बनकर आ खड़ी होती हैं।

निर्णय, निष्कर्ष की पृष्ठभूमि में निसर्ग विकृत्तियाँ मानव की स्वच्छ प्रवृत्तियों का महत्त्व नहीं प्रदर्शित होने देंगी। वे बुद्धि का गहन सम्बन्ध भौतिकता के आधार के साथ प्रदर्शित करती हैं। कवि भी ऐसे स्थल पर प्रवृत्ति की स्वच्छता के विश्वास से हटकर बौद्धिक नियम में उलझ गया। ऐसी स्थिति में चलते-चलाते उसे जीवन की गति में परिवर्त्तन अपेक्षित हुआ, तीव्र सुलगते अनल को बुझाने की चिन्ता के परिणाम में भीतर की क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ परिवर्त्तित हो गईं और अनल की शान्ति के लिए सागर-जल का रसवन्ती-रूप अवतरित हुआ।

दिनकर रसवन्ती में अस्वाभाविक रूप से उतरे, विचारों में उलझनें रहीं। परन्तु पलायन प्रवृत्ति की यह सूचना नहीं है; रेतीले यात्री को थकान की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिन्दगी के जुये में हारा अवश्य, इतना सहज ही में स्वीकार किया जा सकता है। छायावाद का युग-धर्म अपनी सत्ता लेकर, हृदय की सरसता का प्रभाव दिखाता है, किन्तु यह युग-धर्म कवि में व्यक्ति का गुण है, वर्ग की व्यञ्जना प्रच्छन्न रहती है। जीवन की व्यापक प्रवृत्तियाँ

विशेषतः दिनकर की उमङ्ग, उत्साह, जागृति से पूर्ण थीं; अन्तर्दाह का अनल-किरीट उग्रता की तप्तता से अभिभूत था। जलन के उफान में ही उसकी प्रवृत्तियाँ सफल हो सकती थीं। अपनी भावनाओं के प्रतिकूल सौन्दर्य में आकर्षण, मादकता, मुग्धता मिली, यह मूल में रहते हुए भी कि यह असत्य और क्षणभंगुर है।

स्पष्ट-रूप से कवि विचलित हो गया, उसका विश्वास निर्बल सिद्ध हुआ। संसार के साथ पग मिलाकर चलने की इच्छा ने उसे विवश किया, काव्य-आनन्द से, भौतिक आनन्द की चिन्ता करने के लिए। अन्यथा कभी उसकी उग्र परिणति शान्ति की स्निग्धता में न हो सकती थी। तर्क के निष्कर्ष में उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति निर्बल और अदृढ़ प्रमाणित होगी, किन्तु इसके लिए उसकी मान्यतायें अस्वाभाविक और असत्य नहीं होनी चाहिए। भावनाएँ संदिग्ध और भ्रांतिपूर्ण हो सकती थीं।

रसवन्ती की सर्जना ने यद्यपि उसे सँभाल दिया है, और पुनः भारतीय-स्वतन्त्रता प्राप्ति का अवसर नहीं खोने का आग्रह और आदेश, दोनों कर रहा है। उसकी काव्यकला का 'टेकनिक' भारतीय वातावरण पर पुनः अवलम्बित होने लगा। जीवन के सत्य को रोमांस में परिणत करने में उसे कदाचित् अस्वाभाविकता की झलक प्राप्त हुई। 'फ्रायड' के सेक्स-सिद्धांत से भी प्रभावित या अनुप्राणित उसकी प्रवृत्तियाँ हुईं जिसके परिणाम में रसवन्ती की वे कवितायें लिखी गईं जो रोमांस की अच्छी जगह बना गईं। परन्तु जीवन को निकट से देखने का अवसर कवि को प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह नहीं। एक नई दिशा का संकेत होने जा रहा था, एक नई चेतना को लेकर कि मध्य हो में सजगता और जिज्ञासु की भावना सँभल गई, आंतरिक प्रवृत्तियों के यंत्रों का क्रम जैसे फिर ज्यों का त्यों सुस्थिर हो गया और कदाचित् इस सुस्थिरता पर कवि को परितोष है। 'टेकनिक' का निर्वाह, जीवन की आंतरिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण में हुआ है, विशेषतः वहाँ, जहाँ विषमतायें, निम्न-पक्ष से भावना-पक्ष का महत्त्व सिद्ध करने लगी हैं। नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रयोग के लिए नूतन कहे जा सकते हैं, किन्तु विश्वास और आशा के लिए वर्त्तमान योरोपीय आधुनिकता का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होगा।

पूर्व की कृतियों में भौतिकता का लोभ-मोह नहीं था, कदाचित् इसी-लिए 'अरस्तू' की विश्वस्त भावनाएँ और नियमन कवि के मूल में थे। नारी की संस्कृति की आवश्यकता के पीछे (निर्णय के लिए) 'अरस्तू' ही अपनी संजगता के साथ कवि को घसीट रहा था। सहसा उठी आँधी में परिवर्त्तन का

झोंका आया। इस भावना को अवकाश मिला कि अब तक पहाड़ों की होड़ लेने के नीरस विचार की चिन्ता में ही समय गवाँ रहा हूँ। विश्व की वैभव-पूर्ण सम्पत्ति के भोग का मैं भी अधिकारी हूँ।

इन भावनाओं के आविर्भाव ने सस्ती भावुकता को जगह दी। साधारण-जन की सूझ मिलने लगी। परन्तु इसको विस्मृत नहीं करना होगा कि भौतिकता के प्रभाव ने नारी के प्रति अश्लील और घृणा की भावना नहीं भरी। उसके प्रति आस्था और श्रद्धा की ही उसने अञ्जलि चढ़ाई है। प्रगतिशीलता की आँधी ने वर्त्तमान हिन्दी-कवियों में ऐसी प्रेरणायें दी हैं, जो योरप की अनुकृति पर आधारभूत हैं। उन्होंने नारी को रोमान्स की गोद का सुन्दर आकर्षक खिलौना प्रमाणित करने का घृणित प्रयास किया है। नारी की मनोदशायें, आन्तरिक चैतन्य प्रवृत्तियाँ आखिर मानव के विशिष्ट गुणों से ही प्रभावित हैं। रसवन्ती की सरसता में नारी के स्नेह की स्निग्धता पवित्र ही रही है। दिनकर की पौरुष-प्रवृत्तियाँ दानवता से निर्मित नहीं सिद्ध हुईं, यह सांस्कृतिक रूढ़ियों का प्रभाव है। नूतन प्रयोग की इस अवस्था में कवि को (अपने ही दृष्टिकोण में ही सही) वह सफलता प्राप्त हुई जो आत्म-विश्वास की सिद्धि के लिए पर्याप्त है।

जीवन के सत्य के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति अनुचित और हेय है। काव्य-सृष्टि में भी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। भौतिक भाव रसवन्ती में जिस प्रकार गुम्फित हुए हैं; उसी प्रकार केवल बौद्धिक केन्द्र-विन्दु पर ही दर्शन के आधार से पुष्ट 'द्वन्द्वगीत' की सृष्टि हुई। सहज, किन्तु अस्वाभाविक परिवर्त्तन उसमें भी हुआ। जीवन के सत्य के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति इसमें सूक्ष्म दृष्टि डालने पर दीखेगी। अपने को स्पष्ट करने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है। साथ ही यह भी सत्य है कि रसवन्ती की अपेक्षा इसमें प्रौढ़ता और स्थायित्व अधिक है। भावों के प्रतिकूल व्यक्तीकरण को प्रश्रय नहीं दिया गया होता तो निस्सन्देह द्वन्द्वगीत हृदय के गुण और काव्य के भी समस्त गुणों को ढो सकता था। बौद्धिक प्रवृत्तियों में मनोवैज्ञानिकता की क्रियात्मक शक्तियाँ भी मूर्त्तरूप से विद्यमान हैं। संघर्ष से ऊबकर विश्व से भागने की प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ अपने जीवन की शान्ति का अन्वेषण हुआ है, वहाँ पलायनवाद के गुण कार्य करते, परन्तु काव्य-रहित वातावरण की क्षुब्धता हृदय में नहीं घर कर गई है, अतः गम्भीर चिन्तक की तरह सुस्थिर भाव से अपने जीवन का तात्त्विक विश्लेषण किया है।

मूड और टाइप की विलक्षणता भी वहाँ दीखती है जहाँ चिन्तन की अलग साधना दृष्टि-पक्ष में आती है। यदि सत्य के भाव-पक्ष ग्रहण करने में भूल न की गई होती तो द्वन्द्वगीत में सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति होती। और कवि के लिए भी यह अच्छी प्रशस्ति होती। स्वच्छन्द भागी जाती हुई प्रवृत्तियों को पकड़ने का प्रयास किया गया है। स्वाभाविक जीवन के विषय में उसकी विचारधारा ही बदल गई। परन्तु एक सुनिश्चित दिशा का निर्देश अवश्य होता है। अनेक विचारों के निष्कर्ष के उपरान्त द्वन्द्वगीत की सर्जना हुई, यह स्पष्ट-रूप से व्यक्त हो जाता है। उसकी प्रवृत्तियाँ कई विपरीत भावों की सर्जनात्मक शक्तियाँ रखती हैं, द्वन्द्वगीत को यह प्रमाणित करने का सबल साधन प्राप्त है। साहित्य के सार्वभौम शिव-भाव के प्रति विश्वास की जागरूकता है। वर्त्तमान युग का प्रभाव व्यञ्जित होता है। रेणुका, हुंकार के पश्चात् साहित्य की गतिविधि, योरप की मान्यताओं पर निश्चित होती है।

द्वन्द्वगीत का बैकग्राउण्ड उन्हीं पर अवलम्बित होता है। अब एक प्रकार से कहना चाहिए जीवन की विविधता में विषमता की भावना का आरोप पाश्चात्य प्रभात का प्रतिफलन ही है। साहित्य और जीवन की घनिष्ठता के लिए पहले उनकी यह धारणा नहीं थी कि वह जीवन की आलोचना है। 'मैथ्यू आरनोल्ड' के सिद्धान्त ने अपनी सत्ता का प्रभाव डाला फलतः (Literature is the criticism of life) की कवि को आवृत्ति करनी पड़ी।

इसके पूर्व अभाव और आवश्यकता के आग्रह की प्रवृत्ति में लिखी गई कविताओं में अमेरिकन समीक्षक 'हेनरी हेजलिट' के जीवन साहित्य अपना प्रभावपूर्ण कार्य करते थे। अज्ञात रूप से उसकी क्रियात्मक शक्तियों ने काव्यात्मक प्रवृत्तियों में परिवर्त्तन की रेखा दौड़ाई। इन परिवर्त्तित प्रवृत्तियों से एक लाभ अवश्य हुआ, जिसने बुद्धि-धर्म और टेकनिक रूप की व्यञ्जनाशक्ति को प्रौढ़ और सजग बनाया। कला मात्र के लिए जीवन का निर्माण वह नहीं मानता, किन्तु एक कला अवश्य स्वीकार करता है। दूसरी उसकी व्यक्तिगत विशेषता वह है जो जीवन को एक परिधि में, एक सीमा में नहीं ग्रहण करता, प्रगतिवाद इसके प्रतिकूल जीवन को एक दायरे में स्वीकार करता है। अनेकों के एक जीवन का लक्ष्य, उद्देश्य कर्त्तव्य-पक्ष को दृढ़ करता है, कवि मानों इसकी सिद्धि के लिए व्यग्र है।

पाश्चात्य अध्ययन ने अपना यह प्रभाव नहीं डाला कि भावना की सोद्देश्यता की स्वीकृति के लिए, विज्ञ पाठक का आग्रह करो। परन्तु भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिकता उन्होंने स्पष्ट स्वीकार की है। सब सिद्धान्तों को अपने प्रतिकूल अपनाकर उन्होंने अपनी अन्ध-प्रज्ञा की सूचना नहीं दी है। किसी भी सैद्धान्तिक सामञ्जस्य के मूल में उनके विचारों का बड़ा संघर्ष रहा है। हृदय के गुण और बुद्धि-धर्म ने पुनः आवश्यक और उचित परिवर्त्तन किये। द्वन्द्वगीत की रचना के अनन्तर वे भारतीय सांस्कृतिक निधियाँ अपनी-अपनी जगह फिर आ गईं जो हुंकार के बाद एक ओर उपेक्षित पड़ी थीं। 'आग की भीख', 'जवानियाँ', 'मास्को और दिल्ली' कवितायें पूर्व की स्थितियों का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करती हैं। दूसरी ओर सृष्टि के मूल की विधियों की विश्वस्त किन्तु समस्त परिस्थितियों की दीनता का कवि उल्लेख करता है। चारों ओर की दयनीय परिस्थिति की लुब्धता से क्षुब्ध होकर संसृति के नियमन से उसका विश्वास उठने लगता है। निर्णय में उसके मन्तव्य कहते हैं, विध्वंस की निश्चयता सिद्ध होने के सबल लक्षण दीखते हैं। और परिणाम में शीघ्र अब मनु का दीप बुझने वाला है। सारी दुनिया अब उजड़ने को नहीं, उजड़ चुकी है। चिन्तन के क्षण में लिखी गई कविता 'अन्तिम मनुष्य' इसी विश्वस्त निर्णीत आशय को व्यक्त करती है। मानव-सृष्टि पर उसे गर्व है, उसकी शक्तियों पर दृढ़ विश्वास है। सूर्य के यौवन का ह्रास हो चुका है, उसकी ज्योति क्षीण हो चली है; अद्भुत सृष्टि की विलक्षणता के लिए विश्वप्रसित है, उसका वृद्ध हो जाना स्वाभाविक था:—

वृद्ध सूर्य की आँखों पर माँडी-सी चढ़ी हुई है।
दम तोड़ती हुयी बूढ़ी-सी दुनिया पड़ी हुई है॥

सूर्य और दुनिया का विश्लेषण स्पष्ट भावों का सुन्दर अभिव्यञ्जना है। वर्त्तमान, विद्यमान स्थिति का इतना सुन्दर, गम्भीर वर्णन बहुत कम ही कविता में प्राप्त होगा। भीतर की स्वच्छ काव्यात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रौढ़ हो चुकी हैं कि वे काव्य की प्रेरक-शक्तियों में सत्य बनकर आयेंगी। 'अन्तिम मनुष्य' कवि की चिन्तन-शक्ति की गम्भीरता का द्योतक है।

'पन्त' की प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ

छायावाद-रहस्यवाद की भावधारा में पलनेवाले 'पन्त'जी में प्रगतिशीलता की भावना लेकर एक महान परिवर्त्तन हुआ। यों इसका संकेत या आभास 'युगान्त' में मिल चुका था। परन्तु 'ग्राम्या' में लोगों ने पन्तजी को विशेष

प्रगतिशील पाया। वस्तु-प्रधान मैटर, उसमें अवश्य संगृहीत हुए हैं, किन्तु प्रगतिशीलता का जहाँ यथार्थ या वास्तविकता से सम्बन्ध है, वहाँ उसकी सामग्रियाँ निर्बल और निरवलम्ब प्रतीत होती हैं। कल्पना का लोभ पन्तजी में सर्वत्र प्राद्र होगा, उस लोभ का वे यहाँ भी संवरण नहीं कर सके। 'ग्राम्या' की आधार-भित्ति ठोस और दृढ़ नहीं है, इसलिए कि वह धरती से दूर है। मिट्टी की गन्ध उसे प्रिय नहीं है। जीवन की तात्त्विक विवेचनाएँ उसमें नहीं मिलेंगी। अपनी जगह वे छायावाद-रहस्यवाद में ही पूर्ण रहे हैं। ग्राम्या में जिस जीवन की नींव डालने की चेष्टा-प्रचेष्टा हुई है, वह शिष्ट; मध्यवर्ग में निवास करने वाले मानव पर आधारभूत है। और वे उसी वाद का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह सर्वविदित है। साम्यवाद की भावना की क्रियात्मक शक्ति, उनकी पूर्व प्रवृत्तियों में भी दृष्टिगोचर होगी। परन्तु उसमें रूस के समाजवाद की क्रियाएँ अपना कार्य करती हुई नहीं दीखेंगी। भारतीय-संस्कार से प्रभावित प्रवृत्तियाँ, मानवता की संस्तुति का अधिक ठोस मैटर के संग्रह में व्यस्त हैं।

'गुंजन' की कुछ कविताएँ इसी आशय को पुष्ट करेंगी। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के अनुरूप 'पन्त' जी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, और पड़ा भी किन्तु प्रच्छन्न रूप में। उसका उन्होंने अनुकरण नहीं किया, यह सत्य है। अध्ययन और अनुभव को अपने में अँटाकर, उसे मौलिक रूप देकर, मौलिक काव्य की सर्जना ही उन्हें इष्ट रही। 'पल्लव' की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में छायावाद-रहस्यवाद की प्रवृत्तियों के विश्लेषण में मौलिक सृष्टि का पृथक् महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जीवन और सत्य के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं व्यक्त हुई है। दोनों के सम्मिश्रण से जिस काव्य की सृष्टि होगी, उसके स्थायित्व में सन्देह को प्रश्रय नहीं मिलेगा।

'ग्राम्या' के जीवन का स्वरूप परिवर्त्तित हो जाता है, सत्य का बिलकुल तो नहीं, परन्तु वह गौण अवश्य हो जाता है, मानो निरुद्देश्य उसमें उड़ान मात्र है। हठ और दृढ़ भावना के बल पर वैसी कविताएँ लिखी गईं, जिनमें स्वाभाविकता की महत्ता अस्वीकृत है। परिवर्त्तन का स्वागत होना अनुचित नहीं है, किन्तु किसी भी अनावश्यक परिवर्त्तन का स्वागत उचित नहीं है। ग्रामीण भावना को काव्य में स्थान देना, अच्छा है, परन्तु वास्तविकता से दूर हटकर कल्पना को सम्मुख रखकर उनका चित्रण अस्वाभाविक होगा। और यह कहना संगत और उचित है कि 'ग्राम्या' में अस्वाभाविक चित्रण कहीं-कहीं निम्न धरातल पर चला आता है जो काव्यात्मक सौन्दर्य को विनष्ट

कर देता है। नूतन प्रयोग, नूतन विचार की दृष्टि से ग्राम्या ठोस भले ही हो, परन्तु काव्यात्मक, कलात्मक भावनाएँ उसमें स्थान नहीं पा सकी हैं। महत्त्व-पूर्ण जीवन उसमें इतना सीमित हो गया है कि कोई उसके प्रति अच्छी धारणा या भावना नहीं बना सकता। उसमें कला और सूक्ष्म दर्शन-तन्तु से पृथक भाव व्यक्त हुए हैं। सौन्दर्य की प्रबलता लेकर जिन भावनाओं को पन्त जी पहले से ग्रहण करते आ रहे थे, आश्चर्य है, उन्हीं का एक प्रकार से परित्याग हो गया है। ग्रामीणों, दूसरे शब्दों में निम्न कमकरों या कृषक-मज़दूरों की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के निमित्त साम्यवाद-समाजवाद से प्रभावित समीक्षकों ने उन्हें प्रगतिवाद के पोषकों में से घोषित किया। परन्तु यह सीमित विचारों का निष्कर्ष है। अन्यथा वे समाजवादी प्रगतिशील के पूर्व छायावादी रहस्यवादी प्रगतिशील कवि हैं। नये छन्दों, नई भावनाओं की जहाँ सृष्टि हुई है, वहाँ वे सच्चे अर्थ में प्रगतिशील हैं, काव्यात्मक सौन्दर्य, कलात्मक, अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी वे अपने युग के सच्चे प्रगतिशील कवि हैं। परन्तु वर्त्तमान सारी संदीप्त जीवन्त शक्तियाँ उनकी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेंगी। उत्तेजक प्रवृत्तियाँ, पूँजीवाद के खिलाफ विद्रोह की हुंकृति, व्यक्ति के प्रति अविश्वास की भावना और अधिकार-याचना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान भी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेगा। परिवर्त्तन या विकास के अर्थ में वे सच्चे प्रगतिशील प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं।

ग्रामीण वातावरण का उन्होंने निरीक्षण मात्र किया है, वह भी अत्यन्त निकट से नहीं, कुछ दूर ही से इस निरीक्षण में जहाँ तक के विस्तार को उनकी आँखें देख सकी हैं, वहाँ तक उन्होंने देखा है। और अन्त में पाया है, ग्रामीणों के प्रति बराबर का एक अभाव, उसी अभाव की ही संस्थिति में ग्रामीण वातावरण को काव्यात्मक प्रवृत्तियों में स्थिर किया है। भाव-प्रधान काव्य की सृष्टि में अनुभूति-प्रधान काव्य की सर्जना न हो सकी, अतः पूर्ण स्वाभाविकता का भी न रहना आवश्यक ही है। सब मिलाकर निष्कर्ष में जहाँ कवि ने ग्रामीणों के प्रति कुछ कहा है, वहाँ, उसका सत्य आधार स्पष्ट और अनुभूत प्रतीत होता है। झोपड़ी की सतह में वह नहीं पहुँच सका, परन्तु उसके बाहर जितने खेल खेलते लोग नजर आये, उन सबको भरसक कवि ने पकड़ने की चेष्टा की है। कवि की कोमलता, सौन्दर्य से आवेष्टित भावनाएं, यहाँ भी संगृहीत हैं। परन्तु वे प्रयोग के लिए नई नहीं कही जा सकतीं। गाँव की झोपड़ियों की आख्या से वे इसी उद्देश्य से कदाचित दूर हैं कि असत्य की कहीं उसमें स्थिति न हो जाय। बाहर के वातावरण में उलझे हैं, व्यस्त

हैं। अनायास जो भावनाएँ आ सकीं, वे ही काव्य में विद्यमान हैं। संस्कृति-सभ्यता के अर्थ से अज्ञात ग्रामीणों के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति है। अपनी परिस्थितियों में उलझे मानव के ह्रास की ओर उन्होंने पूर्ण सङ्केत किया है। वर्त्तमान-विद्यमान ग्राम अतीत जनों की करुणा को अपने में समेटे हुए हैं, इसको कवि ने यों व्यक्त किया है:—

'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित !
युग-युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित !'*

आगे इसके विश्लेषण में और भी स्थायित्व और पूर्ण सत्य के तराजू पर तुलित भावनाएँ व्यक्त हुई हैं जिनकी किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं हो सकती। उनका धरातल इतना सत्य है कि उधर मुड़ पड़ना आवश्यक और साथ ही स्वाभाविक हो जाता है। आगे कहा गया है :—

'घर-घर के बिखरे पन्नों में नग्न, क्षुधार्त्त- कहानी,
जन मन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी।'
मानव दुर्गति की गाथा से ओत-प्रोत मर्मान्तक,
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक !'†

इन पंक्तियों में गाँव के आन्तरिक समूचे चित्र की रीलें दौड़ जाती हैं। सहिष्णु प्रवृत्ति का बड़ा मार्मिक भाव यहाँ उतरा है जिसमें थोड़ी देर के लिए कोई भी सहृदय पाठक उलझे बिना नहीं रह सकता। वह इन पंक्तियों की बातें पहले से ही जाने समझा रहता है, पर मानों यहाँ उसकी आँखें सच, उन्हें देख लेती हैं। एक प्रकार से पूर्व जानी हुई बातें हृदय में अब उतर आती हैं, उनका यथार्थ स्वाभाविक प्रभाव मानों अब पड़ा हो। इस दृष्टि से इन पंक्तियों में बहुत बड़ा बल संचित है, जो पाठक को अपनी ओर स्वाभाविक रूप से आकृष्ट कर लेता है। मनुष्यता का निवास, कवि की दृष्टि में ग्राम ही में है। दानवीय विकृतियाँ गाँव से बहुत दूर रहती हैं। उनको वहाँ थोड़ी जगह शायद ही प्राप्त हो। निश्छल प्रवृत्तियाँ वहाँ विद्यमान रहती हैं। उनका निर्णयात्मक विचार है:—

'मनुष्यत्व के मूल तत्त्व ग्रामों ही में अंतर्हित।'‡

---

* ग्राम्या पृ० १४

† ग्राम्या पृ० १४

‡ ग्राम्या पृ० १४

यद्यपि सर्वत्र इसी आशय की पंक्तियाँ नहीं हैं। कहीं-कहीं समय-समय पर की दृष्टि उन पंक्तियों में अपना कार्य किये जाती है। ग्रामीण वातावरण से बाहर आने पर भी कवि की दृष्टि वहीं की रहती है। समूचे विश्व को वह इसी वातावरण में आबद्ध पाता है जो आकाश की उड़ान मात्र है। तब तो ऐसा प्रतीत होता है मानों नागरिकता के आवास में ही कवि ने एक स्वप्न देखा हो, जिसमें ग्रामीण वातावरण का स्वप्निल प्रभाव हो, और उसीसे प्रभावित हो उसने नये प्रयोग के ख़याल से, नये टेकनीक के आधार पर कविताएँ लिख दी हैं। समूचे विश्व को गाँव की आँखों से ही आँकना-मापना शायद यही सिद्ध करता है। कवि की यह दृष्टि जरा सत्य से दूर चली जाती है :—

'देख रहा हूँ निखिल विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।*

विचार के ख़याल से कवि की निजी भावना जो हो, परन्तु यहाँ पाठक के विचार से स्पष्टतः वह एक ही (ग्रामीण) दृष्टि से सबको मापता हुआ प्रतीत होता है। विश्व में सारी विभिन्नताओं की परिस्थितियाँ रहेंगी, फिर वह किस आधार पर एक ही दृष्टि को, एक ही वातावरण में समाविष्ट करेगा। योंही एक दूसरे से भिन्न भावनाएँ गूँथी गई हैं, जिस कारण उनका व्यापक प्रभाव कहीं-कहीं एकदम नहीं पड़ता। विभिन्न अवस्थाओं में, विभिन्न प्रवृत्तियों में रहते हुए कवि ने एक ही उद्देश्य को सर्वत्र निश्चित रखा। एक निश्चित भावना का सर्वत्र निर्वाह परिलक्षित होता है।

बुद्धिवादी होकर ग्राम-चित्रण नहीं हो सकता, तब दृष्टिकोण में अन्तर आ जायगा। भौतिकवाद के आधार से यद्यपि बौद्धिक आधार में स्वच्छता और सत्यता अधिक विद्यमान है। किन्तु ग्राम-चित्रण के लिए वह भी अस्वाभाविक होगा, यह सत्य है। यथार्थ की भावना से, अभिप्रेत हो ग्राम-चित्रण की ओर ध्यान देना अच्छा है। अन्यथा अपने उद्देश्य की सार्थकता में कोई भी कवि असफल होगा। बुद्धि के माप से गाँव या उसके निवासी बहुत दूर हैं। यदि यह उसके साथ रहता तो फिर वे अपने अर्थ में पूर्ण और सुखी तथा सन्तुष्ट क्यों नहीं रहते। और कवि को भी चाहिए था कि वह बुद्धि में आवेष्टित अवस्था में ही गाँव को बौद्धिक आधार पर तौलता या उसके विषय में कुछ सोचता। विशेषतः भारतीय ग्राम के लिए वर्त्तमान परिस्थिति में यही ठीक होगा। ग्राम के सुसंस्कृत हो जाने पर, शिक्षित अवस्था में उसकी बौद्धिक विवेचना, उसके पक्ष के निमित्त विकास का कार्य

*ग्राम्या पृष्ठ १९

करेगी, परन्तु उस अवस्था की कल्पना का भी अभी अवसर या अवकाश नहीं दीखता। एक ओर मानवता का मूलतत्त्व जहाँ निवास करता है, वहाँ दूसरी ओर उसकी असभ्यता, अशिष्टता भी विरोध-प्रवृत्ति का आश्रय ले, उसी ग्राम में अपना कार्य करती जा रही है। ऐसा क्यों? का उत्तर ग्राम्या की कविताएँ ही दे सकती हैं। बल्कि साम्यवाद की राजनीतिक स्थिति में पलने वाला आज का प्रगतिवाद यहाँ अपने उद्देश्य में कुछ सफलता पा सकता है। चूँकि बुद्धि का आश्रय ले, वह अधिक कुछ नहीं कहता। यद्यपि उसका भी प्रभाव स्थायी नहीं पड़ता, फिर भी बुद्धिवादी की अपेक्षा यहाँ विशेषत: उपयुक्त स्थल के निमित्त वह जो कुछ व्यक्त, करता, वर्त्तमान में उसका महत्त्व अधिक रहता। केवल बुद्धि पर आलिखित चित्र मध्य वर्ग के पठित व्यक्तियों के उपयुक्त हो सकता है। यह चित्र भी उपस्थित करना आसान काम नहीं। बौद्धिक आधार के बल पर कितने कवियों ने इस चित्र को उपस्थित करने का प्रयत्न किया; सत्य से दूर रहने के कारण उनमें अस्वाभाविकता रही, फलतः अपने उद्देश्य, में वे असफल रहे। मध्य वर्गीय पाठक पन्त जी के चित्रित सत्य की ओर मुड़ेगा। उसीमें वह सरस भावनाएँ संगृहीत पावेगा, और किसी भी परिस्थिति में उस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसका प्रभाव स्थायी पड़ेगा। जो उपेक्षित हैं, उन्हें उपेक्षित कहना ही सत्य है। ऐसे ही अभिशप्त, सर्वथा उपेक्षित ग्राम-व्यक्तियों के लिए कवि ने कहा है—

> **'यहाँ खर्व नर (बानर ?) रहते युग युग से अभिशापित,**
> **अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।**
> **यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,**
> **यह भारत का ग्राम—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।***

यह ग्राम-चित्र संयत सत्य में उपेक्षित है। परन्तु सर्वसाधारण की आँखें, इस चित्र को अच्छी तरह नहीं देख सकतीं। उन्हें पंक्तियों का अर्थ जानने की चेष्टा करनी होगी, और पढ़कर बाद में भी मूक का मूक बने रहेंगे। यद्यपि इन पंक्तियों में ग्रामवासियों की सारी विवशताएँ, और उनकी स्थितियाँ विद्यमान हैं, फिर भी उनमें भावनाओं की क्लिष्टता है। सर्वसाधारण तक की यहाँ तक पहुँच हो जाती तो वे इनसे लाभान्वित होते। एक शिक्षित वर्ग का ही पाठक इससे लाभ उठा सकेगा। इन पंक्तियों में प्रदर्शित चित्र

---

*ग्राम्या पृ० १६

को भली-भाँति उसीकी आँखें देख सकेंगी। दूसरी ओर इसका भी यहाँ अभाव है जो उनके सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालता। सब भावों की पूर्णता में ग्राम्य जीवन की पूर्णता न रह सकी है। बौद्धिक धरातल की दृष्टि से प्रदर्शित सत्य वातावरण का बहुत अधिक महत्त्व होना चाहिए, किन्तु प्रगतिशील अवयवों का उसमें अभाव ही दीखेगा।

भारतीय समाजवाद, साम्यवाद के सिद्धान्तों का ग्राम्या में कहीं विरोध नहीं मिलेगा। उसमें भारत का ही निवास है, योरप का नहीं। यह एक काव्य-पुस्तक है। जिसमें भारतीय वातावरण सुरक्षित है। बाहर के उधार लिए हुए ग्राम वातावरण के प्रति बहुत-सी प्रगतिशील काव्य-पुस्तकों की सहानुभूति हैं, जिनका एकमात्र आधार भौनिकवाद है; जिसमें एक, सिर्फ़ एक भूख-पेट का अधिवास है। किसी की अनुकृति, उन पुस्तकों में अनुचित नहीं है। यद्यपि ग्राम्या इन भावों के प्रति तटस्थ है, फिर भी आदि से अन्त तक उसमें भारतीयता है, यह स्पष्ट है। भारत ग्राम क्या है, उनकी स्थितियाँ क्या और कैसी हैं, ये सब ग्राम्य के विशिष्ट विषय हैं। भारत ग्राम के इन पचड़ों से वह दूर है। कहीं-कहीं तो ग्राम-निवासियों का बड़ा खरा चित्र उतरा है, उनकी मनोदशाओं का विश्लेषण अत्यन्त सरल है। उनकी सङ्कीर्ण मनोवृत्तियाँ आँखों के आगे उतर आती हैं। उनके सम्बन्ध की अपनी स्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं। इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर सहज ही मन में यह प्रेरणा होती है कि उनके सम्पर्क में जाकर संस्कृति-सभ्यता का उचित ज्ञान भरा जाय, और उनके मस्तिष्क में, हृदय में यह बात पैठा दी जाय कि परिवर्त्तन से भयभीत नहीं होना चाहिए। मनुष्य हो, मनुष्य की तरह रहने का तुम्हारा पूर्ण अधिकार है। सर्वप्रथम मनुष्यता की तुम्हें परिभाषा जाननी चाहिए।

ग्राम-निवासियों के सच्चे भावों की वाहक इन पंक्तियों की छाप गहरी पड़ती है :—

> "वे परंपरा प्रेमी, परिवर्त्तन से विभीत,
> ईश्वर परोक्ष से ग्रस्त, भाग्य के दास क्लीव,
> कुल जाति, कीर्ति प्रिय उन्हें, नहीं मनुजत्व प्रीत,
> भव, प्रगति मार्ग में उनके पूर्ण धरा विराम।"

'पल्लव' 'गुंजन' से पन्तजी की यथेष्ट महत्ता स्वीकृत है। 'युगान्त' से दूसरी विमुख दिशा की ओर उनका परिवर्त्तन आरम्भ होता है। 'युगवाणी' में जन-जीवन के स्वरूप का आभास मिलता है। और इसके बाद सहसा ग्राम्या

में उनकी परिवर्तित-प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रगति का अर्थ जहाँ परिवर्त्तन और विकास है, वहाँ वस्तुतः वे प्रगतिशील हैं:—यह निर्दिष्ट हो चुका है। किन्तु निम्न-वर्ग की समूची अभाव वाली परिस्थितियों का जहाँ उल्लेख होगा, वहाँ प्रगतिवाद के अवयवों से वे दूर ही सिद्ध होंगे। और इन अवयवों के आधार पर मापा जायगा तो यह कदापि मान्य नहीं होगा कि—'युगवाणी प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग।'*

किसी भी माप के आधार पर ग्राम्या को युगवाणी का प्रयोग नहीं माना जा सकता। साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि ग्राम के वातावरण में, विशेषतः अभाव में निवास करने वाला एक ही वर्ग है जो कृषि-श्रमिक शब्द से अभिहित होता है। शेष उन सम्पूर्ण व्यक्तियों की अन्तर्दशाओं का बौद्धिक ही सही, सच्चा चित्र न युगवाणी में, न ग्राम्या में मिलता है, जो अत्यन्त अभाव के घर में रहते हैं। समूचे निम्न वातावरण में पलने वाले वर्ग का दोनों में से किसी में उल्लेख नहीं है। युगवाणी की सार्थकता भी तभी सिद्ध होती, जब उसमें युग की समूची प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहतीं। निजी उद्देश्य के प्रतिकूल विभिन्न-विभिन्न स्थितियों की विविध कविताएँ भी उसमें हैं। बल्कि 'ग्राम्या' अपने अर्थ में विशेष महत्त्व रखती है। आदि से अन्त तक ग्राम में ही उसका वास है, जहाँ समूचा विश्व उतरता है, वहाँ भी ग्राम विद्यमान है। किन्तु ग्राम्या के प्रति इस सत्य का भी विरोध नहीं किया जाना चाहिए कि उसका आधार बौद्धिक है जिसके महत्त्व से सत्र का प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकता। इसकी सरस भावनाओं की ओर शिक्षित मानव के मन का रमना सुनिश्चित है। कवि की दृष्टि इसमें संयत है। और अपने उद्देश्य में वह सफल भी है।

सर्वसाधारण से लेकर एकदम उच्च से उच्च वर्ग में भी साम्य भावना का यथेष्ट प्रवेश और प्रचार हो, यह कवि की आत्मा बनकर अभिव्यक्त है। पुरानी रूढ़ियों पर टिके समाज का परित्यागकर नये समाज के निर्माण के वह पक्ष में है। भौतिकवाद की क्रियात्मक शक्ति का उपयोग और प्रयोग, दोनों उसे इष्ट है। और सबसे अन्त में यह कि चाहे जैसे भी हो, जिस वाद के आधार जो भी हो—सबकी, सामूहिक मंगल-कामना की अभ्यर्थना स्वीकृत होनी चाहिए—विज्ञान की ध्वंस-क्रिया उसे इष्ट नहीं, परन्तु उसकी सृष्टियों के प्रति अविश्वास की भावना नहीं है—

---

* प्रो० नगेन्द्र : सु० पन्त, पृ० २२४

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत औ' बाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
सामूहिक मंगल हो समानः समदृष्टि राम ।*

समूची ग्राम्या का यही निष्कर्ष है, जो शिवपक्ष का सूचक है ।

प्रगतिवादी 'निराला'

ब्रजभाषा के काव्य का प्रभाव धीरे-धीरे कम पड़ने के बाद खड़ी बोली में जो सबसे बड़ी क्रान्ति हुई, उसके सबसे बड़े उन्नायक 'निराला' जी हुए। हिन्दी-काव्यधारा में जो एक बड़ा निर्देश मिला, वह उन्हीं का था। एक नई दिशा की ओर उन्मुख करने का श्रेय उन्हीं को है। उस युग के बहुत से प्रतिनिधि कवि नीवनता लेकर आए, परन्तु निरालाजी ने जो शक्ति पकड़ी, वह बिलकुल नवीन और क्रान्तिपूर्ण थी, जिसका सबने मिलकर बड़ा विरोध किया, विरोधियों के साथ उन्हें भयङ्कर संघर्ष में जूझना पड़ा; परन्तु अपनी जगह दृढ़, अटल खड़े रहने के परिणाम में उनकी प्रवृत्तियों का काव्य पर बहुत बड़ा अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा। भयङ्कर हलाहल, भयङ्कर अपमान को पी जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः भयानक होता है। अतीत से प्रतिशोध वर्त्तमान ने लिया। निरालाजी की नवीनता भयानक नहीं थी, न हिन्दी काव्य के अशुभ का सूचक ही, परन्तु प्रत्येक नवीनता का प्रारम्भ में बड़ा विरोध होता है, उसी प्रकार उनका भी विरोध हुआ, परन्तु यह विरोध बड़ा तीव्र और उग्र था, किन्तु कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर उसकी श्रेय-भावना का प्रभाव पड़ा ही। वह नवीनता, प्रगति के सब भावों का पूरक थी। जीवन की चेतना की सारी जीवित शक्तियाँ उसमें पूर्णतया विद्यमान थीं। बाहर की आँखों को लेकर वातावरण को नहीं परखा गया था। सच की आँखों ने जो देखा, उसीको आत्मसात कर लिया। निम्न, उच्च, कोई भी धरातल हो, सब-को समान रूप से निरालाजी के काव्य में प्रश्रय मिला है। सच को सच, झूठ को झूठ कहने में कहीं भी सङ्कोच की प्रवृत्ति नहीं दीखती है। यद्यपि उनके सत्य को लोगों ने उपहास की दृष्टि से देखा, फिर भी उसके प्रभाव से वे प्रभावित अवश्य हुए, इसे अव्यक्त ही रखो, यह दूसरी बात है। इसका मुख्य कारण यह कि 'सत्य कहना जितना आसान है, उतना

---

*ग्राम्या, पृ० २

सुनना नहीं।' वह बड़ा कड़ुआ घूँट है, जिसकी तिक्तता सभी बर्दाश्त नहीं कर सकते।

हिन्दी-काव्य में 'मुक्तक-छन्द' के प्रयोग में एक स्वाभाविक प्रवाह था, यही निरालाजी विलक्षण देन है। तथागत काव्यात्म प्रवृत्तियों की परम्परा को उदाचित इससे ठेस पहुँची, परन्तु अनेक अर्थों की सबल शक्तियों से प्रपूरित नये प्रयोग का बहिष्कार अधिक काल तक नहीं ठहर सका। कारण यह कि उसने काव्य-पाठकों, समीक्षकों को विश्वास दिला दिया कि इससे काव्य-पक्ष में कोई अशिव न होगा। परिवर्त्तन के प्रत्येक विकास को पकड़कर कवि ने अपने नये छन्दों का काव्य में प्रयोग किया। परन्तु किसी भी नवीन विकास को ग्रहण करने के समय अपनी भारतीय संस्कृति को वह न भुला सका है। भारतीय वातावरण उसमें पूर्णरूप से सुरक्षित और सुव्यवस्थित है। एक सीमित आधार पर जो प्रगतिवाद के अवयव सुनिश्चित किये गये हैं, उनके अनुसार निरालाजी प्रगतिशील नहीं हैं, परन्तु स्वाभाविक और सत्य आधार, सत्य अर्थ की दृष्टि से वे सच्चे और प्रगतिशील प्रतिनिधि कवि हैं। विविध वर्गों के जीवन की सच्ची अभिव्यक्तियाँ उनके काव्य में हुई हैं। उनकी दार्शनिक रीढ़ बड़ी मजबूत है, परन्तु वह ऐसी नहीं कि सबकी समझ से परे हो। उसकी पृष्ठभूमि, साधारण वातावरण में पालित व्यक्तियों के जीवन पर भी स्थिर है। जहाँ रहस्यवाद के भावों का गुम्फन हुआ है, जहाँ छायावाद की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हैं, वहाँ सभी की पहुँच कुछ कठिन है, परन्तु सब मिलाकर मापें तो यही पायेंगे कि वैसी क्लिष्टता, वैसी दुरूहता नहीं है जो औरों में पाई जाती है। भौतिकवादियों को उनके काव्य से सन्तोष नहीं होगा, परन्तु बुद्धिवादी उससे सन्तुष्ट और लाभान्वित होंगे। काव्य की सूक्ष्म अन्तर्दशाएँ, उसकी स्वाभाविक, सत्य अनुभूतिपूर्ण मनोदशाएँ नये टेकनिक को लेकर अभिव्यक्त हुई हैं। कलात्मक मूड और टेकनिक का सर्वत्र निर्वाह हुआ है। योरोपीय काव्य में मुक्तक छन्दों का प्रयोग बहुलता से पाया जाता, जिसका प्रभाव बंगला काव्य पर अधिक पड़ा है, और लोगों की दृष्टि में निरालाजी उससे अधिक प्रभावित हैं। बात जो भी हो, परन्तु हिन्दी-काव्य के लिए उनकी यह मौलिक देन है, नये छन्दों का हिन्दी में प्रयोग सर्वथा नवीन, परन्तु मौलिक है। बल्कि बँगला-काव्य में उन छन्दों की मौलिकता नहीं है, स्पष्ट मालूम हो जाता है, उन छन्दों की नींव, उनके प्रयोग उधार लिए हुए हैं, अनुभूति के आधार पर वे स्थित हैं; यह अनुभूति निरालाजी के छन्दों के प्रयोग में नहीं परिलक्षित होती है।

अभाव, हीन वाली परिस्थिति की भावनाएँ भी उनके काव्य में स्थायित्व को लेकर हैं। मूर्त्त सत्य, सजग अनुभूति जिसकी मनोदशा में महत्त्व रखें, उसके काव्य की विशिष्टता स्वभावतः बिना आग्रह के स्वीकृत होनी चाहिये, और निरालाजी के काव्य में ऐसी मनोदशा का सर्वत्र प्रभाव विद्यमान है। उनके काव्य में समूह की संस्थिति है, एक की जगह अनेक की प्रधानता है, विविधता की विशेषता है, परन्तु किसी स्तर पर देखें, सबमें स्वाभाविकता और सत्यता प्राप्त होती है। अनेकता में क्षणिक प्रवृत्तियों का उदाहरण नहीं मिलेगा, उतावलापन अति भावुकता, काव्य की निर्बल शक्तियाँ नहीं मिलेंगी। उनके काव्य की कड़ियाँ मजबूत हैं। उन्हें अप्रगतिशील कहकर, उपेक्षित नहीं सिद्ध किया जा सकता।

जीवन की सच्ची स्थिति का वर्णन, जिस काव्य में होगा, वह निश्चय ही स्थायित्व और विकास की सब शक्तियाँ रखेगा। वह जीवन चाहे जिसका हो, उच्च, मध्य, निम्न किसी का; यदि उसका सच्चा दिग्दर्शन हुआ तो सत्य है, उसकी परिव्याप्ति सर्वत्र, सबमें रहेगी। काव्यकार उसके सत्य को छुपाकर प्रभावपूर्ण, स्थायी काव्य की सर्जना में निष्फल रहेगा। अपनी जगह पर स्थित जीवन कभी उपेक्षित नहीं है, हाँ, यह व्यक्ति का दोष होगा; यदि उसमें घृणित प्रवृत्तियाँ भरी होंगी, किन्तु इस कारण उन प्रवृत्तियों से प्रपूरित जीवन उपेक्षा की दृष्टि से कैसे देखा जायगा। सत्य ही सत्य उसमें भी है; हाँ, यदि इस सत्य को दूर हटाकर शेष ही अंश को काव्य में स्थान दिये जाने का अभिप्राय होगा, कृत्रिम, अस्वाभाविक भाव भरना। जिसका परिणाम काव्य-पथ में ही अच्छा न होगा। जीवन की सच्ची अभिव्यक्तियों का निरालाजी ने अच्छी तरह महत्त्व समझा है। विभिन्न अवस्थाओं में स्थित जीवन की विभिन्न अनुभूतियों को अपने काव्य में प्रश्रय देना, सदैव उन्हें इष्ट रहा। सत्य के प्रति उनका अनुराग समझना चाहिये, और असत्य के प्रति तीव्र घृणा उनकी उक्तियों की स्पष्टता और निर्भीकता प्रसिद्ध है। विचारों, भावों की दृढ़ता ही उनकी गतिशीलता का द्योतक है। अविचारे सहज भावों से प्रेरित हो काव्य करने का इधर उन पर दोष आरोप होने लगा है। परन्तु साधारण व्यक्तियों की यह सहज धारणा या असंश्लिष्ट भावना का निष्कर्ष है। अन्यथा उनके काव्य की दिशाएँ कब की बदल गई होतीं। जिन व्यक्तियों के जीवन की स्थितियाँ उनके इधर के काव्य में विद्यमान हैं, उनके कारण, और उनकी अवस्था पर ध्यान देना आवश्यक है। अविचारे, काव्य का प्रणयन स्वयं उन्हें कभी इष्ट न था, न है। सहज, विकृत भावनाएँ कभी उनमें पैठीं ही नहीं।

'गीतिका' के सत्य को पकड़ सकना कुछ कठिन है, चूँकि उसका धरातल गम्भीर दार्शनिक विचारों की नींव पर खड़ा है। यह नहीं कि दार्शनिक विचारों की नींव पर स्थित धरातल अगम्य ही रहता है। 'गीतिका' की ही सृष्टि इस अपवाद में आ सकती है। रहस्यवाद की मूर्त्त क्रियायें उसमें सजगता के साथ अपना कार्य करती हैं। उसमें कुछ ऐसी भी कविताएँ संगृहीत मिलेंगी, जो हिन्दी के लिए बिलकुल नये छन्दों का अच्छा उदाहरण कहलाएँगी। उनकी एक अपनी गति, अपनी धुन है। यों निराला की देन की नई है, पर विशेषतः उन कविताओं के छन्द अधिक महत्त्व रखते हैं। परन्तु यह सत्य है कि उसके भाव क्लिष्ट हैं। अधिकांश की समझ से वे परे हैं। उनकी अभिव्यञ्जना प्रणाली भी नई है। उन्हें बिलकुल रोमांटिक नहीं कह सकते, न कृत्रिम ही। उनमें कलात्मक और काव्यात्मक दोनों सौन्दर्य का एक ही जगह संयोग पायेंगे, पर उनके अवयव कुछ ढीले पड़ गये हैं। उनमें एक विशेष योग्यता का निर्वाह या उसकी सिद्धि पायेंगे।

काव्यकार के प्रति बहुत-सी हमारी भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ होने लगी हैं। हम उनके व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव उनकी काव्यात्मक प्रवृत्तियों में ढूँढ़ते हैं। यह कभी आवश्यक नहीं कि अपनी प्रवृत्तियों को हठपूर्वक काव्यकार अपने काव्य में सम्मिलित करे, उन्हें स्थान दे। हाँ, सहज, स्वाभाविक रूप में जो उसके काव्य में उतर आए, उसका निकाल फेंकना भी अस्वाभाविक होगा। निरालाजी के लिए यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव काव्य पर पड़ा है; परन्तु स्मरण रहना चाहिये, वह अस्वाभाविक रूप से नहीं। और वह भी उसका छिपा हुआ रूप नहीं, स्पष्ट, बिलकुल मूर्त्त सत्य में अभिव्यक्त है।

युग की पगध्वनि पहचानने में भी वे कुशल हैं। अनामिका के बाद बराबर के परिवर्त्तन की स्थिति में उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। रहस्यवाद की भावात्मक इतिवृत्ति में एक विचित्र प्रणयन हुआ। तुलसीदास कथा कहने की यह प्रणाली भी बिलकुल स्वतन्त्र है। छन्दों के प्रयोग भी अच्छी अवस्था में हुए हैं। 'प्रसाद' भी जो कामायनी में भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, कलात्मक इतिवृत्ति का उसमें निर्वाह नहीं मिलेगा। 'तुलसीदास' के साथ उसकी तुलना करने का यहाँ अभिप्राय नहीं है, दोनों की दो भाव-धारायें और अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ हैं। छन्दों के प्रयोग में भिन्नता भी है। महज यह किसी 'तुलसीदास' अपने युग के बाद का विशिष्ट प्रगतिशील काव्य होना चाहिये।

'अनामिका' की कुछ कविताएँ तो काव्य की मनोदिशाओं के विशिष्ट अंग प्रमाणित होती हैं। 'सेवा-प्रारम्भ,' 'तोड़ती पत्थर', सरोज की स्मृति, कविताओं में अभाव, दीन-हीन भावों की अभिव्यक्ति है। सरोज की स्मृति में समूह के भाव नहीं आ पाये हैं, पर उसमें भी चलते-चलाते में जो प्रसङ्ग के कारण समूह से सम्बन्धित पंक्तियाँ हैं, वे प्रगतिवाद के वर्त्तमान तराजू पर आसानी से तौली जा सकती हैं। प्रगतिशीलता के भौतिक आधार पर भी उन्हें खड़ा करना चाहें तो वे खड़ी होने का सम्पूर्ण साधन, समर्थ शक्ति रखती हुई मिलेंगी। रूढ़ि या परम्परा का भयङ्कर विरोधी होने पर भी उसे उन्होंने किस रूप में स्वीकार किया है। यह सरोज की स्मृति की कुछ पंक्तियाँ बता देंगी। ब्राह्मण-धर्म की प्रवृत्तियों, सामाजिक अन्तर्दशाओं का बड़ा सूक्ष्म निदर्शन उसमें मिलता है युग धर्म (सिर्फ़ काव्यात्मक) का वातावरण भी उसमें स्पष्टतया वर्त्तमान मिलेगा:—

> "ये कान्यकुब्ज-कुल कुलाङ्गार,
> खाकर पत्तल में करें छेद,
> इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
> इस विषम बेलि में विष ही फल,
> यह दग्ध मरुस्थल--नहीं सुजल।"
> फिर सोचा—"मेरे पूर्वजगण
> गुजरे जिस राह, वही शोभन।"*

कभी-कभी द्वन्द्व की परिस्थिति में लिखी गई कविताएँ, दो भावों को इस प्रकार एक साथ ले चलती हैं, मानों उन्हें उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाना हो। अन्तिम दो पंक्तियों का यह आशय कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये कि चली आती हुई विकृति रूढ़ि का भी कवि बड़ा समर्थक है। विकृत रूढ़ियों का वह कट्टर विरोधक है परन्तु सुधार के रूप में कुछ वे रूढ़ियाँ भी ग्राह्य हैं। और यों जिन रूढ़ियों में कवि कोई विकार नहीं पाता, उन्हें वे मान्य भी हैं। कवि को अपने विचारों के स्पष्टीकरण में यह कभी ख्याल नहीं रहता कि उसके समर्थक, प्रशंसक या विरोधी, विपक्षी क्या कहते हैं, और क्या कहेंगे। प्राचीन-नवीन, जिसके सम्बन्ध में उसे कुछ कहना होता है, वह स्पष्ट निर्भयतापूर्वक कहे जाता है।

बड़ी विचित्र प्रगतिशीलता, एक विलक्षण परिवर्त्तन 'कुकुरमुत्ता' में हुआ। उसकी कल्पना में बड़ी शक्ति है। जिन भावों का धरती से सम्बन्ध

*अनामिका, पृ० ७२

है, उनका प्रभाव गहरा पड़ता है। कुछ लोगों की दृष्टि में कुकुरमुत्ता उपेक्षित है, परन्तु कवि की दृष्टि में वह अपेक्षित और महत्त्वपूर्ण है। उसके बाद की 'अणिमा', 'बेला, 'नये पत्ते' क्रमशः सबमें कोई न कोई एक नया परिवर्तन अवश्य मिलेगा। इधर की कविताएँ फारसी के छन्द पर विशेष आश्रित हैं परन्तु उनकी भी महत्ता है। बेला की यह पंक्ति मानव के समस्त विचारों को अपने में केन्द्रित कर लेती है :—

"बिना अमर हुए यहाँ काम न होगा।
बिना पसीना आये नाम न होगा।*

कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके भाव में बड़ी गहराई है, उनकी अनुभूति, अपनी अनुभूति मालूम होती है।

"जमाने की रफ़्तार में कैसा तूफाँ
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं।
खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।' †

इन पंक्तियों के सत्य को दूर नहीं हटाया जा सकता या वे स्वयं इतने समर्थ हैं कि अपनी जगह 'ज्यों का त्यों' महत्त्व लेकर विद्यमान हैं। वर्त्तमान समाजवाद की विधियों पर इन सत्यों को हम नहीं तौल सकते, इनका हृदय से अधिक घना सम्बन्ध है। परन्तु जिस सत्य के विविध रूपों को उसने ग्रहण किया है, वे सब विद्यमान समाज के स्वरूप में सम्मिलित हैं। व्यक्ति बनकर विचार प्रकट किये गए हैं, किन्तु व्यक्ति के लिए नहीं, समूह, समाज के निमित्त उनका प्रकटीकरण हुआ है। प्रगतिवाद के आग्रह के परिणाम-स्वरूप, जिस समाजवाद की प्रधानता है, उसके अन्तर्गत आनेवाली कुछ कविताएँ 'नये पत्ते' में हैं: सजोहरा, गर्म पकौड़ी, झींगुर डरकर बोला, छलाँग मारता चला गया, डिप्टी साहब आये, मंहगू महगा रहा, आदि कविताएँ एक उस वर्ग का चित्र हमारे सामने उतारती हैं, जिनकी स्थिति अभाव, दुःख-दैन्य पर स्थित है; जिनकी नीव शोषण, दमन पर आश्रित है। एक कविता—'मास्को डायेलाग्स' है, जिसमें तीखा व्यङ्ग्य है; पर उसमें रहस्यभेद का भण्डाफोड़ है।। काव्यात्मक सौन्दर्य की उसमें विशेषता नहीं मिलेगी। परन्तु उसकी बातें बड़ी सीधी होती हुई भी कटु हैं। जो कहना था उसके लिए कोई भूमिका या कुछ ढूँढ़ा नहीं गया है, बस सीधे व्यक्त कर दिया गया है। नये पत्ते में ग्रामीण

* बेला, पृ० ८०   † बेला, पृ० ६०

वातावरण में पलनेवाले व्यक्तियों का बड़ा सजीव चित्रण है। हास्य की भी पुट उसमें है, पर सर्वत्र कवि की कविताओं में आन्दोलन, क्रान्ति की आग सुलगाने के निमित्त कोई आग्रह नहीं मिलेगा, पर विरोध की प्रतिक्रियायें अवश्य मिलेंगी जिनमें क्रान्ति का विश्लेषण भी निहित रहेगा। समाजवादी प्रवृत्ति के प्रसार के लिए कोई भी क्रान्ति कहाँ तक सापेक्ष्य हैं, कवि ने इस पर बल देकर कुछ नहीं कहा है। इन सब भावनाओं से पृथक होकर काव्यात्मक सौन्दर्य की उसे अधिक चिन्ता रही है, साथ ही सत्य के भार भी समान रूप से सर्वत्र ढोने का उसे प्रयास नहीं करना पड़ा है, स्वाभाविक रूप से उसके काव्य में वह विद्यमान मिलेगा।

बुद्धिवादी होकर भी भौतिकी जीव हो निरालाजी ने उसी के अनुरूप इधर कुछ कविताएँ लिखी हैं, जो समाजवादी भावनाओं को लेकर आगे बढ़ती हैं। अनाचार के विरोध में बहुत उग्र क्रियाओं की भी उन्होंने सृष्टि की। प्रतिक्रियात्मक शक्ति के उभारने का भी उनमें आग्रह-आदेश दोनों मिलेगा। ग्रामीण वातावरण के वर्णन भी मिलेंगे। 'नये पत्ते' का कुत्ता भौंकने लगा बहुत स्वाभाविक ग्रामीण-सम्बन्धी कविता है—

'जमींदार का सिपाही लट्ठ कंधे पर डाले
आया और लोगों की ओर देख कर कहा,
"डेरे पर थानेदार आये हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ़्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ।"
कौड़े से कुछ हट कर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देख कर।*

'नये पत्ते' में निरालाजी ने एक नया ही प्रयोग किया है जिसने उनके अतीत छायावाद-रहस्यवाद से बहुत दूर ला छोड़ा है।

* नये पत्ते पृ० ५५

'अंचल' प्रगतिशील क्यों ?

साध, लालसा, तृष्णा की पूर्त्ति की भावना से प्रारम्भ में अंचल ने गीत लिखे। उनमें मानवी-प्रेम के सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु जीवन के सत्य से उनका गहरा सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य में स्थायित्व का अभाव है, यों मानव-जीवन का सौन्दर्य क्षणभंगुर है और असत्य है, पर साहित्य में स्थान पाने पर उस सौन्दर्य का रूप परिवर्त्तित हो जाता है, उसमें सत्य और स्थायित्व आ जाता है, यदि साहित्य उस जीवन को आत्मसात कर ले, और वह जीवन महत्त्वपूर्ण हो तब, अन्यथा उसकी विशिष्टता नहीं सिद्ध होगी।

छायावाद-रहस्यवाद के जीवन का आधार हृदय की वृत्तियों के अतिरिक्त काल्पनिक भावनायें भी थीं, बल्कि कल्पना का ही प्राबल्य था, यद्यपि काव्यात्मक सौन्दर्य अपनी जगह वहाँ पूर्ण था, परन्तु मूल में कल्पना की भूमि थी। अतः जीवन का सत्य एक ओर उसमें दब गया, दूसरे शब्दों में संकुचित हो गया। अवस्था के अनुसार विकास-क्रम (जीवन का द्वितीय-भाग-यौवन) का सौन्दर्य ही 'अंचल' की प्रारम्भिक कविताओं में स्थान पा सका। एक ऐसी भावना की उसमें सर्जना हुई, जो व्यक्ति की सीमा में सिमटी रही। महत्त्वपूर्ण मानव के जीवन की अभिव्यक्ति सोद्देश्यता की भावना से हुई होती तो उसका महत्त्व सबकी दृष्टि से बहुत अधिक होता।

छायावाद की ही अन्तर्धारायें 'अंचल' के काव्य में फूटी, रहस्यवाद की गुप्त क्रियायें उसमें कार्य न कर सकी। छायावाद के घर में निवास करने वाले मानव में अदृढ़ता थी, उसके जीवन में सौन्दर्य था, परन्तु आडम्बर और कृत्रिमता थी, 'शो' की भावना व्याप्त थी। सत्य के गुण जहाँ विद्यमान थे, वहीं उनकी महत्ता स्वतः सिद्ध थी। और जहाँ-जहाँ उस युग के कवि में ये गुण आए, उनमें स्थायित्व अधिक था। जीवन की वृत्तियों में विलासिता थी। परन्तु एक की सीमा का कहीं आख्यान न था। सीमित आख्यान का ही यह प्रभाव था कि अब तक अनेक नये वादों के मूल में उसकी सत्ता कायम रही। और स्थायित्व भी उनसे अधिक रहा। चूँकि छायावाद के प्रवर्त्तक अपनी गति, अपने प्रवाह में सर्वत्र स्वतन्त्र थे, अतः उन्मुक्त वातावरण के निवासी मानवों का ही उल्लेख किया।

त्याज्य को उन लोगों ने भी ग्राह्य बनाया, परन्तु कहीं-कहीं, साथ ही यह स्वीकार कर कि यहाँ भ्रान्तियाँ और संदिग्ध भावनाओं ने अधिक कार्य

किया है। उनकी यह प्रमुख विशेषता थी कि वे साहित्य के उत्तरदायित्व के भार को ढोने के लिए सर्वदा प्रस्तुत थे। अपने आप में प्रवञ्चना को स्थान देना, मानव की निकृष्टता समझते थे। अपने अस्तित्व को कायम रखने की भी उन्हें चिन्ता थी।

परन्तु 'अंचल' ने छायावाद के उसी भाग को ग्रहण किया, जिसमें पुष्ट भावना और सत्य आग्रह का अभाव था। जीवन की चेतना कुंठित हो व्यक्त हुई, प्रेम के जिस रूप को अपनाया, उसमें व्यापार की भावना थी। इसीलिए एक प्रकार से वह अपनी जगह घृणित, उपेक्षित रहा। वासनीक भावों के प्रकटीकरण में लोक-कल्याण की भी भावना विद्यमान रहनी चाहिये थी, परन्तु केवल कलुषित वृत्तियाँ ही समाविष्ट हो सकीं, अतः वह पक्ष एकदम पृथक रहा। प्रेम में प्रौढ़ता, गम्भीरता रहती और वह एकदम संयत प्रकट होती तो तृष्णा की तृप्ति का लोभ इतना उग्र नहीं रहता। आलस, श्लथ, प्रेम के आविर्भाव में उत्तेजना और जागरुकता अधिक रहती है, जो व्यक्ति के प्रति आस्था की भावना नहीं लाने देती।

प्रौढ़ विकास की अवस्था वाले प्रेम में हृदय और विचार दोनों समरूप से अपना कार्य करते हैं। अतः लोक की दृष्टि अनायास ही उधर जाती है। अनुभूति की सत्यता भी सिद्ध होती है। अपरिपक्वावस्था के प्रेम में विह्वलता और मुग्धता इतना तीव्र प्रकट होती है कि मानव एक सुनिश्चित मार्ग का निर्देश नहीं पाता। उसकी अन्तश्चेतनाएं जैसे प्रसुप्त रहती हैं। कर्म की प्रवृत्ति दबी पड़ी रहती है। कर्त्तव्य-पक्ष निर्बल रहता है। और इनसे रहित भावनायें काव्य में अपना स्थान ढूँढ़ेंगी तो निश्चय ही वे हृदय में स्थान नहीं पा सकतीं, न जनता के ही आगे महत्त्व रखेंगी। उनकी कहीं श्लाघा नहीं हो सकती।

केवल 'सेक्स' पर अवलम्बित होने वाले काव्य की भित्ति अदृढ़ एवं अशक्त है। यह 'सेक्स' जहाँ से आया है, वहाँ की वृत्ति दूषित एवं कलुषित है यों 'सेक्स' सब में प्रगट रूप से विद्यमान रहता है। परन्तु शिक्षा और उसके अनुसार विचार का भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। भारतीय शिक्षा और विचारों से प्रभावित मानव का 'सेक्स' नितान्त, दूषित, कलुषित नहीं सिद्ध होगा।

पाश्चात्य 'सेक्स' का आधार 'फ्रायड' के सिद्धान्त पर दृढ़ है। और वह सिर्फ़ विचारक था, हृदय की सजगता और सरसता से उसका कम सम्पर्क था।

इसीलिए वह बौद्धिक कहा जा सकता है, जो मानव-पक्ष के लिए आंशिक रूप से ग्राह्य हो सकता है। भारतीय वातावरण से अनुप्राणित 'सेक्स' केवल बौद्धिक नहीं होगा, हृदय की स्वच्छ वृत्तियों की भी उसमें पैठ रह सकती है। इस 'सेक्स' की क्रियायें, प्रतिकूलता की ओर नहीं अग्रसर होने देतीं। बराबर इसके मूल में विचारों का निष्कर्ष रहता है। जीवन की निम्न इच्छायें 'फ्रायड' के 'सेक्स' में मूर्त्ति हैं। इसलिए सीमा में उनकी क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं। मानवता उनके निकट नहीं टिक सकती विचार वहाँ भी हैं, पर आँधियों को लेकर, उत्तेजना, तूफान लेकर; उग्र भावनायें सबल हो अपना कार्य करती हैं। और इनसे संयुक्त विचारों का निष्कर्ष कहाँ तक मानव-हित में सहायक हो सकता है, यह साधारण मस्तिष्क वाला मानव भी सोच सकता है। छायावाद की पृष्ठभूमिका , में 'फ्रायडी' सेक्स इतना व्याप्त और प्रधान बनकर खड़ा था कि सब पर अनायास ही समरूप से प्रभाव पड़ा।

रहस्यवाद में भी 'सेक्स' अमूर्त, प्रच्छन्न भाव से कार्य करता था, परन्तु प्रौढ़ बुद्धि के निष्कर्ष के परिणाम में उसमें वे ही भावनायें समाविष्ट होती थीं, जिनका सम्बन्ध मानवता और निराकार उपास्य देवता से था। अतः वह 'सेक्स' गौण रूप से अपना कार्य करता था, जिसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। 'बुद्धि' पर अवलम्बित रहस्यवादी भी थे, उनका भी वही निष्कर्ष था, किन्तु उनके बैक-ग्राउण्ड में 'कबीर, मीरा आदि की भावनायें स्वेच्छाचरिता के साथ सात्विक प्रवृत्तियों के समावेश के लिए बराबर बल लेकर आग्रह करती थीं। कल्पना का आश्रय लेकर आगे बढ़ने के वे आदी थे, परन्तु धरती की मिट्टी पर चल कर ही। छायावादी ही आकाश-पथिक से प्रतीत होते थे। परन्तु छायावाद-रहस्यवाद को समान रूप से स्वीकार करनेवाले पाठक एवं समीक्षक एक ही दिशा का निर्देश करेंगे। परन्तु मैं दोनों की दो गतियाँ, दो दिशायें मानता हूँ। दोनों एक पथ का निर्देश नहीं करते हैं। कहीं जाकर एक-सा कार्य कर दें, यह दूसरी बात है, परन्तु पुन: अपनी-अपनी प्रेरणायें देंगे, उसीके अनुसार भावनायें भी।

छायावाद से अधिक पुष्ट और गम्भीर रहस्यवाद की क्रियायें, प्रेरणायें और भावनायें हैं। इसके पीछे प्रौढ़ अध्ययन अनिवार्य है। और छायावाद अनेक उन भावनाओं और प्रवृत्तियों से प्रभावित है जो 'स्व' को छोड़ 'परे' को अस्वाभाविक रूप से ग्रहण करने को बाध्य करती हैं। और उसका जीवन भी संकुचित और एकाङ्गी है। बुद्धि और हृदय मिलकर भी एक निष्कर्ष के

संयोजक नहीं हैं। और कहना नहीं होगा कि 'अंचल' में वे ही भावनायें आईं जो छायावाद की मुख्यता को ढोती हैं।

परन्तु नारी को जिस दृष्टि से उन्होंने देखा, वह उसकी नहीं कही जा सकती है। उसके प्रेम में घृणित, संकुचित भावनायें हैं। वह भावना इतने दायरे और संकीर्णता में रहती है कि श्रद्धा और आस्था की भावना पाठक के हृदय में नहीं आयेगी। नारी के सम्पूर्ण रूप को निकट से अंचल ने नहीं देखा है। नारी को एक युवती, प्रौढ़ प्रेमिका, पत्नी-रूप में देखा और पाया है। बहन और एड़ी से चोटी तक नारी माँ है, इसको विस्मृत कर दिया है। इसीलिए उनका प्रेम भी सीमित और संकीर्ण रहा है। छायावाद जहाँ मूलतः प्रारम्भ में विद्यमान रहा है, वहाँ वर्त्तमान प्रगतिवाद प्रत्यक्ष रूप से प्रेरणायें या भावनायें देता तो अवश्य वह अपनी जगह अकेला रहता। परंतु संदिग्ध और भ्रान्तिपूर्ण विचारधाराओं ने कहीं एक निष्कर्ष पर उसे नहीं टिकने दिया और जहाँ प्रगतिवाद का रूप वर्त्तमान होने लगा, वहाँ भी अविचारिता कार्य करने लगी। छायावाद वाली बौद्धिक क्रिया हटी तो प्रगतिवाद की भौतिक सत्ता उसकी बुद्धि पर प्रभाव डाल गई।

अनुकरण के आधार पर नीव पड़ने वाले तथाकथित प्रगतिवाद से वह दूर रहता तो सच्चे अर्थ की प्रगतिशीलता उसमें घर करती और वह एक ऐसे वाद का प्रतिनिधित्व करता जो मानव की समर्थ शक्तियों का वाहक होता। रोटी-दाल में सिमटी भावनायें उसमें नहीं पैठ सकती थीं। क्रान्ति की सजगता प्रबलता से उस समय भी कार्य करती, जिस समय वह अपने मूल को अपनाता। हृदय की वृत्तियाँ स्वच्छता से सत्य को ग्रहण कर एक भावधारा की ओर अग्रसर करतीं। परन्तु अनुकृति पर पलने और दृढ़ रहने वाले प्रगतिवाद की अन्तर्धारायें उसकी स्वाभाविक स्वच्छता को अपहृत कर गईं। उसकी प्रतिभा को संकुचित सिद्ध किया। छायावाद के उसी भाग को अपनाया, जिसमें विचारों की सङ्कीर्णता और अस्वाभाविकता के साथ उत्तेजित क्षणिक निम्न-प्रेम की वितृष्णा थी। प्रगतिवाद की उस सत्ता को अपने में जगह दी, जो अनुकृति का प्रेरक एवं संस्कार का द्रोही थी। मानवता की श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण कड़ियों का कोई संयोजक या प्रेरक न था। परन्तु जहाँ जिस वाद का वह अनुग बना, आँधियों और तूफानों की शक्ति लेकर, एक आवेग की आग लेकर। प्रतिभा और तेजस्विता की सर्वत्र झलक प्राप्त हुई। जीवन की दिशा में अस्वाभाविक,

युगिक-परिवर्त्तन का अवसर नहीं आता तो अब वह एक युग का समर्थ, प्रतिनिधि कवि होता।

छायावाद के गुणों और 'सेक्स' की प्रधानता में जो कवितायें लिखी गईं, उनका संग्रह 'मधूलिका' में हुआ। मधूलिका की कवितायें 'अंचल' के दूर के भविष्य का संकेत नहीं करतीं। प्रेम के अदृढ़ बाँध ही बाँधे गये हैं। युवक-युवती की उत्तेजित कृत्तियों का ही सफलता से चित्रण है। उसकी सजीव अभिव्यक्तियाँ—बौद्धिक धरातल पर टिकी हैं, परन्तु निष्कर्ष में निर्बलता है, बौद्धिक धरालत पर स्थिर रहने वाले विचारों में अपरिपक्वता साथ ही अस्थायित्व है। दृश्य घटनाओं को तुरत पकड़ लेने की शक्ति का अभाव दीखता है। किसी भी निर्णय के मूल में सूक्ष्म-दृष्टि की विशेषता नहीं मिलती है। जीवन का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बुद्धि की तुला पर प्रेम और मानव को साथ नहीं तौला जा सकता है। और जहाँ-जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ-वहाँ काव्यकार को अपने उद्देश्य में असफलता ही प्राप्त हुई है। बुद्धि से हटकर, हृदय के तन्तुओं से प्रेम का सम्बन्ध जहाँ प्रदर्शित हुआ है वहाँ उसकी सफलता साथ देती है। अवस्था के अनुरूप हृदय की उत्तप्त आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए उद्विग्न-भाव प्रदर्शित हुए हैं। यही कारण है कि 'मधूलिका' व्यक्ति में ही सिमटी रह जाती है, उसके पसरने की कहीं जगह नहीं है। लोक के पास पहुँचने की शक्ति का अभाव है। परन्तु हृदय से सम्बन्धित प्रेम की जहाँ अभिव्यक्ति हुई है वहाँ कुछ पाठक रुक सकते हैं। अवस्था के आग्रह के अनुसार ऐसे स्थल पर उनका रुक जाना स्वाभाविक ही है। प्रभाव अधिक नहीं पड़ता है। परन्तु वर्ग समुदाय वहाँ एक होकर एक साथ रुक पड़ता है (थोड़ी ही देर के लिए सही) इसलिए उसका महत्त्व सिद्ध होता है। उसके स्वागत का यह प्रमुख कारण है। एक पाठकवर्ग को रोक लेने की उसमें सामर्थ्य है, जो उसका विशिष्ट गुण है। छायावाद-रहस्यवाद के काव्य की यह विशेषता थी कि वह हृदय के स्पन्दन का कारण था। परन्तु शिष्ट विज्ञ पाठक की वहाँ पहुँच सम्भव थी।

साधारण वर्ग का मानव इतना अध्ययनशील नहीं था कि वह इसकी समझ के लिए बल देकर अपने मस्तिष्क की शक्ति का व्यय करता। उस ओर के लिए शक्ति का व्यय अपव्यय समझता है। विज्ञ प्रौढ़ पाठक को भी समय निकालकर अवसर ढूँढ़कर उससे लाभ उठाना पड़ता था। परिश्रम के परिणाम में लाभ (आनन्द-सौन्दर्य) अवश्य पाते थे। वैसे समय में 'मधूलिका'

उस अल्प पठित वर्ग को आनन्द की सामग्री देती थी, अतः उसका समादर होना स्वाभाविक था। अन्यथा उसके अतिरिक्त उसमें वैसा कोई बल, कोई कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं है जिससे किसी का उधर झुकना स्वाभाविक होता। प्रेम का परिपाक जैसे उसमें है ही नहीं, शायद असम्भव ही है। 'सेक्स' की ओर इतना वह अग्रसर है कि बाहर उचककर देखने की फुर्सत ही नहीं है। जीवन के प्रति असन्तोष और विक्षुब्धता की भावना कवि की परिक्कपता या शिष्टता में सन्देह की जगह देती है। बराबर विचलित, चंचल-सा प्रतीत होता है, एक ऐसे वातावरण का निर्माण करने के लिए मानो वह उद्विग्न और व्यग्र है जो बुद्धि-प्रधान प्रेम का स्वागत करे।

और किसी भी अवस्था में बौद्धिक प्रेम का स्वागत होना अस्वाभाविक है। परन्तु कुछ सीमा तक (आंशिक रूप में) उसे सफलता भी मिली है, जो युग को समझने की सामग्री देती है। उसमें सजगता और अपने प्रति विश्वास की भावना बढ़ती है। प्रयोग के लिए लिखी गई कविताओं में सफलता की सूचना, उसकी प्रतिभा की सबलता सिद्ध करती है। उद्देश्य, कर्त्तव्य की भावना के मूल में उसे अधिक सफलता मिलेगी, ऐसा विश्वास होने लगता है। आगे के लिए उसका यह प्रारम्भिक विश्वास सहायक स्तम्भ एवं प्रेरक प्रमाणित होता है। यों जिस भावना को लेकर 'मधूलिका' की सृष्टि हुई है, उसमें ऐसे सबल विश्वास को जगह न थी, फिर भी कवि की शक्ति की दृढ़ता उसमें विद्यमान है।

प्रेम-तृष्णा को 'मधूलिका' में पाप नहीं समझा गया है। परन्तु 'अपराजिता में आकर पाप तो नहीं, परन्तु उसकी पूर्व सामग्रियों एवं प्रवृत्तियों की आवृत्ति नहीं की गई है, जो सूचित करती है, उसके विचार-परिवर्त्तन को। प्रेम का रूप यहाँ भी विद्यमान है, किन्तु सीमित वातावरण का वहाँ अब आग्रह नहीं है। बौद्धिक धरातल में परिवर्त्तन की रेखायें दौड़ने लगीं, परिणाम स्वरूप जीवन के स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयास स्पष्ट दीखता है। छायावाद की अन्तर्धारायें या उसकी क्रियायें (अशारीरिक, काल्पनिक सौन्दर्य का आख्यान) प्रबलता से अपनी सिद्धि के लिए व्यग्र नहीं है। 'क्रान्ति' की मूल भावना में वह क्रिया अव्यक्त रूप से कार्य करती है जो निर्दिष्ट मार्ग पर ही अग्रसर होने का आग्रह करती है। हिन्दी-काव्य की वे प्रवृत्तियाँ 'अपराजिता' में दीखती हैं जो उसकी स्वच्छता और सहिष्णुता की वाहिका शक्ति बुद्धि के भ्रम को अपने से सदा दूर रखने का आदेश देती है। भ्रान्तिमय धारणा को अपने में स्थान देने का परिणाम स्पष्ट उसे दूर से ही

दिखाई पड़ता है। 'मधूलिका' की भ्रान्तियों ने दूर-दूर उसे भटकाया है, पर ज्ञान के विकास-सोपान पर अग्रसर होने वाले कवि की उत्कृष्टता, अपराजिता की उन कविताओं में व्यक्त होती है जो हृदय की वृत्तियों को सबके सम्मुख उसी रूप में उत्तर देती हैं।

काव्यात्मक सौन्दर्य की विशेषता भी इसमें प्राप्त होती है। परन्तु इतना होने पर भी प्रेम का परिचायक वह न हो सका है। तृष्णा के आवरण में मानव को घेरे रखने का प्रयास यहाँ भी दृष्टि-गोचर होगा, किन्तु दूसरी ओर की बौद्धिक और हृदय से संयोजित वृत्तियाँ उस प्रयास को अस्वाभाविक और व्यर्थ घोषित करेंगी। प्रेम की ज्वाला, तृष्णा-आकांक्षा के अभाव की नहीं पूर्त्ति की जलन उसे फिर चंचल और उद्विग्न बनाती-सी दीखती है। असन्तोष की आग की लपट फिर उसका घर बन गई है। परन्तु बौद्धिक अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता सर्वत्र दृष्टि-गोचर होगी। लालसा ज्यों की त्यों अपनी जगह खड़ी है, विचार में परिवर्त्तन है, पर तृष्णा या लालसा में परिवर्त्तन नहीं है :—

> **हिलती वन्या-सी आकांक्षा रक्त भरे आवेगों से**
> **फिर परिचित सुख की आगमनी में भी जब उठते प्यासे**
> **तृप्ति नहीं, फिर भी मिटी है बड़ी व्यथा यह मतवाली**
> **मरघट भी भर-भर आते जब दिन ढलते गिरती लाली**
> **ओ अपराजिता चिरव्यथिता ओ! गहन कुंज में याद न कर**
> **संगनी! जीवन की बाती सी जलनभरी फरियाद न कर।**
> **तृप्ति नहीं है, फिर भी उसे तृष्णा**

प्रिय है, व्यथा मिटी है। किन भावनाओं के प्रेम के परिणाम में ये भाव विद्यमान हैं, यह कहना कठिन नहीं है। जो 'मधूलिका' की भाव-धाराओं से परिचित होंगे, वे इसका सहज ही में अनुमान कर लेंगे। तृष्णा भी एक प्रकार से उसकी प्यास को दूर करने का साधन है, इसे वह अस्वीकार नहीं कर सकता, चूँकि सर्वत्र उसकी संस्थिति चाहता है। और जब उसकी पूर्त्ति ही अनिच्छा भाव से चाहता है, तब उसका दूर होना भी कठिन है। इसे उसने विस्मृत कर दिया है कि प्रेम की विह्वल इन प्रवृत्तियों में ही काव्य का आवास नहीं है। बाह्य की परिस्थितियाँ भी मापनी चाहिए। अन्यथा सीमा से बाहर आना उसके लिए एकदम असम्भव होगा। और काव्यकार के लिए सीमान्त रेखा, उसके विकास का जबर्दस्त बाँध है। सीमा

या दायरे में उसकी संस्थिति हुई तो निश्चय है, न उद्देश्य में वह सफलता पायेगा, न जनता का विश्वास प्राप्त करेगा।

यथार्थ की आड़ में साम्यवाद-समाजवाद की भावना लेकर निश्चय 'किरण-बेला' में 'अंचल' ने एक क्रान्ति उत्पन्न की। अपराजिता तक उसने हिन्दी-काव्य में वैसी कोई प्रवृत्तियों की विशेषता नहीं दिखलाई, जो क्रान्ति-विशेष के नाम से अभिहित होने की शक्ति रखती हों। प्रगतिवाद का भौतिक आधार यहीं से उसमें समाविष्ट होने लगता है। और रूस के समाजवाद से प्रभावित उसकी प्रवृत्तियाँ एक सीमा में केन्द्रीभूत हो जाती हैं। मधूलिका, अपराजिता की काव्यात्मक मनोदशायें 'किरण-बेला' में लुप्त हो जाती हैं। किन्तु प्रगतिवाद के अर्थ की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ (साम्यवाद-समाजवाद की ही) हो जाती हैं। इस वाद का 'अंचल' पहला कवि है। जिसको बोली में बल था, काव्यात्मक प्रवृत्तियों में स्थायित्व। परन्तु भारतीय संस्कृतियाँ या प्रवृत्तियाँ उसमें स्थान न पा सकीं या उनको उसने त्याज्य समझा। रोटी-दाल और निम्न वर्ग की स्थिति का परिचय दिलाना ही उसके काव्य का ध्येय हो गया। जीवन की समाप्त क्रियायें उसी एक वर्ग के उत्थान में अपना सहयोग देने लगीं। फलतः एक देशीय एक वर्गीय समाज की विधान शक्तियाँ उसकी बुद्धि में बैठने लगीं, परिणाम में कम्यूनिज्म से अनुप्राणित काव्य की सर्जना में व्यस्त रहने लगे।

आदर्श के वस्तु-व्यापार में बढ़ने का आग्रह 'अंचल' को नहीं किया गया। वह यथार्थवादी बनकर भी भारतीय काव्यात्मक प्रवृत्तियों को अपना सकता था। किन्तु समवेतर प्रवृत्तियाँ और वस्तु व्यापार में प्रचार के लोभ ने समाजवादी परिवर्त्तन लाने को बाध्य किया। यदि स्वतः यह परिवर्त्तन हुआ होता तो स्थायित्व की अधिक सम्भावना थी। हृदय बल-बुद्धि-बल की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ है, जो किरण-बेला में नहीं स्थान पा सका। बौद्धिक क्रियाओं ने जो भौतिकवाद की सत्ता से प्रभावित हैं, सबलता से पहना कार्य किया। यथार्थवाद का प्रचारक घोषितकर उसकी लाक्षणिक शक्तियाँ एकत्र करने लगा। और वह साहित्य का एकमात्र कर्त्तव्य-लक्ष्य सिद्ध करने लगा कि उन्हीं पीड़ित, शोषितों के लिए हमें सब कुछ करना है, जो उसकी भूल थी, जिसका कारण साम्यवाद समाजवाद की भावना का प्रचार है। आदर्श यदि आकाश और रूढ़ि एवं अन्धपरम्परा की वस्तु है तो प्रगतिवाद की निम्न-वर्ग के प्रति कारुणिक सहानुभूति, कहाँ धरती की वस्तु सिद्ध होता है। काव्य

में उसका प्रत्यक्ष, सजीव चित्रण मात्र है, हृदय उसका साथ देने के लिए प्रस्तुत नहीं है। कवि के विचार (Thoughts) ही वहाँ काव्य का स्वरूप निश्चय करते हैं।

'किरण-वेला' के विचार और निष्कर्ष 'कटील' में फिर एकदम बदल जाते हैं। भौतिकवाद की प्रवृत्तियाँ उसमें प्रविष्ट न हो सकी हैं। समाजवाद के विधान की चिन्ता नहीं गई है। यद्यपि क्रान्ति के स्फुलिङ्ग, जहाँ कहीं उड़कर आ गए हैं, किन्तु उनका प्राबल्य नहीं है। और 'लाल चूनर' की अभिव्यक्तियाँ, पलायनवाद का पोषक हैं, 'किरण-बेला' की मनोदशायें या काव्यात्मक सौन्दर्य की विशेषता 'लाल-चूनर' में नहीं है। मैं कहूँगा, इसमें 'अंचल' धीर-गम्भीर रूप में अवतरित हुआ है। संयत, सुनिश्चित विचार की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। उसके प्रगतिवादी विचार पर जो मार्क्सवाद का प्रभाव प्रदर्शित करते हैं, वहाँ अपने विषय में समझता है कि कहाँ तक वह प्रगतिशील है। कह देने से ही वह प्रगतिशील नहीं हो सकता। प्रगतिशील काव्य की मूलभूमि की उत्पत्ति किस अवस्था में होगी, इसके लिए उसका कहना है—'जनबल की दुर्दम शक्तियों का लौकिक सत्य और असत्य से संघर्ष (मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक भूमिका में) जब तक काव्य के मूल रसधारों से सम्पर्क और दृढ़ पारस्परिक विकास नहीं स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ में सच्चे प्रगति-काव्य की रचना असंभव है।*

पूँजीवाद के प्रति असन्तोष की विद्रोही (क्रान्ति रूप) भावनाओं को लखकर सीमित अर्थ में 'अंचल' को लोगों ने प्रगतिवाद का पोषक कहा है। उसको समझने में संदिग्ध भावनायें और धारणायें स्थिर की गई हैं। यद्यपि वह स्वयं कहीं-कहीं अपने को भ्रान्ति-परिस्थिति में रखने की सामग्री देता है, फिर भी कुछ संयत अभिव्यक्ति उसके सुस्थिर रूप को ही प्रकाश में लाती है। कम्यूनिज्म से प्रभावित 'लाल-चूरन' की भी कुछ कवितायें हैं, पर निर्बल भावनायें लेकर। 'बोल अरे कुछ बोल' उसी श्रेणी की कविता है। ऐसी कविताओं को पृथक कर दें तो सम्पूर्ण दृष्टि से शेष कविताओं में काव्यात्मक सौन्दर्य है जिसमें स्थायित्व है। 'लालचूनर' में सत्य का आग्रह, असत्य के प्रति घृणा मिलेगी।

---

*लाल-नर|भूमिका, पृ० २

भगवतीचरण वर्मा :—एक दृष्टि

जीवन के सत्य को पकड़ने की विलक्षण शक्ति भगवतीचरण वर्मा में भी है। संघर्षों के बीच चलने वाले जीवन-रथ के प्रति उन्हें सहानुभूति है! परन्तु प्रारम्भ के दृष्टिकोण को संघर्षों का महत्त्व अस्वीकार कर, चूँकि प्रेम की विह्वलता में भावुकता की प्रबलता थी। समस्त मानसिक या बौद्धिक शक्ति, सस्ते रोमान्स पर अवलम्बित प्रेम में केन्द्रीभूत थी, स्वाभाविक चिरन्तन विकास के लिए उसमें अवकाश न था। 'मधुकण' में एक साधारण भावना का निर्वाह मात्र है, विशिष्ट किसी भी क्रियात्म-शक्ति का आभास नहीं प्राप्त होता। जीवन संकुचित, सङ्कीर्ण दायरे में विचरता है। ऐसे जीवन का कुछ ध्येय लक्ष्य नहीं। यही जीवन यौवन की प्रौढ़ता का वाहक बन जाता है तब उसके प्रेम में भी एक स्वाभाविक प्रवाह आता है जिसका परिपाक 'प्रेम सङ्गीत' में हुआ है।

परन्तु इसमें जीवन की अस्थिरता रही है, विशेष बल और उत्साह लेकर अग्रसर होना चाहिये था, बल्कि वह और अलस-श्लथ भावों को ढोने लगता है। यौवन की सारी उमङ्गें, आशाओं की समस्त क्रियायें जैसे प्रेम की निम्न शाखाओं में आ मिली हैं। कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। एक आतुर, विह्वल भाव ही सर्वत्र परिलक्षित होता है, सबकी समान गति है। प्रेम का विरह-रूप भी बहुत उच्च नहीं चढ़ सका, परन्तु मानसिक स्थिति अपने स्तर पर खड़ी उतरी है। आकुलता की अवस्था में हृदय की गति अवरुद्ध हो जाती है, परन्तु चूँकि प्रेम का स्वस्थ ही रूप प्रकट हुआ है, अतः वह गति तीव्र ही रही है। प्रेम का ज्वार आकर रुक गया है, यही आश्चर्य है, चूँकि उसका रुकना अस्वाभाविक एवं असम्भव है, कोई भी ज्वार अपने साथ कुछ लेकर आता है, और लेकर जाता है। रोमान्स की सर्वत्र परिव्याप्ति नहीं रहती तो प्रेम-ज्वार पर विराम-चिह्न नहीं रहता।

मस्ती भावुकता की आकुलता या विह्वलता न रहती तो 'प्रेम-सङ्गीत' अपने आप में पूर्ण रहता। उसमें वास्तविकता का अभाव है। छायावाद की अन्तर्दशायें उसमें अपना प्रभाव डालती हैं, किन्तु तत्त्व की विवेचना उससे भिन्न है। प्रेम का सत्य भाव भी अवलम्बनकर नहीं प्रकट हुआ है। मानवी-प्रेम की शक्ति में भी दृढ़ता रहती है, कवि इसको भूल गया है। अनुभूति की अभिव्यक्ति में इतना स्मरण रहना चाहिये, साहित्य का शिव-पक्ष निर्बल है या सबल। यदि रोमान्स की क्रियायें इस पर विश्वास करने का निषेध करती हों

तो कवि विचलित हो सकता था, किन्तु कम से कम भारतीय-साहित्य की लाक्षणिक शक्तियाँ कदाचित ऐसा नहीं कर सकतीं। विशेषत: भाव ही उन्हें अस्वीकार होगा। प्रेम इनके यहाँ कोई अपवित्र वस्तु नहीं है, किन्तु अक्षय तत्त्व की प्राप्ति का आदेश सर्वत्र रहता है, चूँकि निम्न स्तर भी स्थित रहने वाले प्रेम में सत्य-भाव, या अक्षय तत्त्व ही की स्थिति रहती है। और ऐसा भी नहीं है कि प्रेम में ईश्वरत्व का प्रतिष्ठान करें।

अति भावना का बराबर यहाँ विरोध किया गया है। योरप की विवेचना के निष्कर्ष में प्रेम का सर्वत्र एक ही रूप है, किन्तु यहाँ उसके विभिन्न रूप हैं। अवस्था के अनुसार चलने वाला प्रेम विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। हृदय के सब उद्रेकों पर अवलम्बित होने वाला प्रेम कुछ स्थायी है, और आनन्द, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का साधन ढूँढ़ने के निमित्त अन्तरात्मा-परमात्मा का प्रेम सत्य के आधार पर स्थिर रहने वाला है। तर्क की पृष्ठभूमि में अपना स्वरूप स्थिर करने वाला योरोपीय प्रेम का सिद्धान्त सस्ते भावयुक्त प्रेम के लिए भी कहता है :—Love is god, god is love. प्रेम का अस्तित्व, अस्थायित्व में है जो 'प्रेम-संगीत' में नहीं है। मानव की सर्वमूलक चेतना जीवन का आख्यान बनकर उसमें परिव्याप्त नहीं है, उसकी विधियाँ ऐसे मानव की विवेचना करती हैं, जो निर्बल हैं और अपने आपमें एकदम अपूर्ण है। पौरुष-प्रेम की कहीं भी अभिव्यक्ति नहीं है। समर्थ मानव की विवेचना हुई होती तो उसके प्रेम में पौरुष की पुञ्जीभूत शक्तियाँ निहित रहतीं।

इसमें मानव की आकांक्षाएँ उत्तेजना को लेकर रहती हैं, उत्तप्तता अधिक है। तृप्ति की लालसा तीव्र है, गम्भीरता या दृढ़ता नहीं है। एक स्त्री-प्रेम की विह्वलता, इस मानव पुरुष में है जो उसके लिए अनुचित है। छायावाद की अवसन्न अवस्था की गुप्त कृतियों (कार्यों) में प्रेम का जो विश्लेषण था, उसकी दो विविध शक्तियाँ थीं, जो पुरुष और नारी के लिए अलग-अलग दृष्टिकोण बनकर अवतरित होती थीं। रोमान्स की सस्ती भावुकता उसमें थी, किन्तु अपनी जगह उसमें स्थिरता और गम्भीरता भी अधिक थी। उसके प्रेम में एक ज्योति, एक प्रकाश था, जो युवकों को आकृष्ट करता था। हृदय की अनुभूति, उसमें भी थी, किन्तु त्याज्य को ग्राह्य बनाकर वस्तु-विशेष को व्याख्या नहीं करती। युवक में युगधर्म के कर्त्तव्य का आह्वान भी था। किन्तु उससे प्रभावित होकर भी 'प्रेम-संगीत' का कवि छायावाद के प्रेम-गुण को न अपना सका।

प्रेम के अद्वैत-भाव यदि उसे अप्रिय थे तो सहज ही में उस अंश को छोड़ा जा सकता था—छोड़ा भी गया। युग-धर्म का कर्त्तव्य-भाव नहीं आ सका तो कम से कम सुन्दर भाव आना चाहिये था। रोमान्स को जाग्रत कर जो प्रेम का व्यक्तीकरण हुआ है उसमें सत्य का अवस्थान नहीं है। सौन्दर्य को सदैव दृष्टि में रखा गया है, जिसमें अन्त तक तृप्ति नहीं प्राप्त हुई। असफल योजनायें विरक्त भाव से उपेक्षित हो गईं। यही प्रेम छायावाद की शीलता का निर्वाह करता तो अवश्य सौन्दर्य के मूल में इस भावना को नहीं भूलता कि वह असत्य और क्षण-भङ्गुर है, उसका कोई अस्तित्व नहीं (कला-विभाग को छोड़कर)। सौन्दर्य, कला की मान्यताओं में महत्त्व रखता है, अतः वह उसकी प्रिय वस्तु हो सकती है। वह साहित्य-वस्तु की कला सत्य भाव को ही सौन्दर्य की संज्ञा देगी, परन्तु मानवी-गुण के सौन्दर्य की विशिष्टता उसे अस्वीकार ही होगी। विशेषतः भारतीय साहित्य की कला भारतीय ही होगी, अतः यथासम्भव स्थिर, स्थायी सौन्दर्य को ही अपने यहाँ स्थान देगी जो सत्य-भाव में ही सम्भव है।

हाड़-मांस के यौवन से आक्रान्त सौन्दर्य में लालसा की क्रियायें नृत्य करती हैं। जिन क्रियाओं से कवि अभिभूत है। सौन्दर्य की मादकता और मोहकता उसमें इतना घर कर गई है कि कवि कहीं उनका मोह नहीं छोड़ सका। विशेष-वस्तु की प्राप्ति का लोभ-मोह उसको एक परिधि में ही रखा, जिसमें बाहर की कल्पना भी उसके लिए कठिन थी। निद्रा की तन्द्रा में उत्साह की भावना सिमटी ही रहेगी।

सन्तुलित, संयमित जीवन को कर्त्तव्य-भावना की प्रेरणायें देने के निमित्त कर्म (Action) की सदा प्रधानता देनी चाहिये, सिर्फ़ दैहिक-शक्तियों को उत्तेजित करने के साधन ढूँढ़ने चाहिये। मानवता के प्रचार के लिए कर्त्तव्य-पालन ही सर्वथा उचित है। जो कर्म से विशेष प्रभावित है। कर्म कभी उचित से ज्यादह आवश्यकता से अधिक के लिए चेष्टा-प्रचेष्टा नहीं करता। प्रेम के व्यापार को अपने यहाँ किसी भी स्थिति में प्रश्रय देना उसे इष्ट नहीं। वर्मा जी के प्रेम में व्यापार-भावना ही उग्रता से व्याप्त है। कर्म की श्लाघा वहाँ नहीं है। यद्यपि बुद्धिवादी को हमेशा प्रेम में कर्म की भावना रखनी चाहिये, और स्पष्ट ही उद्घोषितकर कवि ने स्वीकार भी किया है। अपने को बुद्धिवादी के रूप में। फिर भी कर्म-पथ से सदैव वह दूर रहा है—प्रेम-संगीत तक, सत्य और कर्म को स्थूल दृष्टि से देखा है, सूक्ष्म से नहीं। अनुभूति सत्य का दूसरा नाम है, किन्तु विरोधी भावनाओं की जो परिणति अनुभूति में हुई, वह व्यक्ति

की उत्तेजना को लेकर है, सत्य का वास्तविक रूप उसमें स्थिर नहीं होता। व्यक्ति की सब अनुभूति विशिष्टता से पूर्ण नहीं होगी, अहं की भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई रहेगी तो कवि-व्यक्ति परिहार्य अनुभूति की भी तथ्यता प्रदर्शित करेगा। वर्माजी में यह विशेष रूप से पैठ गया है। अहं की एक प्रकार से उन्होंने अनिवार्यता सिद्ध की है, परन्तु मेरी दृष्टि में किसी का भी अहं विनाश की सामग्री एकत्रित करता है। लोक-पक्ष पर ध्यान देंगे तो स्पष्टतया लक्षित होगा, उसे गर्व की जगह गौरव ही सर्वतोभावेन स्वीकार है।

भारतीय काव्यकारों के लक्षणों में भी अहं बोलता है, किन्तु आत्म-विश्वास की दृढ़ता में विशेषतः गौरव ही अपना महत्त्व रखता है। योरप की विशिष्टता में अहं की गणना होती है, पर चोटी पर पहुँचे कलाकारों को यह मान्य नहीं होगा। हृदय की सरसता या मानवगत साम्य-सहृदयता में यह सदैव हेय-दृष्टि से देखा गया है। प्रबलता इसी की रही है। किन्तु स्थायित्व की जिन्हें चिन्ता रही है, उन्हें यह अहं अप्रिय ही रहा है। किसी भी साहित्य में सहृदयता से पूर्ण भावना की ही प्रशंसा रही है, इसलिए इससे परे का कोई भी शब्द उन्हें अतपेक्षित होगा। अहं के प्रतिशब्द को भी वे अपने यहाँ प्रश्रय नहीं देंगे। जीवन का कोई भी स्वरूप अहं में अभिलक्षित नहीं होगा। उसका यथार्थता भी नहीं सिद्ध हो सकती। अहं के प्रेम में प्रवञ्चना-शक्ति उग्रता या तीव्रता से अपनी ही साधती चली जाती है। मनुष्य के कर्म-भाव की नहीं जागृति का एक कारण यह भी है कि वह अहं के भार से नमित है।

बँगला कवि यतीन्द्रनाथ बागची के प्रेम का एक स्फुरता वर्माजी में भी है जो उनके प्रेम की सहिष्णुता के साथ समता रखता रहता है। सौन्दर्य में मुग्ध-भावना की आन्तरिक क्रिया प्रच्छन्न रूप से उनमें अपना कार्य किये जाती है। परन्तु स्थल-स्थल पर उसकी कविताओं में जो प्रेम-सौन्दर्य है, उसमें वर्माजी की अपेक्षा स्थायित्व और स्वस्थता अधिक है। इसका मुख्य कारण कदाचित् यही है कि उन्होंने अपनी अनुभूतियों को काव्य में स्थान दिया है जो लोक-पक्ष के लिये अग्राह्य नहीं है। यह नहीं कि उनमें भावनाओं की विदग्धता नहीं है, सम्पूर्णता की दृष्टि से भी वे स्वस्थ हैं। परन्तु हाँ, एक सूक्ष्म अन्तर यह भी है कि अपने को घोर बुद्धिवादी वे नहीं मानते हैं। और अहं के प्रभाव से भी वञ्चित ही कहे जा सकते हैं। बल्कि बुद्धि से अभिप्रेत-प्रेम पुरुष का पौरुष नहीं वहन कर सकता। हृदय पूर्णरूप से उसका साथ नहीं दे सकता।

उस प्रेम का सम्बन्ध मस्तिष्क से अधिक रहेगा, हृदय से नहीं। वह मानसिक स्थितियों को ही सुस्थिर करने में सक्षम होगा। यद्यपि प्रेम का सम्बन्ध हृदय से भी उतरा है और मस्तिष्क से भी, किन्तु वहीं तक जहाँ तक वर्माजी का केवल सहृदयता से सम्बन्ध है। परन्तु उनके प्रतिकूल हुआ, चूँकि वे अपने को बुद्धिवादी कहते हैं जो विशेषतः भौतिकवाद का जीव है। यह घोषणा वे न भी करते तो उनके दृष्टिकोण की महत्ता रह सकती थी। बल्कि वक्तव्य में अन्तर आ जाने के कारण कहना होगा वे पाठक को यह कहने का अवसर देते हैं कि कवि अभी भ्रान्ति में है। उनके प्रति स्वाभाविक रूप से मन में एक धारणा बैठ जाती है जिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता और उस स्थिति में यह एकदम असंगत है जब उन्हें स्वयं किसी को भ्रान्ति में रखना इष्ट नहीं है, सर्वत्र स्पष्टता के वे आग्रही हैं, प्रतिकूल धारणा और भावना बनाने का स्वयं अवसर देना वे नहीं चाहते। कवि की इसमें विशेषता है कि वह पाठक को अन्यथा भाव लाने का कहीं भी अवसर न दे।

तात्विक-चिन्तना में प्रेम की तथ्यता रहनी चाहिये थी, इसे भी कवि भूल गया है। बुद्धि का एकाङ्गी-पथ उसे मान्य है, अतः हठभावना के आविर्भाव के कारण चिन्तन-शक्ति का वह विरोधक नहीं कहा जा सकता, किन्तु तथ्य से वह दूर-सा प्रतीत होता है। धरती पर का ही जीव अपने को मानता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु प्रेम-भाव के प्रकटीकरण में वह इतना असंदिग्ध रहा है कि सिद्धि में असफलता ही प्राप्त हुई है। चूँकि कुछ देर के लिए आकाश-मार्ग पर चलना उसे प्रिय लगता है, यह भी बुद्धिवादी के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। वह सिर्फ धरती का कवि अपने को मानता है।

मिट्टी की गन्ध से वह दूर की कल्पना को भी भरसक अवसर नहीं देना चाहता, इसे वह अपनी बड़ी निर्बलता समझता है। प्रेम की विह्वलता में भी ऐसी स्वाभाविकता रहती है जो तथ्य का गुणग्राही प्रमाणित होती है। विचार के आधार पर लिखी गई प्रेम से सम्बन्धित कवितायें हृदय के स्पन्दन का कारण नहीं सिद्ध हो सकतीं। इस पर कवि का निर्णय विचारणीय है। प्रेम-सङ्गीत की कविताओं के लिए उसका कहना है:—मेरा एक निजी दृष्टिकोण है, और मेरा वह दृष्टिकोण मेरी उन कविताओं में मिलेगा, जिन्हें हम विचारात्मक कह सकते हैं। उन कविताओं में भावनायें अवश्य हैं, पर वे बुद्धि से परिपुष्ट हैं, तर्क पर अवलम्बित हैं।*

---

*प्रेम संगीत के दो शब्द से।

भावनाओं का उद्रेक-स्थल हृदय है, बुद्धि से परिवेष्टित कवितायें मस्तिष्क के विकास का प्रमाण मात्र दे सकती हैं, योग्यता-प्रदर्शन के लिए उनकी आवश्यकता पड़ सकती है। और तर्क का निष्कर्ष असत्य भी हो सकता है, उस पर सहज ही विश्वास नहीं हो सकता है। बल्कि स्पष्ट शब्दों में तर्क का दूसरा नाम झूठ है अतः ऐसे स्थल के लिए अपनी अनुभूति भी दृढ़ और भ्रान्ति को प्रश्रय देती है।

जीवन की पृष्ठ-भूमि में अनुभूत, सत्य का प्रतिनिधित्व करती है, पर हृदय के तन्तु जुटे हों तब, अन्यथा वहाँ भी भ्रान्ति का सन्देह रह जाता है। वैसी अवस्था में जीवन के प्रत्येक अवयव अशक्त और कालुष्य की भावना से पुष्ट हो जाते हैं, संदिग्धता से पूर्ण जीवन की गति सहसा रुक जाती है। उसके आगे सब कुछ विराम बनकर उपस्थित होता है, सब क्रियायें अचल हो जाती हैं, उस समय स्वाभाविक रूप से जीवन का प्रतिशब्द मृत्यु हो जाता है। और ऐसा नहीं होना चाहिए था, जबकि कवि ही इसके प्रतिकूल है—'गति ही जीवन है; और गतिहीनता मृत्यु है।* अगति का दूसरा नाम मृत्यु है, यह सर्वविदित ही है। बुद्धिवादी के लिए तो मानों वह अन्तिम निष्कर्ष हो।

यह कहने का आशय नहीं है कि 'प्रेम-संङ्गीत' में जीवन नहीं है, बल्कि जीवन की वास्तविक विधियाँ उसमें सुरक्षित हैं, किन्तु कवि को अपनी स्पष्टता में बराबर भ्रम रहा है। बुद्धि पर अवलम्बित जो कवितायें हैं, उनका विभाजन ही शून्य भाव को लेकर होगा, जो कवि-गुण से पृथक होगा, वहाँ जीवन कुण्ठित हो जाता है। मानसिक स्थिति का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क से होगा, वहाँ बुद्धि-प्रबल भले हो, परन्तु कवि-गुण का परिचय नहीं देगा :—

तुम आदि-प्रकृति, मैं आदि पुरुष,
निशि-बेला, शून्य अथाह, प्रिये।
तुम रतिरत, मैं मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है—चाह प्रिये !†

कवि गुण की अभिव्यक्ति का यहाँ अवसर ही नहीं प्राप्त होता। बुद्धि से परिवेष्टित यह कविता उपनिषद्-भावों की आकृति मात्र है, इसके लिए कवि-बुद्धि को विशेष कुछ नहीं करना पड़ा है। फिर भी सूक्ष्म और अवसर

---

* प्रेम-संङ्गीत के दो शब्द से।

† प्रेम-सङ्गीत, पृ० ४६

की सूक्ष्मता बुद्धि का ही द्योतक है, परन्तु कवि-गुण सीमा में ही महत्त्वरहित हो अविष्ट रह जाता है। हृदय की सरसता ढोनेवाली भी प्रेम-सङ्गीत में कवितायें हैं। किन्तु उनके प्रकार में भिन्नतायें हैं और कवि उनके लिए संदिग्ध और अस्पष्ट है। बुद्धि के अनुरूप वह अहं में सिमटा है। अपनी अस्पष्टता को स्पष्टता सिद्ध करने के लिए आतुर है। उसमें दम्भ की एक ऐसी भावना है, जो असत्य और अविश्वस्त अधिक है। और ठीक इसके विपरीत वह अपने को घोषित करता है:—'लिखता हूँ इसलिए कि लिख सकता हूँ, और यह विश्वास है कि जो कुछ लिखता हूँ वह स्पष्ट है। अपनी भावनाओं को मैं पढ़ने वाले के सामने शुद्धरूप से बिना विकृत किये पहुँचा तो सकता हूँ। यही क्या कम है।'†

यही क्या कम है कि भावना, काव्य के जीवन को संकुचित और अस्थायी बना देती है। अहं की प्रबलता की सिद्धि के परिणाम में झूठ सबल हो जाता है, कवि के प्रति विशेष श्रद्धा की भावना कुछ देर के लिए हो जायगी, किन्तु विश्वास की भावना नहीं हो सकती।

जीवन के दृष्टिकोण को लेकर कवि का सहसा परिवर्तन होता है 'मानव' में। स्वाभाविक रूप से उसकी प्रगति होती है, यह प्रगति वर्त्तमान, अतीत और भविष्य के निष्कर्ष के लिए अच्छी ही कहलायेगी। यही अत्यन्त उन्नत भाव के विश्लेषण में कवि निमग्न मिलता है। यद्यपि बुद्धि की विशिष्टता की यहाँ भी सिद्धि होती है, किन्तु संयम में। हृदय इस बुद्धि का साथ देता है, चूँकि कवि सम्पूर्ण पर अवलम्बित है, एक सीमा, एक की परिधि में मड़राना उसने छोड़ दिया है। प्रेम-आकुलता यहाँ न मिलेगी, न मस्तिष्क की शुष्कता ही। बुद्धि का विस्तृत भाग हृदय के तन्तुओं को गूँथता है। विश्वास के आधार सुदृढ़ हैं। पाठक को अपनी बात सुनने के लिए आग्रह करने की आवश्यकता न होगी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए दलीलें नहीं दी गई हैं, न आरगूमेण्ट पेश किये गये हैं।

सामने के दृश्यों ने कवि को प्रभावित किया है, हृदय की अनुभूतियाँ सजग हैं। अनुभूतियों में सत्य प्रबल है। और इस सत्य पर स्वाभाविक रूप से सहज में विश्वास करना पड़ता है। मानव, बौद्धिक मानव इतना दुर्बल है कि कोई भी सत्ता निश्चित करने में निष्फल सिद्ध हुआ है। बराबर आवरण में रखने का परिणाम उसकी आँखों के आगे है। हिंसा की भावना, आत्मसंरक्षण-

† प्रेम-सङ्गीत के दो शब्द से

शाक्...म आत्मविश्वास का समावेश, ये सब स्पष्ट होकर कटु, तीखा, कर्कश व्यङ्ग छोड़ने में व्यस्त हैं। इसीलिए वह संत्रस्त और संकुचित हो गया है। उसके विश्वास में कोई बल नहीं, उसके निष्कर्ष में कोई महत्त्व नहीं है। अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का अब उसके पास कोई साधन नहीं रह गया है, उसकी उद्विग्नता का यह भी एक मुख्य कारण है।

भावना और बुद्धि के अनुसार कल्पना में उसका जीवन अब नहीं रह गया है। अपनी जागृति का परिचय देने के लिए झूठ के तर्क जिसका अब तक उसने प्रश्रय लिया था, वह व्यर्थ की निष्प्रयोजना ही सिद्ध कर सका है। प्रयोग और निर्माण में अपनी सारी बुद्धि का व्यय करने वाला मानव एकाएक घबरा गया है। उसकी आन्तरिक शक्ति का दम्भ उखड़ गया। और उसकी सजगता अनिवार्य है कदाचित् इसीलिए मानव का कवि मानवता की चिन्ताओं में व्यग्र है। धुँधली आशाओं में जीने वाले मानव को वह सतर्क रखना चाहता है। और इसके मूल में उसकी बौद्धिक प्रेरणायें अहं की परिणति में नहीं हैं, यही परिवर्त्तन प्रतिकूल भ्रान्तिपूर्ण धारणा का अवसर नहीं देता है।

यह नहीं कि अहं से वह दूर है, परन्तु बुद्धि और अहं के यहाँ दो मार्ग निश्चित होते हैं, उनकी सूक्ष्म भिन्नताएँ हैं, जो पाठक को बहकने नहीं देती हैं। यह अहं गौरव का प्रतिनिधित्व करता है, यह बुद्धि हृदय को सामने रखकर विचारात्मक भावनाएँ स्थिर करती हैं। साधारण पाठक, कवि के अहं को अधिक विकास पर प्राप्त देखेगा, उसका अहं अधिक प्रतीत होगा, किन्तु इस अहं के पीछे विनम्र आग्रह सरस भावनाएँ गौरवयुक्त हैं। इसीलिए यह अहं अपने अर्थ को चरितार्थ नहीं करता। यदि इसके विपरीत अतीत की आवृत्ति करता तो यह नहीं कहता कि 'अहं अस्तित्व है—अहम्—को तुष्ट करना जीवन है। इससे भी अधिक स्पष्टता यहाँ है—'अहम्' अस्तित्व है जो यह कहता है कि उसने अहं को मिटा दिया है।'* कवि के प्रति समीक्षक की यह उक्ति उसके शब्दों में व्यक्त हुई है, परन्तु यह स्थल उसकी मनोदशाओं को समझाने के लिए पूर्ण समर्थ हैं। कवि की प्रत्येक भावनाओं में अहं (गौरव) बनकर विद्यमान है।

बुद्धि की भी विवेचना, उसके विषय में अलग निर्णय करने की पर्याप्त सामग्री दे देती है। 'प्रेम-सङ्गीत' की बुद्धि अत्यन्त संकुचित थी। और

---

*मानव की भूमिका से।

'मानव' की बुद्धि एक प्रशस्त मार्ग का निर्देश करती है। भ्रान्ति को अपने से बराबर दूर रखती है, जैसे उसने कवि में यह प्रविष्ट करा दिया है कि भ्रान्ति में प्रवञ्चना निहित है जो असफलता का उद्भव-स्थल है। बुद्धि स्वस्थ विचारों की ओर आकृष्ट करती है। और स्वस्थ विचार का निष्कर्ष सर्वथा सबल और मान्य सिद्ध होता है, हठ को भावना, उपेक्षा-प्रवृत्ति को स्थान देगी, अन्यथा कवि साधारण और विज्ञ पाठक को सदैव अपने साथ देखता है। यद्यपि यहाँ भी कहीं-कहीं अपनी अपूर्णता के कारण दृश्य घटना के चित्रण में सत्य को छोड़ देता है, परन्तु हृदय को साथ ले चलने वाला बौद्धिक ज्ञान उसे सँभाल देता है।

पूर्व की अभिव्यक्ति में बौद्धिक-ज्ञान अहं (गर्व) के साथ सम्पर्क स्थापितकर अपना स्वरूप स्थिर करता था, किन्तु अब चूँकि वह अहं उससे पृथक हो गया है, बुद्धि भी एक अपने भाव में स्पष्ट और पूर्ण हो गई। यदि अहंयुक्त बुद्धि इस समय भी रहती तो यह कहने का अवसर न देती कि 'मेरी बुद्धि इतनी अधिक विकसित नहीं है कि मैं उसके द्वारा चीज़ों को समझ सकूँ।* पूर्व की स्थिति में कवि को अपनी बुद्धि की सम्पूर्णता पर पर्याप्त विश्वास था। असम्भव-सम्भव पर मानो उसका समान निष्कर्ष था। तर्क की पृष्ठभूमि में उसके बौद्धिक विचारों के निष्कर्ष सदैव आत्म तुष्टि में भी निष्फल रहे हैं। जितनी ही अपनी स्पष्टता की उसने चेष्टा की उतना ही असफल रहा। परन्तु अमानुषिकता की मानवी प्रवृत्ति की उग्रता देखने के लिए चारों ओर से बौद्धिक-हृदय और सत्य की जब आँखें खुलीं, तब स्वतः वह स्पष्ट हो गया, अधिक खुल गया। मानवता के प्रचार के लिए सब कुछ करना उसे इष्ट हो गया।

इस मानवता के प्रचार के मूल में सामाजिकता की आबद्धता थी। जागरुकता, अनिवार्य सिद्ध हुई। परन्तु समाज सुधार के लिए बाह्य उपकरणों को सुधार लेना उसे अस्वीकार था। समाजवाद के लिए क्रान्ति लाना अच्छा प्रतीत हुआ, किन्तु उस क्रान्ति का रूप रूस की सामाजिक प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। भारतीय गान्धीवाद से प्रभावित साम्यवाद से अनुप्राणित समाजवाद की स्थापना के लिए भारतीयता के अनुरूप क्रान्ति करने के पक्ष में कवि है।

पूँजीवाद के प्रति उसका असन्तोष की भावना उग्र थी, दलितों, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति थी। सामयिकता की चिन्ता में कभी अस्वाभाविकता

---

*मानव की भूमिका से।

नहीं आ सकी है। जो कुछ व्यक्त हुआ, सत्य और स्पष्ट और अस्वाभाविकता और प्रवञ्चना का तनिक भी प्रश्रय नहीं लिया गया। समाजवाद का आन्दोलन भाव मानव की कविताओं में नहीं आया है, साहित्यिक वातावरण में ही उनकी संस्थिति है। प्रगतिवाद के वास्तविक अर्थ को कवि ने व्यावहारिक रूप दिया है। जन-जीवन के अभाव और पीड़ा को व्यक्त करने के निमित्त बाह्य साहश्य की विधियों की ओर कवि आकृष्ट नहीं हुआ है।

जीवन को कर्म और कर्म को जीवन और संग्राम मानकर पीड़ितों को सजग करने की वाणियाँ संयत भाव से आगे बढ़ी हैं। जमीन्दारों को चूसने की प्रवृत्ति को इतना हेय सिद्ध किया है कि सहज ही में विमुखता आ जाती है। घृणा की भावना उग्र रहती है। प्रगतिवाद की वर्त्तमान भावनायें भी मानव में संग्रहीत हैं, परन्तु किसी की अनुकृति पर वे नहीं समाविष्ट हुई हैं। पूँजीवाद के साधकों की मनोवृत्ति अधिक स्पष्ट व्यक्त हुई हैं, मैं 'भैंसागाड़ी' राजा साहब का वायुयान 'विषमता' मानव आदि कवितायें अभिशप्त जीवों का हाहाकार क्रन्दन हैं। पूँजीवाद की नृशंसता से क्षुब्ध होकर इन कविताओं का सृजन हुआ। भैंसागाड़ी और विषमता में बड़ा बल, बड़ी सामर्थ्य है। विषमता की अन्तिम पंक्तियाँ संतप्त मानव को यह कहकर सन्तोष देती हैं कि :—

अपनी मानवता से आओ
हम उनकी पशुता को जीतें,
घृणित लाश वह आज कह गई
प्रेम घृणा के है ऊपर।*

भगवतीचरण वर्मा के प्रगतिवादी भावों की यह खास विशेषता है कि नग्नता छुपाई नहीं गई है, सत्य को स्पष्ट व्यक्त किया गया है; पर संयत, सुनिश्चित गति है, उसमें। रूढ़ियाँ, परम्परायें बहिष्कृत अवश्य हुई हैं, धर्म और ईश्वर की सत्ता कवि को अमान्य है, परन्तु उसकी समस्त बौद्धिक प्रेरणायें भारतीय ही हैं, इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती।

---

* मानव, पृ० ६४।